श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप

कलियुगपावन स्वभजन-विभजन प्रयोजनावतार
श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः परंपराप्राप्त वरम्
विश्वव्यापी श्रीहरेकृष्ण महामन्त्र प्रचारक प्रवर
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीश्रीमद्गुणवर जगद्गुरु
ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशत

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हिन्दी भाषान्तरकार
राजीव गुप्ता

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

न्यूयार्क-लास एन्जीलीस-लन्दन-बम्बई

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु मे रुचिवान् पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ अपने निम्नलिखित भारतीय केन्द्रों मे सम्पर्क तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित करता है

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

१ हरे कृष्ण लैण्ड, जुहू, बम्बई — ४०००४९
२ २१/ए, फिरोज गांधी रोड, नई दिल्ली — ११००२४
३ श्रीकृष्ण बलराम-मन्दिर भक्तिवेदान्त स्वामी मार्ग, रमणरेती वृन्दावन, (मथुरा उ प) दूरभाष १७८
४ हरे कृष्ण लैण्ड, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद — ५००००१। (आ प्र)
५ इस्कोन, हरे कृष्ण लैण्ड, दक्षिण मार्ग, न ५६६ सेक्टर, ३६-बी चण्डीगढ़ (पंजाब)
६ ७, कैलाश सोसाइटी, आश्रम रोड अहमदाबाद (गुजरात)
७ ३४/१ ९वी क्रॉस चोर्ड रोड, राजाजी नगर, दूसरा स्टेज, बेंगलोर-५६० ०१०
८ ३ एल्बर्ट रोड, कलकत्ता — ७०००१७ (प बंगाल)
९ श्रीमायापुर चन्द्रोदय मन्दिर, पो श्रीमायापुर धाम (नदिया, प बंगाल)

प्रथम संस्करण सन अक्तूबर १९८१ प्रतियां ५०००

मुद्रक - ट्रायफ्क प्रेस, बोरवाणी इन्डस्ट्रीअल ऍस्टेट कंपाऊंड, गोरेगांव, मुंबई न. ४०० ०६३

प्रकाशक : श्री गोपाल कृष्ण दास गोस्वामी महाराज, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, हरेकृष्ण धाम जुहू, बंबई ४०० ०४९.

समर्पण

वेदान्त दर्शन पर गोविन्द भाष्य के प्रणेता

श्रील बलदेव विद्याभूषण

को

अनुक्रमणिका

उपक्रमणिका	क
अन्तर्दर्शन	१
प्रथमोऽध्याय **अर्जुनविषादयोग**	२६
द्वितीयोऽध्याय **सांख्ययोग**	५१
तृतीयोऽध्याय **कर्मयोग**	८१
चतुर्थोऽध्याय **ज्ञानकर्मसंन्यासयोग**	११५
पञ्चमोऽध्याय **कर्मसंन्यासयोग**	१४३
षष्ठोऽध्याय **ध्यानयोग**	१६१
सप्तमोऽध्याय **ज्ञानविज्ञानयोग**	१८५
अष्टमोऽध्याय **अक्षरब्रह्मयोग**	२१३
नवमोऽध्याय **राजविद्याराजगुह्ययोग**	२२७
दशमोऽध्याय **विभूतियोग**	२४७
एकादशोऽध्याय **विश्वरूपदर्शनयोग**	२७१

द्वादशोऽध्याय
भक्तियोग २९७

त्रयोदशोऽध्याय
प्रकृतिपुरुषविवेकयोग ३११

चतुर्दशोऽध्याय
गुणत्रयविभागयोग ३३३

पञ्चदशोऽध्याय
पुरुषोत्तमयोग ३४७

षोडशोऽध्याय
दैवासुरसम्पद्विभागयोग ३६३

सप्तदशोऽध्याय
श्रद्धात्रयविभागयोग ३८१

अष्टदशोऽध्याय
मोक्षसंन्यासयोग ३९५

भक्तिवेदान्त चरितामृत ४२९

उपक्रमणिका

मूलरूप में मैंने 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' को इसी बृहद् आकार में लिखा था। परन्तु प्रकाशन के समय मूल पाण्डुलिपि को चार सौ से भी कम पृष्ठों तक सीमित करना पड़ा, जिससे श्रीमद्भगवद्गीता के अधिकांश मूल श्लोकों की व्याख्या उस संस्करण में नहीं आ सकी। 'श्रीमद्भागवत','श्रीईशोपनिषद्','श्रीचैतन्य चरितामृत' आदि मेरे अन्य सभी ग्रन्थों में मूल श्लोकों के साथ उनका अन्वय, अनुवाद तथा विशद व्याख्या रहती है। इस विधि से ग्रन्थ बड़ा प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण बन जाता है तथा अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः अपनी मूल पाण्डुलिपि की काट-छाँट से मैं प्रसन्न नहीं था। बाद में, 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' की लोकप्रियता बहुत बढ़ जाने पर विद्वानों और भक्तों ने आग्रह किया कि मैं ग्रन्थ को उसके मूल बृहद् रूप में प्रस्तुत करूँ तथा मैकमिलन एण्ड कं० सम्पूर्ण संस्करण के प्रकाशन के लिए सहमत हो गए। अतएव इस महान् ज्ञान-शास्त्र की पूरी 'परम्परा व्याख्या' को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे कृष्णभावनामृत आन्दोलन उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ आधार पर स्थापित हो।

हमारा 'कृष्णभावनामृत आन्दोलन' प्रामाणिक, ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकृत, स्वाभाविक तथा दिव्य है, क्योंकि इसका आधार श्रीमद्भगवद्गीता है। यह शनै-शनैः सम्पूर्ण विश्व में, विशेष रूप से, तरुणवर्ग में सबसे अधिक लोकप्रिय आन्दोलन का स्थान पाता जा रहा है। यही नहीं, प्रौढ़ वर्ग भी अब इसमें रुचि लेने लगा है। यहाँ तक कि मेरे शिष्यों के पिता, पितामह, आदि हमारे महान् संघ—अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के आजीवन सदस्य बनकर हमें प्रोत्साहित कर रहे हैं। जब मैं लॉस एंजिलिस में था तो बहुत से माता-पिता संपूर्ण विश्व में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का संचालन करने के लिए मुझे धन्यवाद देने आते थे। उनमें से कुछ का उद्गार था कि यह अमरीकी जनता का सौभाग्य है कि मैंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रवर्तन अमरीका में किया। परन्तु वास्तव में इस आन्दोलन के आदि-पिता भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं हैं। उनसे अतीत काल में प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन शिष्य-परंपरा के द्वारा मानव-समाज में चला आ रहा है। यदि इस सम्बन्ध में मुझे कुछ सफलता मिली है, तो उसका श्रेय स्वयं मुझको नहीं, वरन् मेरे शाश्वत् गुरु, कृष्णकृपाविग्रह ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज प्रभुपाद को है।

इस सन्दर्भ में यदि मुझको कुछ श्रेय है, तो बस इतना ही कि मैंने श्रीमद्भगवद्गीता को विकृत किए बिना, यथार्थ रूप में (यथारूप— As it is) प्रस्तुत किया है। इस 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' संस्करण से पूर्व गीता के जितने भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनमें से प्रायः सभी किसी न किसी की स्वार्थ-पूर्ति के लिए लक्षित थे। परन्तु 'श्रीमद्भगवद्गीता' को प्रकाशित करने में हमारा एकमात्र लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण के संदेश को प्रस्तुत करना है। हमारा काम श्रीकृष्ण की इच्छा को प्रकट करना है, यह राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि लौकिक विद्वानों की मनोधर्मी के समान नहीं है, क्योंकि नाना प्रकार के ज्ञान से युक्त होने पर भी उनमें श्रीकृष्ण के ज्ञान का प्रायः अभाव ही रहता है। जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि, **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्कुरु**, इत्यादि तो ये नाममात्र के विद्वान् कहते हैं कि श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरात्मा में भेद है। परन्तु हम ऐसा नहीं कहते। श्रीकृष्ण अद्वय-तत्त्व हैं, उनके नाम, रूप, दिव्य गुण, लीला आदि में कोई भेद नहीं है। जो मनुष्य परम्परा के अनुसार कृष्णभक्त नहीं है, उसके लिए श्रीकृष्ण के इस अद्वय-तत्त्व को जान पाना कठिन होगा। सामान्यतः देखा गया है कि नामधारी विद्वान्, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा स्वामी आदि जो श्रीकृष्ण के पूर्ण तत्त्वज्ञान से रहित हैं, भगवद्गीता पर भाष्य रचना करने के रूप में श्रीकृष्ण के अस्तित्व को ही समाप्त कर देने का प्रयत्न करते हैं। भगवद्गीता के ऐसे अप्रामाणिक भाष्यों को मायावादी भाष्य कहा जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हमें इन अप्रामाणिक व्याख्याकारों से सचेत किया है। उनकी वाणी है कि जो कोई भी गीता को मायावादी मत के अनुसार समझने का प्रयत्न करेगा, वह महान् अपराध कर बैठेगा। गीता का ऐसा भ्रान्त विद्यार्थी परमार्थ के पथ में निश्चित रूप से मोहित हो जाता है और अपने घर—भगवद्धाम को नहीं जा पाता।

हमारा एकमात्र प्रयोजन श्रीमद्भगवद्गीता को यथारूप (As it is) प्रस्तुत करना है, जिससे बद्ध जीव का उसी लक्ष्य की ओर मार्गदर्शन हो सके, जिसके लिए ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में, अर्थात् ८,६०,००,००,००० वर्षों के कल्प में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अवतरित होते हैं। इस प्रयोजन का गीता में उल्लेख है और हमें इसे उसी रूप में (यथारूप) ग्रहण करना है। अन्यथा, भगवद्गीता और उसके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने के लिए साधन करना व्यर्थ होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता सर्वप्रथम सूर्यदेव को करोड़ों वर्ष पूर्व सुनाई थी। इस सत्य को स्वीकार कर तथा श्रीकृष्ण के प्रमाण के आधार पर अर्थ का अनर्थ किए बिना गीता के ऐतिहासिक माहात्म्य को समझ लेना चाहिए। श्रीकृष्ण की इच्छा के विरुद्ध गीता का अर्थ करना महान् अपराध है। इससे अपनी रक्षा के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, जैसा उनके प्रथम शिष्य अर्जुन ने स्वयं उनसे जाना था। गीता का ऐसा ज्ञान ही यथार्थ में मानव समाज के कल्याण-कार्य के लिए श्रेयस्कर तथा प्रामाणिक है, मानव जीवन की सार्थकता वस्तुतः इसी में है।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन जीवन की परम संसिद्धि प्राप्त कराता है, इसलिए यह

मानव समाज के लिए अनिवार्य है। भगवद्गीता में इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन है। दुर्भाग्यवश, प्रापञ्चिक वाग्चातुरी करने वाले मूढ़ गीता की आड़ में अपनी आसुरी प्रवृत्ति को ही उभारते हैं, जिससे अबोध जनता जीवन के सामान्य नियमों के यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य के लिए भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा और जीव के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। उसे यह बोध होना चाहिए कि जीव स्वरूपतः नित्य दास है, अतः यदि वह श्रीकृष्ण की सेवा नहीं करेगा तो नाना रूपों में त्रिगुणमयी माया की सेवा करनी पड़ेगी, जिससे जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहेगा। यहाँ तक कि अपने को मुक्त समझनेवाला मायावादी ज्ञानी भी वास्तव में इस आवागमन से नहीं छूट पाता। अस्तु, श्रीभगवान् की महिमा और जीव के स्वरूप का यह ज्ञान परमोच्च विज्ञान है तथा इसका श्रवण करना जीव के अपने हित में है।

इस कलियुग में लोग सामान्य रूप से श्रीकृष्ण की बहिरंगा मायाशक्ति से मोहित रहते हैं और भ्रमवश समझते हैं कि भौतिक सुख-सुविधा की उन्नति से वे सुखी हो जायेंगे। वे नहीं जानते कि माया बड़ी बलवान् है, जीवमात्र उसके दुस्तर नियमों में बँधा हुआ है। जीव का सुख श्रीभगवान् के भिन्न-अंश के रूप में ही है। उसका स्वरूपधर्म यही है कि बिना विलम्ब श्रीभगवान् की सेवा के परायण हो जाय। माया के वशीभूत हुआ जीव नाना प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तृप्त करके सुखी होने का प्रयत्न करता है, परन्तु वास्तव में इस प्रकार वह कभी सुखी नहीं हो सकता। अपनी प्राकृत इन्द्रियों को तृप्त करने के स्थान पर श्रीभगवान् की इन्द्रियों को तृप्त करना चाहिए। यही जीवन की परमोच्च सफलता है। श्रीभगवान् ऐसा आग्रहपूर्वक चाहते हैं। मानव को श्रीमद्भगवद्गीता के इस केन्द्रबिन्दु को भलीभाँति समझना है। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व को इसी केन्द्रबिन्दु की शिक्षा दे रहा है। हम भगवद्गीता की आत्मा को दूषित नहीं करते, इसलिए जो कोई भगवद्गीता के अध्ययन से यथार्थ श्रेय-प्राप्ति का अभिलाषी हो, वह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में गीता का आचरणीय ज्ञान पाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का आश्रय अवश्य ले। हमें आशा है कि हमारे द्वारा प्रस्तुत *'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप'* का अध्ययन करने से जनता का परम कल्याण होगा। इससे यदि एक भी मनुष्य शुद्ध भगवद्भक्त बना, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी

१२ मई, १९५०
सिडनी, आस्ट्रेलिया

अन्तर्दर्शन

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्।।

मेरा जन्म अज्ञान रूपी अन्धकार में हुआ था, परन्तु करुणानिधान गुरुदेव ने ज्ञान-प्रकाश द्वारा मेरे नेत्रों को खोल दिया। मैं उनकी सादर वन्दना करता हूँ।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की आकांक्षा-पूर्ति के लिए जिन्होंने संसार में हरे कृष्ण आन्दोलन को स्थापित किया है, वे श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद अपने चरणारविन्द का आश्रय मुझे कब प्रदान करेंगे?

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च।
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम्।।

साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं।
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च।।

मैं अपने गुरुदेव तथा सम्पूर्ण वैष्णववृन्द के पादपद्मों की आदरसहित वन्दना करता हूँ। श्रील रूप गोस्वामी, उनके अग्रज सनातन गोस्वामी, और रघुनाथ दास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट तथा जीव गोस्वामी की भी सादर वन्दना करता हूँ, सविनय श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा अद्वैतआचार्य, गदाधर, श्रीवासादि पार्षदों की वन्दना करता हूँ और अत में श्रीललिता, श्रीविशाखा आदि सखियों के सहित श्री श्रीराधाकृष्ण की वन्दना करता हूँ।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते।।

हे कृष्ण! हे करुणासिन्धु! हे दीनबन्धु! हे जगत्पति! हे गोपेश! हे गोपिकाकान्त! हे राधाकान्त! मै आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तप्तकाञ्चन गौरांगी राधे वृन्दावनेश्वरी।
वृषभानुसुते देवी प्रणमामि हरिप्रिये।।

तप्तकाञ्चन सुवर्णा वृन्दावनेश्वरी वृषभानुनन्दिनी कृष्णप्रिया श्रीमती राधारानी को सादर प्रणाम करता हूँ।

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः।।

श्रीभगवान् के वैष्णव भक्तों की वन्दना करता हूँ, जो सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने में कल्पतरु के समान समर्थ है तथा पतित जीवों के लिए अहैतुकी कृपा से ओतप्रोत है।

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द।
श्री अद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौर भक्तवृन्द।।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, प्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत, गदाधर, श्रीवास तथा अन्य सभी भक्तों की मैं सादर वन्दना करता हूँ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।

श्रीमद्भगवद्गीता को 'गीतोपनिषद्' भी कहा जाता है। यह सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की सर्वप्रधान उपनिषद् है, वस्तुत वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व ही है। गीता पर अनेक भाष्य उपलब्ध हैं। अतएव पाठक के हृदय में इस नवीन संस्करण के प्रयोजन-विषयक जिज्ञासा का उदय होना स्वाभाविक होगा। इस वर्तमान संस्करण का अभिप्राय इस प्रकार समझाया जा सकता है। कुछ दिन हुए एक सज्जन ने मुझ से आग्रह किया कि मैं भगवद्गीता के किसी अनुवाद का परामर्श दूँ। निस्सन्देह भगवद्गीता के अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, पर जहाँ तक मेरा अनुभव है, उनमें से किसी को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्राय किसी भी भाष्यकार ने भगवद्गीता की आत्मा को यथार्थ रूप में (यथारूप) प्रस्तुत नहीं किया है, वरन् सबने उस पर अपना निजी मत आरोपित किया है।

भगवद्गीता की आत्मा का निरूपण भगवद्गीता में ही है। वह इस प्रकार है किसी विशेष औषधी का सेवन उस पर लिखित आदेश के अनुसार ही किया जाता है। हम स्वेच्छा से अथवा मित्र के परामर्श पर उसे नहीं ले सकते। उस पर लिखी विधि अथवा चिकित्सक के निर्देशानुसार ही औषधी का सेवन करना होगा। इसी भाँति, भगवद्गीता को उसी प्रकार ग्रहण करना है, जैसा कि स्वय गीतागायक ने उसका प्रवचन किया है। भगवद्गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण है। उन्हें भगवद्गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर भगवान् कहा गया है। निस्संदेह 'भगवान्' शब्द कभी-कभी शक्तिशाली महापुरुष अथवा देवता के लिए भी प्रयुक्त होता है। गीता में 'भगवान् शब्द श्रीकृष्ण को महापुरुष तो घोषित करता ही है, परन्तु साथ में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् (आदिपुरुष) हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वैदिक ज्ञान के अन्य सभी आचार्यों ने इस सत्य को प्रमाणित किया है। श्रीकृष्ण ने भी गीता में अपने को परात्पर परमेश्वर, परब्रह्म भगवान् घोषित किया है। ब्रह्मसंहिता तथा सभी पुराणों ने, विशेषत श्रीमद्भागवत ने उनकी परात्परता को एक स्वर से स्वीकार किया है—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। अतएव हम भगवद्गीता को उसी रूप में ग्रहण करें जिस रूप में श्रीभगवान् ने उसे कहा है।

गीता के चौथे अध्याय मे श्रीभगवान् ने कहा है—

> इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
> विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत।।
> एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः।
> स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।
> स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
> भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि इस योगपद्धति अर्थात् भगवद्गीता का प्रवचन उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव को किया। सूर्यदेव ने इसे मनु को सुनाया और

मनु ने इक्ष्वाकु को प्रदान किया। इस प्रकार शिष्यपरम्परा के अनुगामी आचार्यों के द्वारा यह 'योग' मानवसमाज में चला आता रहा। कालान्तर में, उस शिष्यपरम्परा के विशृंखलित हो जाने पर यह लुप्तप्राय हो गया। अतः श्रीभगवान् इसका पुनः प्रवचन कर रहे हैं और इस बार उनका श्रोता है, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में स्थित हुआ अर्जुन।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वे इस परम रहस्य को उसे इसीलिए सुना रहे हैं, क्योंकि वह उनका प्रिय भक्त एवं सखा है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता रूपी दर्शन विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिए कहा गया है। साधकों की ज्ञानी, योगी तथा भक्त —ये तीन कोटियाँ हैं। यहाँ श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा है कि गीता की पुरातन परम्परा विशृंखलित हो गयी है, अतएव वे उसे नूतन परम्परा का प्रथम श्रोता बना रहे हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् ऐसी नवीन परम्परा को स्थापित करना चाहते हैं, जो सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की अनुगामिनी हो। उनकी इच्छा है कि अर्जुन उनकी शिक्षा का पुनः प्रसार-प्रचार करे, अर्थात् भगवद्गीता-ज्ञान का अधिकृत आचार्य बन जाय। अस्तु, हम देखते हैं कि भगवद्गीता का उपदेश विशेष रूप से अर्जुन के लिए किया गया है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण का परम भक्त, आज्ञाकारी शिष्य तथा अन्तरंग सखा है। प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है कि वही मनुष्य गीता को उत्तम प्रकार से हृदयंगम कर सकता है, जो अर्जुन के समान गुणों से युक्त हो, अर्थात् भगवद्भक्त हो और जिसका श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध भी हो। भक्ति का उदय होते ही श्रीभगवान् से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। यह अति विशद तत्त्व है, किन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त और भगवान् में पाँच रसों में से किसी एक में सम्बन्ध रहता है। ये पाँच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।

अर्जुन और श्रीभगवान् में सखाभाव है। अवश्य ही, इस सख्यभाव और सांसारिक मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह एक ऐसी दिव्य मित्रता है, जिसकी प्राप्ति सब को नहीं हो सकती। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से एक विशिष्ट सम्बन्ध है, जो भक्ति की संसिद्धि होने पर जागृत हो जाता है। परन्तु साथ ही, यह भी सत्य है कि जीवन की वर्तमान अवस्था में श्रीभगवान् को ही नहीं, वरन् उनसे अपने नित्य सम्बन्ध की भी हमें विस्मृति हो गई है। कोटि-कोटि जीवों में से प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। इसे 'स्वरूप' कहा जाता है। भक्तियोग के द्वारा इस स्वरूप को पुनः जागृत किया जा सकता है। यही अवस्था 'स्वरूपसिद्धि' कहलाती है। अस्तु, अर्जुन भक्त है और सख्यभाव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्बन्ध भी है।

अर्जुन ने भगवद्गीता को किस प्रकार ग्रहण किया, यह ध्यान देने योग्य है। इसका उल्लेख दसवें अध्याय में है :

> अर्जुन उवाच।
> परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
> पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।

अर्जुन ने कहा, "प्रभो ! आप परमब्रह्म, परमधाम, पावन परम सत्य और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि आप का इसी प्रकार गुणगान करते हैं और अब आप स्वयं भी मेरे प्रति इस तत्त्व का वर्णन कर रहे हैं। हे कृष्ण ! आपने जो कुछ भी कहा है, इसे मैं सम्पूर्ण रूप से सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आपके स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं। (गीता १०।१२-१४)

भगवान् श्रीकृष्ण से भगवद्गीता का श्रवण करके अर्जुन ने उन्हें परमब्रह्म स्वीकार किया है। जीव ब्रह्म है और श्रीभगवान् परमब्रह्म हैं। परमधाम का अर्थ है कि वे सम्पूर्ण जगत् के परम आश्रय हैं; पवित्रम्: सांसारिक उपाधियों से मुक्त हैं; पुरुषम्: सबके परम-भोक्ता हैं; दिव्यम्: लोकोत्तर हैं; आदिदेवम्: स्वयं भगवान् हैं; अजम्: अजन्मा है; विभुम्: सर्वव्यापी परात्पर हैं।

कोई कह सकता है कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह सब चाटुकारी के रूप में कहा, क्योंकि वे उसके सखा थे। अतः भगवद्गीता के पाठकों के हृदय से इस संशय को निर्मूल करने के लिये अर्जुन ने इस स्तुति को प्रमाणित करते हुए अगले ही श्लोक में कह दिया कि केवल वह श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानता हो—ऐसा नहीं। अपितु, नारद, असित, देवल, व्यासदेव आदि सब प्रामाणिक ऋषियों का भी यही मन्तव्य है। इन महापुरुषों का मत सर्वमान्य है, क्योंकि ये उस वैदिक ज्ञान को प्रसारित करते हैं, जो सब आचार्यों द्वारा सम्मत है। इस आधार पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह उसे पूर्ण रूप से सत्य मानता है। सर्वमेतदृतं मन्ये. 'आप जो कुछ भी कहते हैं, मैं उसे सत्य मानता हूँ।' अर्जुन ने यह भी कहा कि श्रीभगवान् का स्वरूप परम दुर्बोध है, बड़े से बड़ा देवता तक उन्हें जानने में समर्थ नहीं है। जब मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी तक उन्हें नहीं जान सकते, फिर वह मनुष्य श्रीकृष्ण को किस प्रकार जान सकेगा, जो उनका भक्त न हो ?

भाव यह है कि भगवद्गीता को भक्तिभाव से ही ग्रहण करना है। श्रीकृष्ण को अपने समान अथवा साधारण मनुष्य मानना तो दूर, केवल महापुरुष भी नहीं समझना चाहिए। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं—भगवद्गीता में आए श्रीभगवान् के वचनों से तथा गीता के जिज्ञासु अर्जुन के वचनों से यह सत्य कम-से-कम सिद्धान्त रूप में तो सिद्ध होता ही है। अतएव हम भी श्रीकृष्ण को सिद्धान्त रूप में तो भगवान् स्वीकार कर ही लें। इस दैन्यभाव से हमें भगवद्गीता का बोध हो जायगा। इसके बिना भगवद्गीता का अध्ययन करने पर भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह परम रहस्यमय (मर्म का विषय) है।

भगवद्गीता वस्तुतः क्या है? अज्ञानरूप भव-सागर से सम्पूर्ण मानवता का उद्धार करना ही भगवद्गीता का प्रयोजन है। सब मनुष्य नाना प्रकार से कष्ट भोग रहे हैं। अर्जुन भी कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में मनोव्यथा को प्राप्त हो रहा था। किन्तु वह श्रीकृष्ण के शरणागत हो गया, जिससे इस भगवद्गीता शास्त्र का प्रवचन हुआ। अर्जुन की भाँति हम सब भी इस भव-सागर में सदा उद्विग्नता से पूर्ण रहते हैं। यहाँ तो हमारी सत्ता ही असत् परिस्थिति में उपाधिबद्ध हो गई है। वास्तव में हमारा अस्तित्व नित्य है। किन्तु जिस किसी कारणवश हमें 'असत्' में डाल दिया गया है। जो वस्तुतः नहीं है, उसे ही 'असत्' कहते हैं।

इस प्रकार दुःख भोगते हुए कोटि-कोटि मनुष्यों में कुछ इने-गिने विवेकी ही यह जिज्ञासा करते हैं कि हम कौन हैं? किस कारण से हम इस प्रकार दुःख भोग रहे हैं? इत्यादि। जब तक दुःख के कारण की जिज्ञासा नहीं होती, जब तक यह अनुभूति नहीं होती कि वास्तव में वह (जीव) दुःख भोगना कभी नहीं चाहता, अपितु सम्पूर्ण दुःखों से सदा के लिये मुक्ति ही चाहता है, तब तक तो उसे यथार्थ में मनुष्य ही नहीं कहा जा सकता। चित्त में यह जिज्ञासा उठने पर मानवजीवन का प्रारम्भ होता है। 'ब्रह्मसूत्र' में इसे 'ब्रह्मजिज्ञासा' कहा है। जब तक मनुष्य भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा नहीं करता, तब तक उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ व्यर्थ हैं। अतः जिनके हृदय में इस जिज्ञासा का उद्भाव हो चुका है कि हम दुःख किस कारण से भोगते हैं? हम कहाँ से आये हैं और मृत्यु के बाद कहाँ जायेंगे?—वे ही भगवद्गीता की शिक्षा के यथार्थ अधिकारी हैं। यथार्थ शिष्य में श्रीभगवान् के प्रति सुदृढ़ आदरभाव का होना आवश्यक है। अर्जुन ठीक इसी कोटि का शिष्य है।

जब-जब मनुष्य को जीवन के यथार्थ लक्ष्य की विस्मृति हो जाती है, तो भगवान् श्रीकृष्ण उसकी स्थापना के लिए विशेष रूप से अवतार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार जागृत हुए अनेक-अनेक मनुष्यो मे से भी कोई एक ही स्वरूपज्ञान के रहस्य में यथार्थ रूप में प्रवेश कर पाता है। उसी के लिए इस भगवद्गीता का गान किया गया है,क्योंकि वही गीता-ज्ञान का यथार्थ अधिकारी है। अज्ञान-रूपी सिंह वस्तुतः हम सभी के पीछे लगा हुआ है। किन्तु श्रीभगवान् जीवों पर, विशेषतः मनुष्यों पर बड़े कृपामय हैं। इसी कृपा से प्रेरित हुए उन पुरुषोत्तम ने सखा अर्जुन को अपना शिष्य बनाकर भगवद्गीता का गान किया है।

श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होने के कारण अर्जुन अज्ञान से पूर्ण रूप में मुक्त था। परन्तु कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में वह उनसे अज्ञानी की भाँति जीवन के दुःखों के विषय में प्रश्न करने लगा, जिससे श्रीकृष्ण आगे होने वाले मनुष्यों के लाभ के लिए उनका समाधान करें तथा यथार्थ जीवन का दिग्दर्शन करायें। श्रीभगवान् के आज्ञानुसार कर्म करने से ही मानवजीवन कृतार्थ हो सकता है।

श्रीभगवद्गीता-ज्ञान में पाँच मूल तत्त्वों का समावेश है। सर्वप्रथम भगवत्-तत्त्व का और दूसरे जीवों के स्वरूप का प्रतिपादन है। ईश्वर सब का नियंता है, जबकि

जीव उसके द्वारा नियन्त्रित हैं। पराधीन होते हुए भी जो जीव अपने को स्वतन्त्र कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है। कम से कम बद्धावस्था में तो जीव प्रत्यक्ष रूप से सर्वथा परतन्त्र ही है। अतएव भगवद्गीता में दोनों, ईश्वर-तत्त्व का और जीव-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। साथ में, प्रकृति, काल और कर्म का भी इसमें विवेचन है। ब्रह्माण्डीय सृष्टि नाना प्रकार की क्रियाओं से परिपूर्ण है। जीव भाँतिभाँति के कर्म कर रहे हैं। भगवद्गीता से हमें जानना है कि ईश्वर-तत्त्व क्या है? जीव-तत्त्व क्या है? प्रकृति क्या है? ब्रह्माण्डीय सृष्टि क्या है और किस प्रकार काल द्वारा नियन्त्रित है? तथा जीवों के कर्मों का स्वरूप क्या है?

भगवद्गीता में स्थापित किया गया है कि पाँच प्रतिपाद्य तत्त्वों में भगवान् श्रीकृष्ण अथवा परमब्रह्म अथवा परमेश्वर अथवा परमात्मा सर्वप्रधान हैं। यह सत्य है कि परमेश्वर और जीव समान चिद्गुणों वाले हैं। उदाहरणार्थ जैसा गीता के अनुवर्ती अध्यायों में कहा गया है, श्रीभगवान् संसार, प्रकृति आदि के नियन्ता हैं। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है; वह श्रीभगवान् के नियन्त्रण में क्रिया करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है, 'प्रकृति मेरी ही अध्यक्षता में कार्य करती है।' अपरा प्रकृति में अद्भुत घटनाओं को घटित होते देखकर हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस सब के पीछे एक ईश्वर (नियन्ता) अवश्य है। कोई भी वस्तु बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं हो सकती। अत: नियन्ता को भुला देना बालोचित प्रमाद ही होगा। किसी पशु-बल के बिना चलने वाला स्वचालित यन्त्र एक शिशु के लिये विस्मयकारी हो सकता है, पर बुद्धिमान् उसकी संरचना को जानता है कि वाहन के पीछे एक मनुष्य चालक का हाथ है। इसी प्रकार श्रीभगवान् एक ऐसे चालक हैं जिनके निर्देश में सब कार्य कर रहे हैं। गीता में श्रीभगवान् ने जीव को अपना अंश कहा है। स्वर्ण का एक कण भी स्वर्ण ही है और सागर का एक बूंद जल भी खारा होता है। इस न्याय के अनुसार, परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हम जीवों में भी उनके समान गुण हैं, किन्तु हममें इन गुणों का अति अल्प अंश ही विद्यमान है, क्योंकि हम लघु ईश्वर हैं। हम प्रकृति पर प्रभुत्व के लिए प्रयत्नशील हैं, जैसे वर्तमान में अन्तरिक्ष तथा ग्रहों पर आधिपत्य करने का प्रयास चल रहा है। यह प्रवृत्ति मूल रूप से श्रीकृष्ण में है और इसीलिए हममें भी है। माया पर प्रभुत्व करने की इस प्रवृत्ति के होते हुए भी हम यह जान लें कि हम परमेश्वर नहीं हैं। भगवद्गीता यही सिखाती है।

भौतिक प्रकृति क्या है? भगवद्गीता में इसे 'अपरा' प्रकृति कहा गया है। जीवतत्त्व 'परा प्रकृति' है। प्रकृति परा हो अथवा अपरा, वह नित्य परमेश्वर के आधीन है। 'प्रकृति' स्त्रीलिंग है तथा श्रीभगवान् के द्वारा उसी भाँति नियन्त्रित है, जैसे पत्नी की क्रियाओं का पति नियन्ता होता है। प्रकृति नित्य श्रीभगवान् के आधीन रहती है, जो उसके अध्यक्ष हैं। इस प्रकार परा (जीव) तथा अपरा, दोनों ही प्रकृतियाँ श्रीभगवान् के आधीन हैं। गीता के अनुसार श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होते हुए भी जीव 'प्रकृति' की कोटि में आते हैं। सातवें अध्याय के श्लोक पाँच में स्पष्ट उल्लेख

है—**अपरेयमितस्त्वन्यां**—'यह मेरी अपरा प्रकृति है।' **प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।** 'इससे परे मेरी एक अन्य जीवरूपा प्रकृति भी है।'

प्रकृति 'सत्त्व, रज और तम'—इन तीन गुणों से रचित है। इन त्रिविध गुणों से परे शाश्वत् कालतत्त्व है, जिसके नियन्त्रण और अध्यक्षता में गुणों के संघटन से कर्म की अभिव्यक्ति होती है। कर्म अनादिकाल से किया जा रहा है और हम सभी अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ जो मनुष्य अथक परिश्रम और बुद्धिमत्ता से धन-संचय कर लेता है, वह सुख भोगता है, जबकि सम्पूर्ण धन खो बैठने वाला दुःख उठाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम इसी भाँति अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। इस का नाम 'कर्मतत्त्व' है।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, शाश्वत् काल तथा कर्म—इन सब तत्त्वों का गीता में विशद विवेचन हुआ है। इनमें से ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल नित्य हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति अस्थायी हो सकती है, परन्तु वह मिथ्या नहीं है। कतिपय दार्शनिकों का कथन है कि प्रकृति की अभिव्यक्ति मिथ्या है; पर भगवद्गीता का अथवा वैष्णवों का दर्शन ऐसा नहीं मानता। संसार की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं माना जाता। वह सत्य अवश्य है, किन्तु साथ ही अस्थायी भी। इसकी तुलना आकाशगामी मेघ अथवा अन्न-पोषिका वर्षा ऋतु से की जाती है। जैसे ही वर्षा ऋतु व्यतीत हो जाती है अथवा मेघ चले जाते हैं, वर्षा से पोषित हुआ धान्य पुनः सूख जाता है। इसी प्रकार यह प्राकृत सृष्टि यथासमय प्रकट होती है, कुछ काल तक विद्यमान रहती है और समय होने पर पुनः विलुप्त हो जाती है। प्रकृति का कार्य ऐसा ही है। परन्तु यह चक्र नित्य भ्रमायमान् है। अतः प्रकृति को नित्य कहा है, मिथ्या नहीं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है, ''यह मेरी प्रकृति है।'' यह अपरा प्रकृति श्रीभगवान् की भिन्ना शक्ति है। जीव भी श्रीभगवान् की शक्ति हैं; किन्तु वे अलग नहीं हैं, श्रीभगवान् से उनका नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल—इन सब नित्य तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध है। पाँचवाँ तत्त्व—कर्म नित्य नहीं है। कर्मफल वस्तुतः अति पुरातन हो सकता है। हम अनादि काल से अपने शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोग रहे हैं, पर हममें उस को बदलने की सामर्थ्य भी है। यह हमारे ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर करता है। हम विविध कर्म कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन सम्पूर्ण क्रियाओं के शुभ-अशुभ फल से मुक्ति के लिए किस प्रकार की क्रिया करनी है, इसका ज्ञान हमें नहीं है। 'भगवद्गीता' में इसका भी वर्णन है।

परमेश्वर परम चेतन हैं और उनके भिन्न-अंश होने के कारण जीव भी चेतन है। यद्यपि जीव और माया दोनों को प्रकृति (भगवत्-शक्ति) कहा गया है, पर इनमें से केवल जीव चेतन है, अपरा प्रकृति चेतन नहीं। दोनों में यही भेद है। अतएव 'जीव प्रकृति' को 'परा' कहा जाता है। कहने का भाव यह है कि जीव श्रीभगवान् के सदृश चेतन है। ऐसा होने पर भी श्रीभगवान् परम चेतन हैं, जबकि जीव के लिए ऐसा

नहीं कहा जा सकता। मुक्ति (संसिद्धि) की किसी भी अवस्था में जीव परम-चेतन नहीं हो सकता। ऐसा कहने वाला मत निस्सन्देह भ्रान्त है। जीव चेतन तो है, किन्तु पूर्ण अथवा परम चेतन नहीं।

जीव और ईश्वर में भेद का विवेचन भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में किया गया है। श्रीभगवान् तथा जीव दोनों ही 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् चेतन हैं। दोनों में भेद यह है कि जीव व्यष्टि-चेतन हैं और श्रीभगवान् समष्टि-चेतन हैं। प्रकारान्तर से, जीव की चेतना एक देह तक सीमित है, जबकि श्रीभगवान् की चेतना सर्वव्यापी है। जीवमात्र के हृदय में बैठे होने से उन्हें जीवों की मानसिक वृत्ति का पूर्ण ज्ञान रहता है, इस तथ्य को स्मरण रखना चाहिए। यह भी कहा गया है कि जीव के हृदय में ईश्वर-रूप से स्थित परमात्मा स्वेच्छानुरूप कर्म करने के लिए जीव को निर्देश देते हैं। मायाबद्ध जीव को तो अपने कार्य कर्म की भी विस्मृति हो जाती है। पहले वह कुछ कर्म करने का निश्चय करता है और फिर अपने ही कर्म और कर्मफल में बँध जाता है। एक प्रकार का शरीर त्याग कर वह अन्य देह में प्रविष्ट होता है, उसी भाँति जैसे जीर्ण वस्त्रों को उतार कर नूतन परिधान धारण किया जाता है। इस विधि से देहान्तर करता हुआ जीवात्मा अपने पिछले कर्मफल को भोगता है। इन कर्मों का स्वरूप तभी बदला जा सकता है, जब वह सत्त्वगुण में स्थित होकर स्वस्थ चित्त से अपने लिए उपयुक्त कर्म का निश्चय कर ले। यदि वह ऐसा करे तो उसके विगत सम्पूर्ण कर्मों का फल बदला जा सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्मफल शाश्वत् (नित्य) नहीं है। इसीलिए हम कह आए हैं कि ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल नित्य तत्त्व हैं, जबकि कर्म नित्य नहीं है।

परम चेतन ईश्वर और जीव की समानता को इस प्रकार समझा जा सकता है। दोनों की चेतना दिव्य है। ऐसा नहीं कि चेतना का उद्भव जड़ प्रकृति के संग से होता है। यह विचार सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। भगवद्गीता इस मत को स्वीकार नहीं करती कि प्राकृतिक रसायनों के सम्मिश्रण की किसी विशिष्ट परिस्थिति में चेतना का उदय हुआ हो। किसी रंग के कांच में से प्रतिबिम्बित प्रकाश उसी वर्ण का प्रतीत होता है। माया आवरण के कारण जीव की चेतना तो इस प्रकार विकृत रूप से प्रतिबिम्बित हो सकती है, किन्तु श्रीभगवान् की चेतना माया से नहीं ढक सकती। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः**। उनके संसार में अवतरित होने पर भी उनकी चेतना माया से अतीत रहती है। यदि ऐसा नहीं होता तो वे दिव्य-तत्त्व का प्रवचन नहीं कर सकते, जैसे उन्होंने भगवद्गीता में किया है। वैकुण्ठ-जगत् का वर्णन वही कर सकता है, जिसकी चेतना माया-विकारों से मुक्त हो। अतः यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् माया-दोष से नित्य मुक्त हैं। इसके विपरीत, वर्तमान में हमारी चेतना माया आवरण से दूषित है। भगवद्गीता सिखाती है कि इसे शुद्ध करना है। जब यह चेतना शुद्ध हो जायेगी तो हमारे कर्म श्रीभगवान् की इच्छापूर्ति में ही तत्पर रहेंगे, जिसके परिणाम में हमें शाश्वत् सुख की प्राप्ति होगी।

यह नहीं कि सर्वथा निष्क्रिय हो जाना है। अपितु अपनी क्रियाओं का शुद्धिकरण करना होगा, शुद्ध क्रियाओं को ही 'भक्ति' कहते हैं। भक्तिमय कर्म साधारण क्रियाओं के समान प्रतीत हो सकते हैं, पर वास्तव में वे माया-दूषित नहीं होते। यह न जानने वाले अज्ञानी को भक्त और भगवान् भले ही साधारण मनुष्य के समान कर्म करते प्रतीत हों, परन्तु यह नितान्त सत्य है कि भक्तिमय कर्म माया के त्रिगुणों से बिल्कुल मुक्त एवं शुद्ध होते हैं। इससे हमें यह समझ लेने चाहिए कि वर्तमान अवस्था में हमारी चेतना माया-आवरण से दूषित है।

माया से दूषित अवस्था में ही जीव बद्ध (उपाधिग्रस्त) कहा जाता है। 'मैं प्रकृतिजन्य हूँ'—इस प्रकार का भ्रम विकृत मति से उत्पन्न होता है। यही मिथ्या अहंकार कहलाता है। जिसकी देह में आत्मबुद्धि है, वह अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता। जीव को देहात्मबुद्धि से मुक्त करने के लिये भगवद्गीता का गान किया गया है। भगवान् से इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने भी वह स्थिति ग्रहण की है। देहात्मबुद्धि से अवश्य मुक्त हो जाय, यह योगी का प्रथम कर्तव्य है। जो मुक्त होना चाहता है, उसे सबसे पहले यह सीखना है कि वह इस प्राकृत देह से भिन्न है। 'मुक्ति' का अर्थ है मोह से स्वतन्त्रता। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि इस प्राकृत-जगत् की मलिन-मति (मोह) से मुक्त होकर शुद्ध चेतन स्वरूप में फिर से स्थित हो जाना 'मुक्ति' है। भगवद्गीता के सम्पूर्ण उपदेश का उद्देश्य इसी शुद्ध चेतन स्वरूप को जागृत करना है। इसी कारण गीता के उपदेश को समाप्त करके श्रीकृष्ण अर्जुन से प्रश्न करते हैं कि उसकी चेतना मोह से मुक्त होकर शुद्ध हो गई अथवा नहीं? मोहरहित शुद्ध चेतना का अर्थ है श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना। यही शुद्ध चेतना का सार है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होने से हम में चेतना तो पहले से ही है, किन्तु माया के त्रिविध गुणों के सम्पर्क मे रहने से हम बँध जाते हैं। परमपुरुष श्रीभगवान् इस प्रकार कभी नहीं बँधते। परमेश्वर और बद्धजीव में यही अन्तर है।

यह चेतना क्या है ? इस चेतना का स्वरूप है, 'मैं हूँ'। मोहावस्था में 'मैं हूँ' का अर्थ है कि मैं माया का प्रभु हूँ, भोक्ता हूँ। प्रत्येक जीव अपने को प्राकृत-संसार का प्रभु तथा स्रष्टा समझता है, वास्तव में यह जगत का चक्र इसी कारण से चल रहा है। मोह के दो मनोवैज्ञानिक विभेद हैं, एक यह कि मैं स्रष्टा हूँ और दूसरा यह कि मैं भोक्ता हूँ। यथार्थ में श्रीभगवान् ही स्रष्टा और भोक्ता हैं, उनका भिन्न-अंश जीव स्रष्टा अथवा भोक्ता न होकर सहयोगी-मात्र है। वह वस्तुतः श्रीभगवान् द्वारा रचित है और उन्हीं के द्वारा भोगा जाता है। उदाहरणार्थ, संयन्त्र का अंग-प्रत्यंग सम्पूर्ण उपकरण के साथ सहयोग करता है। इसी प्रकार हाथ, पैर, नेत्र आदि शरीर के अंग स्वयं भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो एकमात्र उदर ही है। पैर चलते हैं, हाथ भोजन कराते हैं, दाँत चर्वण करते हैं तथा शरीर के अन्य अंग भी उदर-पूर्ति में तत्पर रहते हैं, क्योंकि उदर से सम्पूर्ण शारीरिक संरचना का परिपोषण होता है। इस कारण उदर को

ही सम्पूर्ण भोजन प्राप्त होता है। जड़ को सींचने से सम्पूर्ण वृक्ष का और उदर-पूर्ति से सम्पूर्ण शरीर का पोषण हो जाता है। यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सब अंग-प्रत्यंगों को उदर-पूर्ति करने में सहयोग करना होगा। इसी भाँति श्रीभगवान् स्रष्टा और भोक्ता हैं, अतएव उनके आश्रित हम सभी जीवों से अपेक्षित है कि हम उनके सन्तोष के लिए सहयोग करें। यदि हम ऐसा करें तो वस्तुतः हमें ही लाभ होगा, जैसे उदर में पहुँचे आहार से शरीर के अन्य सभी अंगों का पोषण होता है। हाथ की अंगुलियाँ स्वयं भोजन नहीं कर सकतीं। सृजन और भोक्तापन के केन्द्र परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जीव तो उनके सहयोगी मात्र हैं। वे सहयोग से भोगते हैं। परमेश्वर और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामी-सेवक जैसा है। स्वामी के पूर्ण सन्तुष्ट हो जाने से सेवक का सन्तोष अपने-आप हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि संसार को प्रकट करने वाले श्रीभगवान् की भाँति जीव भी प्राकृत-जगत् का स्रष्टा और भोक्ता बनना चाहता है, परन्तु श्रीभगवान् को प्रसन्न करने में ही उसका यथार्थ कल्याण सन्निहित है।

इस भगवद्गीता शास्त्र से हमें यह ज्ञात होता है कि पूर्ण तत्त्व में परमेश्वर, जीव, प्रकृति, महाकाल तथा कर्म का समावेश है। ग्रन्थ में इन सभी तत्त्वों का विवेचन है। इन सब तत्त्वों के पूर्ण समावेश से पूर्ण तत्त्व बना है, जो परम सत्य परब्रह्म है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परतत्त्व अथवा परम सत्य हैं। सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं की विविध शक्तियों का कार्य है। अस्तु, वे ही पूर्ण परतत्त्व (परब्रह्म) हैं।

गीता में निर्विशेष ब्रह्म को भी पूर्ण परतत्त्व श्रीकृष्ण के आश्रित बताया गया है। 'ब्रह्मसूत्र' में ब्रह्मतत्त्व का अधिक स्पष्ट विवरण है। वहाँ इसे सूर्य से निस्सृत किरणराशि की उपमा दी गई है। निर्विशेष ब्रह्म श्रीभगवान् की देदीप्यमान ज्योति है। बारहवें अध्याय में उल्लेख है कि निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा के ज्ञान से परम सत्य की केवल अपूर्ण अनुभूति होती है। वहाँ यह भी उल्लेख है कि भगवान् पुरुषोत्तम, निर्विशेष ब्रह्म और परमात्मा रूपी आंशिक तत्त्वानुभूति, इन दोनों से अतीत हैं। इसी से उन्हें सच्चिदानन्द-विग्रह कहा जाता है। 'ब्रह्मसंहिता' का प्रारम्भ इस प्रकार है, **ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्।।** श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण आदिपुरुष हैं। उनका श्रीविग्रह मूर्तिमान् सच्चिदानन्दघन है। निर्विशेष ब्रह्म-प्राप्ति से उनके 'सत्' अंश की अनुभूति होती है और परमात्मा स्वरूप के ज्ञान से 'चित्' अंश (शक्ति) की ही अनुभूति होती है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाने पर तो सच्चिदानन्द के सम्पूर्ण विग्रह का साक्षात्कार हो जाता है।

अल्पज्ञ मनुष्य परम सत्य को निराकार-निर्विशेष मानते हैं, जबकि यथार्थ में वे दिव्य पुरुष हैं, जैसा सम्पूर्ण वेदों से प्रमाणित है— **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना-नाम्।** जिस प्रकार हम सब जीवों का निजी शाश्वत् स्वरूप है, उसी प्रकार परम सत्य भी अन्ततः एक पुरुष-विशेष ही हैं। अतएव भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर

समस्त दिव्य तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। पूर्ण परात्पर तत्त्व निराकार नहीं है। यदि वे निराकार होते अथवा किसी अन्य तत्त्व से न्यून होते, तो उनकी पूर्ण परात्परता सिद्ध ही नहीं होती। पूर्ण परतत्त्व में उन सभी तत्त्वों का समावेश होना आवश्यक है, जो हमारे अनुभव में आते हों अथवा जो हमारे अनुभव से अतीत ही क्यों न हों। अन्यथा उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इससे सिद्ध है कि पूर्ण परतत्त्व श्रीभगवान् अमित शक्तियों से युक्त हैं।

श्रीकृष्ण विविध शक्तियों के साथ किस प्रकार क्रियाशील हैं, भगवद्गीता में इसका भी वर्णन है। जिसमें हम बद्ध हैं, वह प्राकृत-जगत् भी अपने में पूर्ण है; क्योंकि साख्य के अनुसार इसका सृजन चौबीस तत्त्वों से हुआ है। ये इस भाँति पूर्ण रूप से संगठित हैं कि इस जगत् के धारण-पोषण के लिए सम्पूर्ण आवश्यक पदार्थों का स्वयं निर्माण कर सकते हैं। अतः इसमें न तो कोई विजातीय तत्त्व क्रियाशील है और न ही कोई अभाव है। परम पूर्ण शक्ति के द्वारा निश्चित किया हुआ इस सृष्टि का एक नियत काल है, जिसके पूर्ण हो जाने पर पूर्ण तत्त्व की पूर्ण व्यवस्था से इस अनित्य सृष्टि का विनाश हो जाता है। जीवों को, जो अणु-अंश होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं, पूर्ण तत्त्व की प्राप्ति के लिए पूर्ण सुविधा प्रदान की गई है; पूर्ण तत्त्व के ज्ञान की अपूर्णता के कारण ही विविध प्रकार की अपूर्णताओं की प्रतीति होती है। अस्तु, भगवद्गीता में वैदिक विद्या के पूर्ण ज्ञान का समावेश है।

वैदिक ज्ञान सर्वथा पूर्ण और अमोघ (दोषमुक्त) है। वैष्णव उसे ऐसा ही मानते हैं। उदाहरणार्थ, स्मृति का विधान है कि यदि पशु-विष्टा का स्पर्श कर लिया जाय तो आत्मशुद्धि के लिए स्नान करना आवश्यक है। गोमय भी पशु-विष्टा है। परन्तु वैदिक शास्त्रों में गोमय को शुद्धिकारक माना गया है। यद्यपि इसमें विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वैदिक-विधान होने से यह मान्य है, इसे मानना वस्तुतः भूल न होगी। अब तो आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी सिद्ध हो चुका है कि गोमय में सारे कृमिनाशक गुण हैं। अतएव संशय-भ्रम से सर्वथा मुक्त होने के कारण वैदिक ज्ञान पूर्ण है। भगवद्गीता इसी वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व है।

वैदिक ज्ञान अनुसधान का विषय नहीं है। हमारा अनुसन्धानकार्य अपूर्ण (दोषयुक्त) है, क्योंकि जिन इन्द्रियों से हम अनुसन्धान करते हैं, वे स्वयं अपूर्ण तथा दोषयुक्त हैं। हमें पूर्ण ज्ञान को ग्रहण करना है, जो भगवद्गीता के अनुसार परम्परा से अवतरित होता है। यह परम्परा ही ज्ञान-प्राप्ति की यथार्थ स्रोत है, जो परमगुरु भगवान् से प्रारम्भ होकर अनुगामी आचार्यों के रूप में चली आ रही है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से गीतोपदेश सुनकर अर्जुन ने भी विरोध किये बिना उनके एक-एक वचन को स्वीकार किया है। भगवद्गीता के एक अंश को मानकर दूसरे को न मानने की स्वतन्त्रता किसी को भी प्राप्त नहीं है। हमें भगवद्गीता को मनमाने अर्थ लगाए बिना, उसके किसी भी अंश का बहिष्कार किये बिना, हठधर्मी के बिना यथारूप में ग्रहण करना है। गीता तो वास्तव में वैदिक ज्ञान का सर्वाधिक पूर्ण प्रतिपादन है। वैदिक ज्ञान

की प्राप्ति दिव्य स्रोतों से होती है। सर्वप्रथम स्वय श्रीभगवान् ने इसका प्रवचन किया था। श्रीभगवान् की वाणी साधारण मनुष्यों के समान नहीं है। साधारण मनुष्य भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (शठता) और करणापाटव (इन्द्रियों की अपूर्णता)—इन चार विकारों से दूषित रहते हैं। जिसमें ये चार दोष हों, वह तत्त्वज्ञान को शुद्ध रूप में प्रदान नही कर सकता।

वैदिक ज्ञान का प्रसार इस कोटि के दोषपूर्ण जीवो के द्वारा नही किया जाता। उसका सचार सर्वप्रथम आदिजीव ब्रह्मा के हृदय में किया गया था। ब्रह्माजी ने भगवान् से प्राप्त हुए इसी ज्ञान को शुद्ध रूप में अपने पुत्रों और शिष्यों में प्रचारित किया। श्रीभगवान् पूर्ण हैं; वे मायावश नहीं हो सकते। अतएव बुद्धिमानी से यह जान लेना चाहिए कि वे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के एकमात्र स्वामी हैं और वे ही आदि स्रष्टा हैं, अर्थात् ब्रह्मा तक के जन्मदाता हैं। इसी से ग्यारहवें अध्याय में श्रीभगवान् को 'प्रपितामह' कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मा जी को 'पितामह' कहा जाता है और श्रीकृष्ण उनके पिता हैं। अतएव किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार न समझे, उन्ही वस्तुओं को स्वीकार करे, जो जीवन धारण के लिये श्रीभगवान् द्वारा नियत हैं।

श्रीभगवान् के द्वारा हमारे लिये नियत की गई वस्तुओं का सदुपयोग हम किस विधि से करें, इसके अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं। भगवद्गीता में भी इसका वर्णन है। अर्जुन ने प्रारम्भ में यह निश्चय किया था कि वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में नहीं लड़ेगा। यह उसका अपना निर्णय था। एक बार तो उसने श्रीकृष्ण से स्पष्ट कह ही दिया कि स्वजनों का वध करने से प्राप्त राज्य को भोगना उसके लिए सम्भव नही है। अर्जुन का यह निर्णय देहात्मबुद्धि पर आधारित था, क्योंकि वह समझ रहा था कि वह स्वय देह है और भाई, भतीजे, साले, पितामह आदि देह के सम्बन्धी उसके बन्धु है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही वह इस प्रकार विचार कर रहा था। भगवद्गीता का प्रवचन इसी दृष्टिकोण को बदलने के लिए किया गया और अन्त मे अर्जुन ने श्रीभगवान् के मार्गदर्शन मे लड़ने का ही निश्चय किया। उसने कहा है, **करिष्ये वचनं तव**, 'मैं आपके वचनों का पालन करूँगा।'

मनुष्य इस संसार में शूकर के समान परिश्रम करने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। यह परम आवश्यक है कि इस मनुष्य योनि की महत्ता को जानकर वह पशु के समान निकृष्ट आचरण करना छोड़ दे। सम्पूर्ण वैदिकशास्त्रों में यह निर्देश है और इसी उपदेश का सार भगवद्गीता में निभृत है। वैदिक शास्त्र मनुष्य के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं। पशु पशु का वध कर देने पर भी पाप का भागी नहीं होता। किन्तु यदि मनुष्य अपनी असयमित रसना की तृप्ति के लिए किसी पशु की हत्या करे तो उसे प्राकृतिक नियम को तोड़ने का पाप अवश्य लगेगा। भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन प्रकार के होते हैं। आहार के भी सत्त्व, रज और तम—ये तीन भेद हैं। यह सब विशद रूप से वर्णन किया गया है, इसलिए यदि भगवद्गीता की शिक्षा का पर्याप्त

सदुपयोग किया जाय तो हमारा सम्पूर्ण जीवन शुद्ध हो जायगा और अन्त में उस परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी, जो इस प्राकृत आकाश से परे है।

उस लक्ष्य को 'सनातन धाम' अथवा 'शाश्वत् परव्योम' कहा जाता है। हम देखते हैं कि प्राकृत-जगत् में सब कुछ अनित्य और क्षणभंगुर है। यह जन्म लेता है, बढ़ता है, कुछ समय तक विद्यमान रहता है, कुछ उपसृजन करता है, क्षय होता है और अन्त में लुप्त हो जाता है। इस संसार का यही नियम है. चाहे हम अपने शरीर का उदाहरण लें, चाहे फल का अथवा किसी अन्य पदार्थ का। किन्तु एक अन्य लोक की जानकारी भी हमें है, जो इस जगत् से परे है। वह लोक एक अन्य प्रकृति से बना है, जो 'सनातन' अर्थात् नित्य है। पन्द्रहवें अध्याय में जीव को सनातन कहा गया है, श्रीभगवान् तो सनातन हैं ही। श्रीभगवान् से हमारा नित्यसिद्ध अन्तरंग सम्बन्ध है तथा चिद्गुणों में हम सब एक हैं—वह धाम सनातन है, श्रीभगवान् सनातन हैं तथा जीव भी सनातन है। अतएव जीव में उसके सनातन धर्म को पुन. जागृत करना ही सम्पूर्ण भगवद्गीता का ऐकान्तिक लक्ष्य है। इस समय हम क्षणिक रूप से विविध प्रकार के कर्मों में संलग्न हैं; किन्तु क्षणभंगुर क्रियाओं को त्याग कर श्रीभगवान् द्वारा निर्दिष्ट क्रिया करने से इन सभी कर्मों का परिशोधन हो जायगा। वस्तुतः वही हमारा शुद्ध जीवन है।

श्रीभगवान्, उनका दिव्य धाम और जीव—ये सब सनातन हैं तथा सनातन धाम में श्रीभगवान् और जीव का संग मानव जीवन की परम सार्थकता है। श्रीभगवान् अपने जीव-पुत्रों पर अशेष कृपा का परिवर्षण करते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा हैं, '**सर्वयोनिषु**'.. '**अहं बीजप्रदः पिता**', 'मैं सबका पिता हूँ। जीवों को कर्मानुसार विविध योनियों की प्राप्ति होती है। पर यहाँ श्रीभगवान् का उद्घोष है कि वे उन सब के पिता हैं। अतः इन सभी पतित, बद्ध जीवों के उद्धार के लिए अवतरित हो कर वे सनातन धाम की ओर उनका आह्वान करते हैं, जिससे उनके सनातन संग में वे सनातन जीव अपने सनातन स्वरूप को प्राप्त हो जाएँ। श्रीभगवान् स्वयं नाना अवतार लेते हैं अथवा बद्ध जीवों का उद्धार करने के लिए अपने अन्तरंग सेवकों को पुत्ररूप में भेजते हैं अथवा पार्षदों और आचार्यों को भेजते हैं।

वास्तव में 'सानतन धर्म' का तात्पर्य किसी साम्प्रदायिक पद्धति अथवा मत-मतान्तर से नहीं है। वह तो श्रीभगवान् से सम्बन्धित है और सनातन जीव का स्वरूपभूत सनातन कर्तव्य है। श्रीमद्रामानुजाचार्य के अनुसार 'सनातन' उसे कहते हैं जिसका आदि-अंत न हो। श्रील रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'सनातन धर्म' का आदि-अन्त नहीं है।

अंग्रेजी शब्द 'रिलिजन' का अर्थ 'सनातन धर्म' से भिन्न है। 'रिलिजन' का अर्थ विश्वास समझा जाता है और विश्वास बदल सकता है। जिस भी पद्धति में मनुष्य का विश्वास हो, उसे त्याग कर किसी अन्य पद्धति को अंगीकार कर लेने में वह स्वतन्त्र है। 'सनातन धर्म' तो यथार्थ में वह क्रिया है, जिसे बदला ही नहीं जा

सकता। उदाहरणार्थ, जल से रस तथा अग्नि से तेज को अलग नहीं किया जा सकता। इसी भाँति, जीव के सनातन धर्म को उससे अलग नहीं किया जा सकता। सनातन धर्म वस्तुतः जीव का नित्य स्वरूप ही है। अतएव श्री रामानुजाचार्य की प्रामाणिकता के आधार पर हम कह सकते हैं कि सनातन धर्म का आदि अथवा अन्त नहीं होता। इससे सिद्ध हो जाता है कि सनातन धर्म साम्प्रदायिक नहीं है, क्योंकि वह देश-काल की सीमाओं से मुक्त है। फिर भी विविध साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के अनुयायी भ्रमपूर्वक सनातन धर्म को भी साम्प्रदायिक मान बैठते हैं। परन्तु यदि आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में गम्भीर अन्तर्दृष्टि से इस विषय का विवेचन किया जाये तो यह सत्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि संसार के सब मनुष्यों के लिये ही नहीं, वरन् जगत् के सम्पूर्ण जीवों के लिये सनातन धर्म का प्रयोजन है।

सनातन धर्म से इतर सभी सम्प्रदायों (मतों) का आरम्भ विश्व-इतिहास से जाना जा सकता है। परन्तु सनातन धर्म के प्रवर्तन का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है, क्योंकि वह तो जीव में नित्य रहता है। जीव के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है कि वह जन्म-मृत्यु से मुक्त है। गीता में भी उसे अजन्मा और नित्य कहा है। जीव सनातन तथा अविनाशी है, क्षणभगुर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है। 'सनातन धर्म' के स्वरूप को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिये हमे 'धर्म' शब्द के धातुमूल को देखना चाहिए। 'धर्म' का अर्थ है, 'वह गुण जो किसी वस्तु के साथ नित्य बना रहता है।' अग्नि के साथ तेज और प्रकाश नित्य रहते हैं, तेज और प्रकाश के बिना 'अग्नि' शब्द कुछ अर्थ ही नही रखता। इसी प्रकार हमें जीवों के स्वरूपभूत अवयव (अंग) को जानना है। यही अवयव उसका नित्य सहचर है। वह नित्य सहचर उसका सनातन गुण है और वही सनातन गुण उसका सनातन धर्म है।

जब सनातन गोस्वामी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो श्रीमन्महाप्रभु ने उत्तर दिया कि जीव का स्वरूप श्रीभगवान् की सेवा करना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के इस कथन पर विचार करने से हमें यह सहज दृष्टिगोचर हो जायेगा कि प्रत्येक जीव निरन्तर किसी न किसी दूसरे जीव की सेवा में लगा रहता है। जीव अन्य जीवों की दो प्रकार से सेवा करता हुआ जीवन का उपभोग करता है। निम्न पशुवर्ग तो सेवक के समान मनुष्यों की सेवा करता ही है। 'क' मनुष्य 'ख' स्वामी की सेवा करता है, 'ख' 'ग' स्वामी की सेवा करता है, 'ग' 'घ' स्वामी की सेवा करता है, इत्यादि। इस परिस्थिति में हम देख सकते हैं कि मित्र मित्र की, माता पुत्र की, पत्नी पति की और पति पत्नी की सेवा में रत है, आदि आदि। यदि हम इस दिशा में आगे गवेषणा करते जायें तो पायेंगे कि ऐसा कोई जीव नहीं है, जो किसी दूसरे की सेवा न करता हो। राजनीतिज्ञ चुनाव-घोषणापत्र इसीलिए निकालता है जिससे जनता को विश्वास हो जाय कि वह वास्तव में उसकी सेवा कर सकता है। मतदाता उसे अपने मूल्यवान् मत यही समझकर देते हैं कि वह समाज की

उल्लेखनीय सेवा करेगा। दुकानदार ग्राहक की सेवा करता है और कारीगर पूँजीपति की। पूँजीपति कुटुम्ब की सेवा में तत्पर है और सनातन जीव के सनातन स्वरूप के अनुसार परिवार राजा का सेवक है। इस प्रकार जीवमात्र अन्य जीवों की सेवा कर रहा है, कोई भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं है। अत यह निष्कर्ष सुगमता से निकाला जा सकता है कि सेवाभाव जीव का नित्य सहचर है, वस्तुत. सेवा करना ही जीव का सनातन धर्म है।

तथापि देशकाल के अनुसार मनुष्य अपने को हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध आदि मत-मतान्तरों का अनुयायी मान लेता है। ये सभी उपाधियाँ सनातन धर्म से इतर हैं। एक हिन्दु मत बदलकर मुस्लिम बन सकता है, मुस्लिम अपना मत त्याग कर हिन्दु मत अगीकार कर सकता है। इसी प्रकार ईसाई आदि भी मत-परिवर्तन करने में स्वतन्त्र हैं। परन्तु किसी भी परिस्थिति में, दूसरों की सेवा करने के सनातन स्वरूप (धर्म) में अन्तर नहीं आता। हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी किसी न किसी के सेवक हैं। अस्तु, अपने को किसी सम्प्रदाय विशेष का मानना अपने सनातन धर्म में अनास्था का द्योतक है। वास्तव में सेवा करना ही सनातन धर्म है।

यथार्थ में श्रीभगवान् से हमारा सम्बन्ध सेवा भाव का है। श्रीभगवान् परम भोक्ता हैं और हम सब जीव उसके सेवक हैं। हमारा सृजन वस्तुतः उनके उपभोग के लिये हुआ है, अत· श्रीभगवान् के साथ उस सनातन आनन्दास्वादन में भाग लेने से हम सुखी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदर से सहयोग किये बिना शरीर का कोई भी अग सुखी नही हो सकता। उसी भाँति जीव के लिये भी स्वतन्त्र रूप से सुखी होना सम्भव नहीं है। प्रकारान्तर से, श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा से विमुख रह कर जीव सुखी नहीं हो सकता।

भगवद्गीता में देवसेवा अथवा देवोपासना का अनुमोदन नहीं किया गया है। सातवें अध्याय के बीसवें श्लोक में उल्लेख है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियमास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।

'जिनका चित्त विषय वासना से दूषित है, वे मनुष्य ही देवताओं की शरण में जाते हैं और स्वभाव के अनुसार उपासना के विधि-विधान का परिपालन करते हैं।' यहाँ सुबोध रूप में बताया गया है कि कामी मनुष्य ही भगवान् श्रीकृष्ण के स्थान पर देवताओं की उपासना करते हैं। 'कृष्ण' नाम साम्प्रदायिक नहीं है। 'कृष्ण' नाम का अर्थ है परमोच्च आनन्दरस। शास्त्रो से सिद्ध है कि श्रीभगवान् रसराज हैं, अर्थात् समग्र आनन्द के आगार हैं। हम सभी आनन्द का अन्वेषण कर रहे हैं· **आनन्दमयोऽभ्यासात्**। (ब्रह्मसूत्र १ १ १२) जीव, जो श्रीभगवान् की भाँति ही पूर्ण चेतन हैं, सुख (आनन्द) चाहते हैं। श्रीभगवान् तो नित्य आनन्मय हैं ही, अत. उनसे सहयोग करके और उनका सग करने पर जीव भी आनन्द को प्राप्त हो जाते हैं।

अपनी आनन्दमयी वृन्दावन लीला के रस का परिवेषण करने के लिए ही

श्रीभगवान् इस अनित्य धरा धाम पर अवतीर्ण होते हैं। श्रीधाम वृन्दावन में निवास करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने गोप सखाओं, गोपियों, व्रजवासियों तथा गोधन के साथ क्रीड़ा करके परमानन्दमय लीलारस कल्लोलिनी प्रवाहित की थी। व्रजवासी तो बस केवल श्रीकृष्ण को ही जानते थे। श्रीकृष्ण ने भी अपने पिता नन्द महाराज को इन्द्र की पूजा में प्रवृत्त नहीं होने दिया। वे इस सत्य को स्थापित करना चाहते थे कि किसी भी प्रकार की देवोपासना की कोई आवश्यकता नहीं है। जनता भगवान् की ही आराधना करे, क्योंकि उनके धाम की प्राप्ति जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय, श्लोक छ. में भगवान् श्रीकृष्ण के धाम का वर्णन है

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

'मेरे उस स्वयप्रकाश परम धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस ससार में फिर नहीं आता, वही मेरा परम धाम है। (भगवद्गीता १५.६)

यह श्लोक उस सनातन धाम की सूचना देता है। हम समझते हैं कि प्राकृत आकाश की भाँति उस चिदाकाश में भी सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि होंगे। किन्तु श्रीभगवान् ने इस श्लोक में कहा है कि सनातन धाम में सूर्य, चन्द्रमा अथवा किसी भी प्रकार की अग्नि की अपेक्षा नही है, क्योंकि श्रीभगवान् के श्रीअग से निस्सृत 'ब्रह्मज्योति' नामक किरणराशि से वह धाम स्वयप्रकाश है। हम अन्य लोकों मे गमन करने के लिए भीषण कठिनाइयों के मध्य भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं, पर भगवद्धाम को जानना कठिन नहीं है। वह धाम 'गोलोक' कहलाता है। 'ब्रह्म संहिता' मे उस का अतिशय मधुर वर्णन है **गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः।** श्रीभगवान् अपने गोलोक धाम में नित्य विराजमान रहते हैं। फिर भी इस संसार में भी वे प्राप्त हो सकते हैं। वास्तव में वे अवतीर्ण होकर अपना यथार्थ सच्चिदानन्द विग्रह इसीलिए प्रकट करते हैं कि उनके सम्बन्ध में हमें मनोधर्म का आश्रय न लेना पड़े। ऐसे मनोधर्म को रोकने के लिए वे श्यामसुन्दर रूप में स्वरूप-प्रकाश करते हैं। दुर्भाग्यवशात् अल्पज्ञ मनुष्य नराकार शरीर धारण करके हमारे मध्य क्रीड़ा करने के लिए अवतीर्ण हुए उन परमेश्वर का उपहास किया करते हैं। उनके नर रूप और क्रिया-कलाप के कारण उन्हें अपने समान मान बैठना भूल होगी। वस्तुस्थिति यह है कि अपनी योगमाया के द्वारा ही श्रीभगवान् अपने यथार्थ रूप को हमारे समक्ष प्रकट करके उन लीलाओं का दर्शन कराते हैं, जो उनके धाम मे चल रही नित्यलीला की प्रतिमूर्ति है।

परव्योम की ब्रह्मज्योति में असंख्य वैकुण्ठ धाम स्थित हैं। ब्रह्मज्योति का स्रोत परम धाम कृष्णलोक है और 'आनन्दचिन्मय रस' अप्राकृत वैकुण्ठ धाम इसमें तैर रहे हैं। श्रीभगवान् की वाणी है, **न तद् भासयते सूर्यो न शशांको**

न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। जो उस परम धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता। चन्द्रमा की तो बात ही क्या, संसार के परमोच्च लोक (ब्रह्मलोक) में पहुँच जाने पर भी जीवन की समस्याओं (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि) का सामना करना होगा। प्राकृत-जगत् का कोई भी लोक इन चार कष्टों से मुक्त नहीं है। अतएव श्रीभगवान् भगवद्गीता में कहते हैं— **आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।** जीव अप्राकृत-पद्धति से एक लोक से दूसरे में गमन कर रहे हैं, किसी संयन्त्रीय व्यवस्था से नहीं। यह भी उल्लेख है. **यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।** अन्तर्लोकीय-यात्रा के लिए किसी संयन्त्रीय व्यवस्था की अपेक्षा नहीं है। गीता कहती है· **यान्ति देवव्रता देवान्।** चन्द्रमा, सूर्य जैसे उच्च लोक स्वर्ग कहलाते हैं। लोकों की उच्च, मध्यम और निम्न, तीन कोटियाँ हैं। पृथ्वी मध्यवर्ती लोक है। भगवद्गीता हमें सूचित करती है कि देवलोक में गमन करने की पद्धति अति सुगम है· **यान्ति देवव्रता देवान्।** वाँछित लोक के अधिष्ठातृ देवता की उपासना करने से चन्द्र, सूर्य, आदि किसी भी उच्च लोक में जाया जा सकता है।

परन्तु भगवद्गीता हमें इस प्राकृत-जगत् के अन्य लोकों में जाने का परामर्श नहीं देती। किसी संयन्त्रीय विधि से चालीस हजार वर्ष तक (इतने वर्ष तो जीवित रहना ही असम्भव है!) यात्रा करके यदि हम संसार के सर्वोच्च लोक (ब्रह्म-लोक) को प्राप्त कर भी लें, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इन दुःखों से हमारी मुक्ति तभी होगी, जब हम परम धाम कृष्णलोक अथवा परव्योम के किसी वैकुण्ठ धाम को प्राप्त कर लें। परव्योम के लोकों में एक गोलोक-वृन्दावन नामक परम धाम भी है। यही आदि लोक भगवान् श्रीकृष्ण का स्वधाम है। यह सम्पूर्ण जानकारी भगवद्गीता में उपलब्ध है। इसके द्वारा हमें उपदेश दिया गया है जिससे प्राकृत-जगत् को त्याग कर हम भगवद्धाम में सच्चा आनन्दमय जीवन प्राप्त कर सकें।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इस संसार का यथार्थ चित्रण है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।

श्रीभगवान् ने कहा, 'इस संसारी रूप पीपल के वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं तथा वेद इसके पत्ते कहे गए हैं। जो इसे जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।' (भगवद्गीता १५.१) इस श्लोक में प्राकृत-जगत् को एक ऐसे पीपल के वृक्ष की उपमा दी गई है, जिसका मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएँ अधोगामिनी हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में प्रतिबिम्बित वृक्ष उलटा दीखता है, शाखाएँ नीचे हो जाती हैं और मूल ऊपर की ओर दिखाई देती है। इसी प्रकार यह प्राकृत-जगत् वैकुण्ठ-जगत् का विकृत प्रतिबिम्ब है—सत्य की छाया मात्र है। छाया में चाहे सचाई अथवा सारवत्ता नहीं होती, पर उससे सच्चे

त्याग का होना तो सिद्ध होता ही है। मरुभूमि में जल नहीं होता, तथापि मृगमरीचिका से वहाँ जल की प्रतीति होती है। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कहीं न कहीं जल अवश्य है। प्राकृत-जगत् में जल नहीं है, लेशमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु वैकुण्ठ-जगत् में यथार्थ सुख रूपी जल अवश्य है।

श्रीभगवान् का परामर्श है कि हम वैकुण्ठ-जगत् को इस प्रकार प्राप्त कर लें :

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।

उस अव्यय पद अर्थात् सनातन धाम को निर्मानमोह पुरुष ही प्राप्त कर सकता है। इसका क्या अर्थ है? हम उपाधियों के पीछे लगे हुए हैं। कोई पुत्र बनना चाहता है, तो कोई ईश्वर, कोई राष्ट्रपति-पद चाहता है तो कोई धनवान् अथवा राजा बनने का अभिलाषी है, इत्यादि। जब तक हम इन उपाधियों में आसक्त हैं, तब तक देह में भी आसक्त रहेंगे, क्योंकि ये सभी उपाधियाँ देहगत हैं। परन्तु यथार्थ में हम देह से भिन्न हैं—यह अनुभूति ही भगवत्प्राप्ति का प्रथम चरण है। हम माया के गुणत्रय के असद् संसर्ग में पड़े हैं। अतएव यह परम आवश्यक है कि भगवद्भक्ति के द्वारा इनसे असंग (अनासक्त) हो जाएँ। भगवद्भक्ति में अनुरक्त हुए बिना माया के गुणत्रय से असंग नहीं हुआ जा सकता। उपाधियों और आसक्ति में कारण है हमारा काम विकार तथा प्रकृति पर प्रभुत्व करने की कामना। प्रकृति पर प्रभुत्व की इस प्रवृत्ति का जब तक हम त्याग नहीं करते, तब तक सनातन-धाम में पुनः प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है। उस अविनाशी धाम में वही प्रविष्ट हो सकता है, जो मिथ्या विषय-सुख के आकर्षण से मोहित हुए बिना भगवत्सेवा के परायण हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए परम-धाम की प्राप्ति अतिशय सुगम है।

गीता में अन्यत्र कहा गया है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

अव्यक्त अर्थात् 'अप्रकट'। भगवद्धाम के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, पूरा का पूरा प्राकृत-जगत् तक हमारे सामने प्रकट नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ इतनी अपूर्ण और दोषयुक्त हैं कि इस जगत् के सारे नक्षत्रों को भी हम नहीं देख सकते। वैदिक शास्त्रों में सम्पूर्ण लोकों के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त है, उस पर विश्वास करना अथवा न करना हमारे ऊपर निर्भर करता है। वैदिक शास्त्रों, विशेषतः श्रीमद्भागवत में सभी प्रधान लोकों का विशद वर्णन है। इस संसार से अतीत वैकुण्ठ-जगत् को वहाँ 'अव्यक्त' कहा गया है। उसी परम धाम की प्राप्ति के लिए वाँछा और उद्यम करें, क्योंकि उसे प्राप्त हो जाने पर फिर इस संसार में पुनरागमन नहीं होता।

उस भगवद्धाम को प्राप्त करने की पद्धति का वर्णन आठवें अध्याय में है:

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।

जो कोई भी अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ देह-त्याग करता है, वह तत्काल मेरी परा प्रकृति (मेरे स्वभाव) को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

जो मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, वह श्रीकृष्ण को ही प्राप्त होता है। अतएव श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य का नित्य स्मरण करता रहे। यदि इस रूप का चिन्तन करते हुए मृत्यु हुई तो वह भगवद्धाम मे प्रविष्ट हो जायगा। **मद्भावम्** शब्द से श्रीभगवान् की परा प्रकृति इंगित है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं। हमारी वर्तमान देह सच्चिदानन्द नहीं है। वह 'असत्' है, 'सत्' नहीं। नित्य न होकर नाशवान है— 'चित्' अर्थात् ज्ञानमय नहीं, वरन् अज्ञान से आवृत है। हमें वैकुण्ठ-जगत् का लेशमात्र ज्ञान नहीं है। वास्तव में तो हमें प्राकृत-जगत् का भी पूर्ण ज्ञान नहीं है, यहाँ के कितने ही पदार्थ हमें अज्ञात हैं। देह 'निरानन्द' है, आनन्दमय होने के स्थान पर सर्वथा दुःखमय है। संसार में जितने भी दुःखों की हमें प्राप्ति होती है, वे सब के सब देहजनित है। परन्तु जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन-स्मरण करता हुआ इस देह को त्यागता है, वह तुत्क्षण सच्चिदानन्द देह को प्राप्त कर लेता है। इसके प्रमाणस्वरूप आठवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण वचन देते हैं, 'वह मुझ को ही प्राप्त होता है।'

इस देह को त्याग कर प्राकृत-जगत् में कोई अन्य देह धारण करने का भी एक नियत क्रम है। मनुष्य की मृत्यु तभी होती है, जब यह निर्णय हो जाता है कि अगले जन्म में उसे किस योनि की प्राप्ति होनी है। यह निर्णय उच्च अधिकारी करते हैं, जीवात्मा स्वय नही। इस जीवन में किए कर्मों के अनुसार ही जीव पुनर्जन्म में उत्थान अथवा पतन को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यह जीवन भावी जीवन की तैयारी है। अत यदि इस जीवन मे भगवद्धाम-गमन के योग्य बन जायें, तो प्राकृत देह का अन्त होने पर हमें भगवान् श्रीकृष्ण के समान अप्राकृत वपु की प्राप्ति हो जायगी।

पूर्व वर्णन के अनुसार योगियों की ब्रह्मवादी, परमात्मावादी, भक्त आदि अनेक कोटियाँ हैं और ब्रह्मज्योति में असंख्य वैकुण्ठ धाम हैं। इन चिन्मय लोकों की संख्या प्राकृत-जगत् के सब लोकों की गणना से कहीं अधिक है। यह प्राकृत-जगत् सृष्टि की एकपादविभूति मात्र है। सृष्टि के इस प्राकृत अंश में खरबों लोक, सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमा वाले अरबों ब्रह्माण्ड हैं। इस पर भी यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण सृष्टि का अति लघु अंश ही है। अधिकाश सृष्टि माया से परे परव्योम में है। जो परमब्रह्म से सायुज्य का अभिलाषी है, वह अविलम्ब भगवान् की ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर परव्योम में स्थित हो जाता है। दूसरी ओर भक्त, जो कि श्रीभगवान् के सांनिध्य का आस्वादन करना चाहता है, असंख्य वैकुण्ठ लोकों में से किसी एक में प्रवेश करता है। श्रीभगवान् अपने चतुर्भुज नारायण अंश से गोविन्द, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न आदि रूप धारण कर इन

लोकों में विराजमान रहते हैं और वैकुण्ठ लोकों में प्रविष्ट होने वाले भक्तों के साथ लीला करते हैं। अतएव जीवन के अन्त में योगी यथायोग्य ब्रह्मज्योति, परमात्मा अथवा भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। परव्योम में तो उन सभी का प्रवेश हो जाता है, पर वैकुण्ठ लोकों में केवल भगवद्भक्त ही प्रविष्ट हो पाते हैं। श्रीभगवान् आगे कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं है।' श्रीभगवान् की इस घोषणा में दृढ़ विश्वास करना है। जो हमारी कल्पना के अनुकूल न हो, उस सत्य को अस्वीकार कर देना युक्तिसंगत नहीं होगा। हमारा मनोभाव अर्जुन का सा होना चाहिए 'आप जो कुछ भी कहते हैं, वह सब सत्य है, मुझे स्वीकार है।' अतः भगवान् का यह कथन निस्सन्देह सत्य है कि मृत्युकाल में जो कोई भी उनका ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् के रूप में चिन्तन करता है, वह अवश्य परव्योम में प्रविष्ट हो जाता है। इसमें अविश्वास का तो प्रश्न ही नहीं बनता।

अन्तकाल में भगवच्चिन्तन करने के प्रकार का भी गीता में उल्लेख है

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए यह जीव देह को त्यागता है, उस उसको ही प्राप्त होता है।' (८.६)

माया (अपरा प्रकृति) परमेश्वर की एक शक्ति का प्रकाश है। 'विष्णु पुराण' में श्रीभगवान् की सम्पूर्ण शक्तियों का वर्णन है **विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता . . .।** परमेश्वर नाना प्रकार की असंख्य शक्तियों से युक्त हैं, जो हमारे लिए सर्वथा अचिन्त्य हैं। किन्तु तत्ववेत्ता ऋषियों ने इन शक्तियों का अध्ययन करके तीन भागों में वर्गीकरण किया है। ये सभी विष्णुशक्ति कहलाती हैं। इनमें एक परा नामक दिव्य शक्ति है। जैसा वर्णन किया जा चुका है, जीव इसी परा शक्ति के अंश हैं। अन्य सभी शक्तियाँ प्राकृत होने से तमोगुणमयी हैं। मृत्यु-काल में हम स्वेच्छानुसार इस संसार की अपरा शक्ति (माया) में बने रह सकते हैं अथवा वैकुण्ठ-जगत् की दिव्य शक्ति में स्थानान्तरित भी हो सकते हैं।

इस जीवन में हम परा-अपरा शक्तियों में से किसी एक का चिन्तन करने के अभ्यस्त हैं। समाचार पत्र, उपन्यास आदि नाना प्रकार का साहित्य हमारे चित्त को अपरा शक्ति (माया) के चिन्तन से भर देता है। इस कोटि के निकृष्ट साहित्य में तल्लीन हो रही अपनी चिन्तनशक्ति को हमें वैदिक साहित्य में लगाना है। महर्षियों ने पुराण आदि वैदिक साहित्य का प्रणयन इसी प्रयोजन से किया है। पुराण काल्पनिक नहीं हैं, वरन् ऐतिहासिक संकलन हैं। 'श्रीचैतन्य चरितामृत' (मध्यलीला २०।१२२) में कहा है—

माया मुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान।
जीवेर कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण।।

विस्मरणशील जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भुलाकर विषयपरायण हो रहे हैं। उनकी चिन्तनशक्ति को भगवद्धाम में केन्द्रित करने के

लिए ही श्रीकृष्ण ने विपुल वैदिक साहित्य प्रदान किया है। सर्वप्रथम उन्होंने वेद को चार भागों में विभक्त किया, फिर पुराणों में उनका विशदीकरण किया तथा अल्प सामर्थ्य वालों के लिये 'महाभारत' की रचना की। महाभारत रूपी महासागर से ही भगवद्गीता रूपी महारत्न निकला है। तत्पश्चात्, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के सार तत्त्व का 'ब्रह्मसूत्र' में निरूपण किया गया और भविष्य में जनता के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने स्वयं 'ब्रह्मसूत्र' के अपौरुषेय भाष्य — श्रीमद्भागवत की रचना की। हमें इन वैदिक शास्त्रों के चिन्तन-मनन में चित्त को नित्य लगाए रखना है। जिस प्रकार विषयी मनुष्यों का चित्त लौकिक पत्र-पत्रिकाओं में ही लगा रहता है, उसी भाँति हमें अपने चित्त को व्यासदेव द्वारा विरचित इन ग्रन्थों के अध्ययन में तत्पर रखना है। इससे हम मृत्यु समय में श्रीभगवान् का स्मरण-चिन्तन कर सकेंगे। श्रीभगवान् ने एकमात्र इसी मार्ग का परामर्श किया है; परिणाम के विषय में उनकी प्रतिभू (गारन्टी) है : 'इसमें सन्देह नहीं।' (गीता ८.७)

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥

'इसलिए हे अर्जुन ! तू नित्य-निरन्तर मेरे कृष्ण रूप का स्मरण कर और युद्ध-रूपी स्वधर्म का आचरण भी कर। इस प्रकार मेरे परायण कर्म करता हुआ तथा मेरे अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

श्रीकृष्ण अर्जुन से स्वधर्म को त्याग कर अपना स्मरण करने को नहीं कहते। वे किसी अव्यवहारिक पद्धति का परामर्श कभी नहीं देते। इस संसार में देह धारण करने के लिए कर्म करना अनिवार्य है। कर्म के अनुसार मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित है। ब्राह्मण अथवा बुद्धिजीवियों का वर्ग एक प्रकार का कार्य करता है, क्षत्रिय (प्रशासिनिक) वर्ग दूसरा कर्म करता तथा वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने स्वधर्म का पालन करते हैं। मानव समाज का यह नियम है कि चाहे कोई शूद्र हो अथवा वैश्य, क्षत्रिय, कृषक, उत्तम वर्ण का बुद्धिजीवी हो अथवा वैज्ञानिक या अध्यात्मवादी, जीवन धारण करने के लिए उसे कर्म करना ही होगा। इसी कारण श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उसे अपने कार्य को त्यागने की आवश्यकता नहीं, वरन् स्वधर्म का आचरण करता हुआ भी वह उन्हीं (कृष्ण) का स्मरण करता रहे। यदि वह जीवन के लिए संघर्ष करते हुए श्रीकृष्ण के नित्य स्मरण का अभ्यास नहीं करेगा, तो मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का स्मरण नहीं कर सकेगा। श्रीचैतन्य महाप्रभु का भी यही उपदेश है। उन्होंने कहा है कि नित्य-निरन्तर श्रीभगवान् का कीर्तन करते हुए उनके स्मरण का अभ्यास करना चाहिए। श्रीभगवान् और उनके नाम में भेद नहीं है। अतएव अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश कि, 'मेरा स्मरण कर' तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह उपदेश कि श्रीकृष्णनाम का कीर्तन करो'—वस्तुतः एक ही हैं। इनमें भेद नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णनाम सर्वथा अभिन्न हैं।

अद्वयतत्त्व होने से नाम-नामी में कुछ भी भेद नहीं है। अस्तु, भगवन्नाम लेते हुए जीवन की क्रियाओं को भगवत्स्मरण के अनुकूल बनाकर हमें नित्य-निरन्तर, दिन में चौबीस घण्टे भगवत्स्मरण रखने का अभ्यास करना चाहिए।

यह किस विधि से सम्भव है ? आचार्यों ने इसका दृष्टान्त दिया है। किसी विवाहिता स्त्री की परपुरुष में आसक्ति अथवा किसी पुरुष की परायी स्त्री में आसक्ति साधारण आसक्ति से कहीं अधिक प्रबल होती है। इस प्रकार आसक्त हुआ प्राणी अपने प्रियतम के चिन्तन में नित्य तन्मय रहता है। उपपति के स्मरण में मग्न स्त्री गृह-कार्य करते हुए भी उससे मिलने के लिये सदा उत्कण्ठित रहती है । ऐसा होने पर भी अपने गृह कार्य को वह अधिक सावधानी से करती है, जिससे किसी को उसके उपपतित्त्व का भान न हो जाय। इसी प्रकार परम प्रियतम श्रीकृष्ण का नित्य चिन्तन करते हुए हमें अपने लौकिक कर्तव्यों का सुचारु रूप से निर्वाह करना चाहिए। इसके लिए प्रगाढ़ अनुराग की अपेक्षा है। यदि श्रीभगवान् में हमारा प्रगाढ़ प्रेम-भाव होगा तो स्वधर्म का आचरण करते हुए भी हम उनका स्मरण कर सकेंगे। पर इससे पूर्व उस प्रेम-भाव को उद्भावित करना होगा। श्रीकृष्ण का प्रेमी होने से अर्जुन नित्य उनके चिन्तन में तन्मय रहता है, श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होते हुए भी उसने युद्ध किया। श्रीकृष्ण ने यह नहीं कहा कि वह युद्ध से विमुख होकर ध्यान के लिए वन में चला जाय। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति योग-पद्धति का वर्णन किया तो अर्जुन यह कहने को बाध्य हो गया कि इस मार्ग का अभ्यास करना उसके लिए सम्भव नहीं है।

अर्जुन उवाच
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपके द्वारा संक्षेप से कही गई योग-पद्धति मुझे अस्थायी और अव्यावहारिक सी दिखाई देती है, क्योंकि मन अति चञ्चल है। (गीता ६.३३)

परन्तु श्रीभगवान् ने उत्तर में कहा—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

'सम्पूर्ण योगियों में भी, जो श्रद्धावान् योगी भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे सर्वाधिक अन्तरंग रूप में युक्त है तथा सबसे उत्तम है।' (गीता ६.४७)

अतएव जो नित्य-निरन्तर भगवत्स्मरण करता है, वह सर्वोत्तम ज्ञानी और भक्त-शिरोमणि है। श्रीभगवान् ने अर्जुन से आगे यह भी कहा है कि वह क्षत्रिय है, इसलिए युद्ध का परित्याग नहीं कर सकता; किन्तु यदि वह उन (श्रीकृष्ण) का चिन्तन करता हुआ युद्ध करेगा, तो अन्तकाल में भी उसे उनकी स्मृति बनी रहेगी। इसके लिए

उसे सर्वतोभावेन भगवद्भक्ति की शरण लेनी होगी।

यथार्थ में हम कर्म अपने चित्त और मनीषा के द्वारा करते हैं देह से नहीं। अत· यदि मन-बुद्धि नित्य भगवत्स्मरण के ही परायण रहें तो इन्द्रियाँ भी उनकी अनन्य सेवा में तत्पर रहेंगी। कम से कम बाह्य रूप से तो इन्द्रियों की क्रियाएँ वही रहती हैं, परन्तु मति परिणत हो जाती है। भगवद्गीता भगवत्स्मरण में मन-बुद्धि को तन्मय कर देने की विधि सिखाती है। इस तन्मयता से भगवद्धाम की प्राप्ति सुलभ है। चित्त के कृष्णसेवा-परायण हो जाने पर इन्द्रियाँ भी स्वत उनकी सेवा में निवेशित हो जाती हैं। श्रीकृष्ण के मधुर चिन्तन में पूर्ण रूप से लीन रहना एक दिव्य कला है। यही भगवद्गीता का गोपनीय सार है।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए घोर संघर्ष किया है, परन्तु अध्यात्म में उन्नति के लिए कुछ भी प्रयास नहीं किया। जिनके जीवन के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, वे तो विशेष सावधानी सहित अपने शेष सीमित समय का सदुपयोग भगवत्स्मरण के अभ्यास में ही करें। इसी अभ्यास का नाम भक्तियोग है.

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।।

ये नौ साधन, जिनमें भगवत्प्राप्त महापुरुष के मुख से भगवद्गीता का श्रवण करना सबसे सुगम है, जीव को भगवच्चिन्तन की ओर उन्मुख करते हैं। इससे निश्चल भगवत्स्मरण होने लगता है और देह-त्याग के अनन्तर श्रीभगवान् का सग करने के योग्य दिव्य शरीर की प्राप्ति भी हो जाती है।

श्रीभगवान् आगे कहते हैं

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।

'हे कुन्तीनन्दन! नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से भगवत्स्मरण का अभ्यास करने वाले को नि·सन्देह भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।' (गीता ८८)

यह पद्धति कठिन नहीं है। परन्तु इसे उस अनुभवी मनुष्य से सीखना होगा, जो स्वयं इसका अभ्यास करता हो। यत्र-तत्र धावनशील चित्त को भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह अथवा कृष्णनाम की ध्वनि में एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए। मन स्वभाव से ही चचल तथा अस्थिर है। परन्तु कृष्णनाम के प्रभाव से यह स्थिर हो जाता है। इस प्रकार 'परम पुरुष' का सतत चिन्तन करते हुए उनको प्राप्त हो जाय। भगवद्गीता में आत्यन्तिक उपलब्धि—भगवत्प्राप्ति के साधन का स्पष्ट उल्लेख है, इस ज्ञान के द्वार प्राणीमात्र के लिए खुले हैं। इसमें सबका अधिकार है। सभी कोटि के मनुष्य श्रीभगवान् का स्मरण कर उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, श्रीभगवान् का श्रवण-स्मरण प्राणीमात्र के लिए सुगम है।

श्रीभगवान् का उद्घोष है:

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।

'हे पार्थ! पापयोनि, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं। फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों और राजर्षियो के लिए तो कहना ही क्या है? अतः इस दुःखमय और क्षणभगुर ससार में तू मेरा ही भजन कर।' (गीता, ९ ३२,३३)

वैश्य, स्त्री और शूद्र आदि निम्न श्रेणी के मनुष्य भी श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए असाधारण बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कोई भी भक्तियोग को अंगीकार कर श्रीभगवान् को जीवन का परम-लक्ष्य तथा निःश्रेयस (आश्रय) बना लेता है, वह भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है। भगवद्गीता में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का आचरण करने से संसार की क्षणभंगुरता से उत्पन्न होने वाले जीवन के सब दुःखों का पूर्ण समाधान हो जाता है और जीवन कृतार्थ हो उठता है। यही सम्पूर्ण भगवद्गीता का सार-सर्वस्व है।

अस्तु, सारांश में, भगवद्गीता परम दिव्य शास्त्र है। इसका अध्ययन पूर्ण मनोयोग से करे। यह जीव का सब प्रकार के भय से परित्राण करने में समर्थ है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

'कृष्णभावना के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका नाश अथवा ह्रास नहीं होता; इस पथ में की गई अल्पमात्र प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है।' (गीता २.४०)

यदि भगवद्गीता का स्वाध्याय शुद्ध (निश्छल) भाव से मननपूर्वक किया जाय तो पूर्वकृत पाप कर्म फलित हुए बिना ही शान्त हो जाते हैं। गीता के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण का तुमुल उद्घोष है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

'सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पाप कर्मों से मुक्त कर दूँगा। तू भय मत कर।' (गीता १८.६६) इस प्रकार अपनी शरण में आए भक्त का पूर्ण उत्तरदायित्व श्रीभगवान् स्वयं वहन करते हैं और उसके सम्पूर्ण पापों को क्षमा कर देते हैं।

मनुष्य अपनी शुद्धि के लिए नित्य जल से स्नान करता है; किन्तु भगवद्गीता रूपी पावन गंगा-जल में तो जो एक बार भी स्नान कर लेता है, वह भवरोग की सम्पूर्ण मलिनता से सदा-सदाके लिये मुक्त हो जाता है। स्वयं श्रीभगवान् के मुख की वाणी इस गीता का पाठ करने वाले को किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ के अध्ययन की

अपेक्षा नहीं रहती। नित्य-निरन्तर मनोयोग सहित भगवद्गीता के श्रवण में ही तत्पर रहे। वर्तमान काल मे मनुष्य समाज इतना अधिक विषयपरायण हो चुका है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का स्वाध्याय सम्भव नहीं रहा है। कल्याण के लिए यह एक ग्रन्थ—भगवद्गीता सर्वथा पर्याप्त है, क्योंकि यह वैदिक शास्त्रों का परम सार है और स्वय श्रीभगवान् ने इसका गायन किया है। कहा जाता है कि गगाजल का पान करने वाला अवश्य मुक्त हो जाता है। फिर श्रवणपुटों से भगवद्गीता का पान करने वाले का तो कहना ही क्या ? गीता तो वस्तुत महाभारत का मारामृत है। स्वय विष्णु ने इसका प्रवचन किया है, क्योकि श्रीकृष्ण ही आदिविष्णु है। गीता रूपी सुधा-धारा श्रीभगवान् के मुखारविन्द से निस्यन्दित है, जबकि गगा उनके चरणारविन्द से निकली है। अवश्य ही श्रीभगवान् के मुख और चरण में भेद नही है, परन्तु यह सत्य तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि भगवद्गीता की महिमा गगा से भी कही बढ़कर है।

सब उपनिषद् मानो गौ के समान हैं और श्रीकृष्ण एक ग्वालबाल के तुल्य है, जो इस गौ से गीतामृत दोहन कर रहे हैं। यह दुग्ध वेदों का परम सार है और अर्जुन गोवत्स के अनुरूप है। विवेकी, महर्षि और शुद्ध भक्त ही इस भगवद्गीता रूपी दुग्धामृत का पान करते हैं।

आज के युग का मानव बड़ा इच्छुक है कि सबके लिए एक ही शास्त्र, एक ही ईश्वर, एक ही धर्म और एक ही व्यवसाय हो। अत सम्पूर्ण विश्व के लिए एक ही सार्वभौम शास्त्र हो-- **श्रीमद्भगवद्गीता**। सबके लिए एक ही आराध्य हो—**श्रीकृष्ण** और एक ही मन्त्र हो--**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**। तथा सम्पूर्ण जगत के लिए एक ही उद्यम हो--**भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में निरन्तर लीन रहना।**

श्रीमद्भगवद्गीता की प्रामाणिक परम्परा

'एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः' (गीता ४.२)

यह '**श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप**' इस परम्परा में प्राप्त हुई है

१ **श्रीकृष्ण**, २ ब्रह्मा, ३ नारद, ४ व्यास, ५ मध्व, ६ पद्मनाभ, ७ नृहरि, ८ माधव, ९ अक्षोभ्य, १० जयतीर्थ, ११ ज्ञानसिन्धु, १२ दयानिधि, १३ विद्यानिधि, १४ राजेन्द्र, १५ जयधर्म, १६ पुरुषोत्तम, १७ ब्रह्मण्यतीर्थ, १८ व्यासतीर्थ, १९ लक्ष्मीपति, २० माधवेन्द्रपुरी, २१ ईश्वरपुरी (नित्यानन्द, अद्वैत), २२ **श्रीचैतन्य महाप्रभु**, २३ रूप (स्वरूप, सनातन), २४ रघुनाथ, जीव, २५ कृष्णदास, २६ नरोत्तम, २७ विश्वनाथ, २८ (बलदेव) जगन्नाथ, २९ भक्तिविनोद, ३० गौरकिशोर, ३१ भक्तिसिद्धान्त सरस्वती, ३२ **कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद**

अथ प्रथमोऽध्यायः



अर्जुनविषादयोग

(कुरुक्षेत्र के युद्धप्रांगण में सैन्यनिरीक्षण)

धृतराष्ट्र उवाच।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

अनुवाद

धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः व्यापक स्तर पर पठित भागवत-विद्या है, जो गीता माहात्म्य में साररूप से समाहृत है। वहाँ उल्लेख है कि कृष्णभक्त के आश्रय में ही गीता का मनोयोग से अध्ययन करना चाहिए और इस प्रकार स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आवरण से मुक्त उसका यथार्थ तात्पर्य समझना चाहिए। भगवद्गीता के उस विशुद्ध ज्ञान का उदाहरण स्वयं भगवद्गीता में है। गीता को उसी भाँति

हृदयंगम करना है, जिस प्रकार अर्जुन ने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से सुन कर उसे धारण किया। यथार्थ मे भाग्यशाली वही है, जो उसी शिष्य-परम्परा में स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आरोप से मुक्त गीता का विशुद्ध ज्ञान अर्जित करता है। ऐसा भाग्यवान् वैदिक ज्ञान एव विश्व के अन्य सभी शास्त्रो के स्वाध्याय का लघन कर जाता है। गीता के अध्ययन से अन्य शास्त्रों का मर्म तो जाना जाता ही है, इसके अतिरिक्त, गीता में पाठक को वह तत्त्व भी प्राप्त है, जो अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नही है। यही गीता का अतुलनीय वैशिष्ट्य है। स्वय भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने के कारण गीता पूर्ण भागवत विद्या है।

महाभारत मे वर्णित धृतराष्ट्र और सञ्जय का वार्तालाप इस महान् दर्शन का उपोद्घात है। यह सर्वविदित ही है कि इस दर्शन की अवतारणा कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रागण में हुई, जो वैदिक युग के आदि काल से पवित्र तीर्थस्थान माना जाता है। पृथ्वी पर अपने अवतरणकाल मे भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव कल्याण के लिए इस कथामृत का प्रवचन किया।

धर्मक्षेत्र शब्द सारगर्भित है, क्योंकि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण स्वय उपस्थित है। अपने पुत्र कौरवो की विजय के विषय मे धृतराष्ट्र बडा सदिग्ध था। अत सन्देह-निवारण के लिए उसके अपने सचिव सजय से जिज्ञासा की, 'मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?' वह जानता था कि उसके पुत्र तथा अनुज पाण्डु के पुत्र कुरुक्षेत्र की रणभूमि मे निर्णयात्मक युद्ध के लिए एकत्रित हुए है। फिर भी, उसकी जिज्ञासा तात्पर्ययुक्त है। धृतराष्ट्र नही चाहता कि उसके पुत्रो और भतीजों में सन्धि हो। वह तो केवल युद्धस्थल में सघर्ष के लिए सन्नद्ध अपने पुत्रों की कुशल के विषय मे आश्वस्त होना चाहता था। युद्ध का आयोजन कुरुक्षेत्र में हुआ था, जिसे वेदो मे देवोचित तीर्थस्थान कहा गया है। इस कारण, युद्ध के परिणाम पर उस शाश्वत् पवित्र स्थान का क्या प्रभाव होगा, इस आशका से धृतराष्ट्र भयभीत हो गया। वह जानता था कि इसका प्रभाव अर्जुन आदि पाण्डवो के अनुकूल होगा, क्योंकि वे स्वभाव से ही सदाचारी थे। संजय श्रीवेदव्यासजी का शिष्य था। उनके अनुग्रह से धृतराष्ट्र के कक्ष में बैठे-बैठे उसे कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि का दर्शन हो सका। अतएव धृतराष्ट्र ने युद्ध-स्थिति के सम्बन्ध में उसीसे जिज्ञासा की।

पाण्डव एव धृतराष्ट्र-पुत्र, दोनों एक ही कुल की सन्तान है। परन्तु धृतराष्ट्र के वाक्य से उसका मनोभाव प्रकट होता है। उसने जान-बूझकर केवल अपने पुत्रों को कुरुवशी कहकर पाण्डवो को कौटुम्बिक उत्तराधिकार से वंचित किया है। इस प्रकार

अपने भतीजे पाण्डवों के सम्बन्ध में धृतराष्ट्र का दुर्भाव स्पष्ट है। जिस प्रकार धान के खेत से खर-पतवार को निकाल कर फैंक दिया जाता है, उस के अनुरूप इस कथा के उपक्रम से ही यह आशा है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जहाँ धर्म के जन्मदाता भगवान् श्रीकृष्ण स्वय विराजमान है, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन आदि का नाश होगा और युधिष्ठिर आदि धर्म-परायण जनो को श्रीकृष्ण स्वय स्थापित करेंगे। **धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र** शब्दो के ऐतिहासिक और वैदिक अर्थ से विशिष्ट यह उनका गूढ तात्पर्य है।

सञ्जय उवाच।
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

अनुवाद

सजय ने कहा, हे राजन्! उस समय पाण्डवों की व्यूहरचना-युक्त सेना को देखकर राजा दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य के निकट जाकर यह वाक्य कहा।।२।।

तात्पर्य

धृतराष्ट्र जन्मान्ध तो था ही, दुर्भाग्यवश, आध्यात्मिक-दृष्टि से भी वचित था। वह जानता था कि उसके पुत्र धर्म के विषय में उसी के समान दृष्टिहीन हैं। इसलिए उसे विश्वास था कि वे जन्मजात पुण्यात्मा पाण्डवो से सन्धि कदापि नहीं करेंगे। फिर भी, उसे तीर्थस्थान के प्रभाव का सन्देह था। उसकी युद्ध विषयक जिज्ञासा के इस अभिप्राय को सजय समझ गया। अत हताश राजा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सजय ने यह चेतावनी दी कि उसके पुत्र पवित्र स्थल के प्रभाव मे आकर सन्धि नही करने वाले है। उसने धृतराष्ट्र को यह भी बताया कि उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवो की सैन्यसज्जा को देख कर तत्काल अपने सेनानायक द्रोणाचार्य को यथार्थ स्थिति से अवगत कराने गया। यद्यपि दुर्योधन को 'राजा' सम्बोधित किया गया है, पर स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए वह स्वय सेनापति के निकट जाने को बाध्य हो गया। स्पष्ट रूप से दुर्योधन योग्य कूटनीतिज्ञ था, पर उसका कपटपूर्ण राजनीतिक शिष्टाचार उस भय का गोपन नहीं कर सका, जो उसे पाण्डवों के सैन्यव्यूह को देख कर प्राप्त हुआ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

अनुवाद

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार रचित पाण्डवों की इस महान् सेना का अवलोकन कीजिए।।३।।

तात्पर्य

कुशल राजनीतिज्ञ दुर्योधन ब्राह्मणश्रेष्ठ सेनाधिपति द्रोणाचार्य के दोषों को इगित करना चाहता था। अर्जुन के श्वसुर (द्रौपदी के पिता) राजा द्रुपद और द्रोण मे परस्पर राजनीतिक द्वेष था। इस कारण द्रुपद ने एक महायज्ञ का आयोजन करके द्रोणाचार्य का वध करने मे समर्थ पुत्र की उत्पत्ति का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। द्रोण यह भलीभाँति जानते थे, पर फिर भी जब द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न युद्ध-शिक्षा के लिए उनकी शरण में आया तो उदार विप्र द्रोण ने उस पर अपने सम्पूर्ण युद्ध-रहस्य उद्घाटित करने मे तनिक भी सकोच नही किया। अब, कुरुक्षेत्र के युद्ध मे धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया एव द्रोणाचार्य से प्राप्त विद्या के आधार पर उसी ने पाण्डव सेना की व्यूह-रचना की। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की इस त्रुटि का निर्देश किया, जिससे वे युद्ध मे सजग और दृढ़ रहें। उपरोक्त कथन से उसका यह भी अभिप्राय है कि युद्ध में अपने स्नेहभाजन शिष्यों (पाण्डवों) के प्रति वे कही इसी प्रकार दयाभाव न दिखा बैठे। अर्जुन विशेष रूप से द्रोणाचार्य का सर्वाधिक प्रिय एव प्रतिभावान् शिष्य था। दुर्योधन ने चेतावनी दी कि युद्ध में ऐसी उदारता का व्यवहार परिणाम मे पराजयकारी सिद्ध होगा।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

अनुवाद

इस पाण्डव सेना में भीम-अर्जुन के समान अनेक महान् धनुर्धारी शूरवीर योद्धा हैं, जैसे महारथी सात्यकि, विराट तथा द्रुपद आदि।।४।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।।५।।

अनुवाद

इनके अतिरिक्त, धृष्टकेतु, चेकितान, काशीराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैब्य, आदि महान् नरश्रेष्ठ एव पराक्रमी योद्धा भी इस सेना में हैं।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

अनुवाद

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं।।६।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

अनुवाद

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! आपके जानने के लिए अपने सैन्य-बल के योग्य सेनापतियों का भी मै वर्णन करता हूँ।।७।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

अनुवाद

हमारी सेना में स्वयं आप, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा आदि हैं; ये सभी संग्राम मे सदा विजयी रहे हैं।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

अनुवाद

अन्य अनेक शूरवीर भी मेरे लिए प्राणों की आहुति देने को उद्यत है। वे सभी विविध शस्त्रों से सुसज्जित है और युद्ध-कला में निपुण है।।९।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

अनुवाद

पितामह भीष्म द्वारा भलीभाँति संरक्षित हमारा सैन्यबल निस्सन्देह अपार है, जबकि भीम द्वारा सावधानीपूर्वक रक्षित पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है।।१०।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे दुर्योधन ने दोनों सेनाओं के बल की तुलना की है। उसकी धारणा मे सब से अधिक अनुभवी सेनानायक पितामह भीष्म द्वारा विशेष रूप से सरक्षित होने से उसका सैन्यबल अपार है। दूसरी ओर, पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है, क्योंकि उसका नेतृत्व अल्प अनुभवप्राप्त भीम कर रहे हैं, जो भीष्म की तुलना मे तृणतुल्य है। दुर्योधन भीम के प्रति सदा ईर्ष्याभाव से ग्रस्त रहता था, क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता था कि उसकी मृत्यु केवल भीम के हाथ ही हो सकेगी। परन्तु इस समय स्वपक्ष मे भीम से कही उत्कृष्ट सेनापति भीष्म की उपस्थिति को देखते हुए दुर्योधन का विश्वास है उसकी विजय पूर्ण रूप से निश्चित है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

अनुवाद

अतएव सैन्य-व्यूह में सामरिक महत्त्व के अपने-अपने स्थानों पर स्थित रहते हुए आप सभी पितामह भीष्म से पूरा सहयोग करें।।११।।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

अनुवाद

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहे दुर्योधन के इन वचनों को सुनकर कौरवों के वृद्ध एवं प्रतापी पितामह भीष्म ने उसे हर्षित करते हुए सिंह-गर्जन के समान उच्च स्वर से शखनाद किया।।१२।।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

अनुवाद

इसके अनन्तर शख, नगारे, ढोल, मृदंगादि सहसा एक ही साथ बज उठे; उनका वह स्वर अति भयकर हुआ।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।१४।।

अनुवाद

दूसरी ओर, श्वेत घोड़ों से युक्त महिमामय रथ पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ने अपने दिव्य शंखों का वादन किया।।१४।।

तात्पर्य

भीष्मदेव द्वारा बजाये गये शंख की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के शखों को **दिव्य** कहा गया है। अलौकिक शखो के नाद से स्पष्ट है कि विपक्षी कौरव दल की विजय की कोई सम्भावना नही, क्योकि भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया है। **जयस्तुपाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः**—जय सदा पाण्डव जैसे धर्मात्माओ का ही वरण करती है, क्योंकि उन्हे भगवान् श्रीकृष्ण का समाश्रय प्राप्त रहता है'। श्रीभगवान् जिस देश-काल में विराजमान रहते हैं, लक्ष्मी भी वहाँ अवश्य निवास करती है, क्योकि वह अपने स्वामी की नित्य अनुगामिनी है। अत भगवान् श्रीकृष्ण (श्रीविष्णु) के शखनाद से प्रकट हो रहा है कि विजय एव श्री अर्जुन की प्रतीक्षा कर रही है। इसके अतिरिक्त, जिस रथ मे दोनो सखा विराजमान हैं, वह अर्जुन को अग्निदेव ने प्रदान किया था' इस कारण वह रथ त्रिभुवन-दिग्विजय करने मे समर्थ है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य नामक शख का वादन किया तथा अर्जुन ने देवदत्त शख बजाया। अतिमानवीय कर्म करने वाले अतिभोजी भीम ने पौण्ड्र नामक शंख की भंयकर ध्वनि की।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को **हृषीकेश** कहा गया है, क्योकि वे सम्पूर्ण इन्द्रियो के स्वामी है। जीव उनके भिन्न-अश हैं, अत जीवों की इन्द्रियाँ भी उनकी इन्द्रियो की भिन्न-अंश है। निर्विशेषवादी जीवो की इन्द्रियों का कारण बताने मे असमर्थ हैं। इसीलिए वे सदा जीवो को इन्द्रियरहित अथवा निर्विशेष कहने को उत्कण्ठित रहते हैं। यथार्थ मे सब जीवो के अन्तर्यामी श्रीभगवान् ही उनकी इन्द्रियो का निर्देशन करते है। अपने प्रति जीव की शरणागति के अनुपात में वे उसका नियन्त्रण करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त की इन्द्रियो का तो वे प्रकट रूप से सचालन करते है, जैसे कुरुक्षेत्र की इस युद्धभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की

चिन्मय इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण कर रहे हैं। इसलिए उन्हें **हृषीकेश** सम्बोधित किया गया है। श्रीभगवान् की विविध रसमयी लीलाओं के अनुसार उनके विविध नाम है। उदाहरणार्थ उन्होंने मधु नामक दैत्य का वध किया, इसलिए मधुसूदन कहलाये; गायों एवं इन्द्रियों को रसानन्द का आस्वादन कराते हैं, इसलिए गोविन्द हैं, वसुदेव के पुत्ररूप में प्रकट होने के कारण वासुदेव नाम से प्रख्यात हैं; देवकी को माता स्वीकार करने से देवकीनन्दन कहलाए; श्रीधाम वृन्दावन में अपनी बाललीला का यशोदा मैय्या को आस्वादन कराया, इसलिए उनका यशोदानन्दन नाम हुआ तथा सखा अर्जुन का सारथ्य करने से उन्हें पार्थसारथी कहा गया। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि मे अर्जुन के मार्गदर्शक के रूप में उनका एक नाम **हृषीकेश** है।

अर्जुन को इस श्लोक में **धनंजय** कहा गया है, क्योंकि नाना यज्ञो के लिए विपुल धनराशि के उपार्जन में उसने अपने अग्रज राजा युधिष्ठिर की सहायता की थी। इसी भाँति बहुभोजन तथा हिडिम्बासुर वध जैसे अतिमानवीय कार्यकलाप करने वाले भीम को **वृकोदर** कहा जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् तथा पाण्डव दल के अन्यान्य पुरुषो द्वारा विशिष्ट शखो का वादन स्वपक्षी सेनाओं के लिए अत्यन्त उत्साहवर्धक था। विपक्ष में इस वैशिष्ट्य का अत्यन्त अभाव था। परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीदेवी लक्ष्मी भी वहाँ विराजमान नहीं। अतएव युद्ध में कौरवों की पराजय पूर्वनिश्चित है—शखनाद ने इसी सन्देश का उदघोष किया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अनुवाद

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया और नकुल-सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक नाम वाले शंखों का वादन किया। महान् धनुर्धारी काशी-राज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र तथा सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) आदि, इन सभी ने हे राजन्! अपने-अपने शख बजाये।।१६-१८।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्।।१९।।

अनुवाद

शंखों के उस तुमुल घोष ने आकाश तथा पृथ्वी को शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय को विदीर्ण कर दिया।।१९।।

तात्पर्य

दुर्योधन के पक्षपाती भीष्म आदि योद्धाओं के शंखनाद का पाण्डवो पर कुछ भी प्रभाव पड़ा हो, ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं हुआ है। परन्तु इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि पाण्डव-सैन्यसकुल के शंखनाद से धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गए। इसमें हेतु है पाण्डवों का अपना पराक्रम और इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण में उनका अटूट विश्वास। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के शरणागत भक्तों के लिए परम विपत्ति में भी भय का कोई कारण नहीं हो सकता।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।।२०।।

अनुवाद

हे राजन्! उस समय श्रीहनुमान्-चिन्ह से युक्त ध्वजा वाले अपने रथ में स्थित पाण्डुपुत्र अर्जुन धृतराष्ट्र पुत्रों को देखता हुआ धनुष धारण कर बाण चलाने के लिए कटिबद्ध हुआ। हे राजन्! उसी समय अर्जुन ने भगवान् हृषीकेश (श्रीकृष्ण) से ये वचन कहे।।२०।।

तात्पर्य

युद्ध का उपक्रम होने ही वाला है। पूर्वोक्त वाक्य से स्पष्ट है कि जिन पाण्डवों को युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण से साक्षात् मार्गदर्शन प्राप्त है, उनकी कल्पनातीत सैन्य-व्यवस्था को देखकर धृतराष्ट्रपुत्र प्रायः हतोत्साहित हो चुके हैं। अर्जुन की ध्वजा पर श्रीहनुमान् जी का चिन्ह भी विजय का मंगलमय प्रतीक है, क्योंकि हनुमान् जी ने राम-रावण युद्ध में भगवान् राम की सहायता की थी, जिससे श्रीराम की उल्लासमयी त्रिभुवन-विदित विजय हुई। इस समय राम एवं हनुमान् दोनों ही अर्जुन के रथ पर उसकी सहायता के लिए विराजमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं राम हैं और जहाँ भी

भगवान् राम विराजमान रहते हैं, वहाँ उनके नित्य दास हनुमान् जी और नित्य अर्धांगिनी लक्ष्मीदेवी सीता जी भी अवश्य निवास करती हैं। अत. अर्जुन के लिए शत्रुभय का कोई कारण नही है। इससे भी अधिक, इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का मार्गदर्शन करने को स्वयं उपस्थित हैं, जिससे अर्जुन को युद्ध सम्बन्धी सम्पूर्ण सद्परामर्श अनायास उपलब्ध रहेगा। अपने नित्य भक्त के लिए श्रीभगवान् द्वारा नियोजित ऐसी मंगलमयी स्थिति में निश्चित विजय के लक्षण सन्निहित रहते हैं।

अर्जुन उवाच।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिनरणसमुद्यमे।।२२।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! मेरे रथ को दोनो सेनाओ के मध्य मे स्थापित कर दीजिए, जिससे यहाँ उपस्थित इन सब युद्ध के अभिलाषी योद्धाओ को मैं देख सकूँ, जिनके साथ इस महासंग्राम मे मुझे संघर्ष करना है।।२१-२२।।

तात्पर्य

साक्षात् स्वय भगवान् होते हुए भी श्रीकृष्ण स्वरूपभूता अहैतुकी करुणा से अभिभूत होकर अपने सखा की सेवा मे सलग्न है। भक्तों के लिए उनके स्नेह मे कभी न्यूनता नही आती। इसी से अर्जुन ने यहाँ उन्हे **अच्युत** नाम से सम्बोधित किया है। सारथी के रूप मे उन्हे अर्जुन का आज्ञापालन करना था। परन्तु इस प्रसग मे भी उन्होंने कोई सकोच नही किया। इसीलिए वे **अच्युत** कह गये हैं। भक्त के लिए सारथ्य कर्म करने पर भी उनकी सर्वोच्च महिमामयी स्थिति पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी रही। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति मे वे पुरुषोत्तम समग्र इन्द्रियो के स्वामी, हृषीकेश है। वस्तुत श्रीभगवान् और उनके सेवक का परस्पर सम्बन्ध अतिशय मधुरिमामय एव दिव्य है। सेवक अपने सेव्य भगवान् की सेवा मे सदा प्रस्तुत रहता है। इसी भाँति भगवान् भी ऐसे सुयोग के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते है जब वे भक्त की सेवा कर सके। स्वय आज्ञा देने की अपेक्षा अपने शुद्ध भक्त को आज्ञादाता का गौरवमय पद प्रदान कर उससे आज्ञा ग्रहण करने में श्रीभगवान् को विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। ईश्वररूप मे वे सबके स्वामी है, और उन्हे आज्ञा देने की सामर्थ्य किसी में भी नही है। पर जब शुद्ध भक्त उन्हे आज्ञा देता है, तो नित्य निरन्तर अच्युत रहने वाले

उन प्रभु को चिन्मय आनन्दरस-निर्यास का आस्वादन सुलभ हो जाता है।

शुद्ध भक्त होने के कारण अर्जुन को बन्धु-बान्धवों से युद्ध करना अभीष्ट नहीं था। किन्तु शान्ति-सन्धि न करने विषयक दुर्योधन की हठधर्मी ने उसे युद्धभूमि में उतरने को बाध्य कर दिया। अतएव वह यह जानने के लिए बड़ा उत्सुक है कि वहाँ कौन-कौन महारथी उपस्थित है। यद्यपि युद्धभूमि में किसी सन्धि-प्रस्ताव की कोई सम्भावना नही है, परन्तु उसे उनका पुन निरीक्षण करना इष्ट है, यह देखने के लिए कि एक सर्वथा अवाँछनीय युद्ध के लिए वे कितने उद्यत हैं।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

अनुवाद

तथा दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए युद्ध की इच्छा से यहाँ एकत्रित हुए इन योद्धाओ को मैं देखूँगा।।२३।।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे भरतवशी धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किए जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनो सेनाओ के मध्य में स्थापित कर दिया।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

अनुवाद

भीष्म, द्रोण और विश्व के अन्य सभी राजाओं के सामने भगवान् हृषीकेश ने कहा कि हे पार्थ! यहाँ एकत्रित हुए इन सब कौरवो को देख।।२५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण, जो जीवमात्र के अन्तर्यामी हैं, अर्जुन की मन.स्थिति को

समझ गए। इस संदर्भ मे **हृषीकेश** शब्द उनकी सर्वज्ञता का सूचक है तथा अर्जुन के लिए प्रयुक्त **पार्थ** शब्द भी इसी प्रकार सारगर्भित है। श्रीकृष्ण अपने सखा को यह सूचित करना चाहते हैं कि उन्होंने उसका सारथ्य इसीलिए स्वीकार किया, कि वह उनकी बुआ कुन्ती (पृथा) का पुत्र है। परन्तु 'कौरवो का अवलोकन कर'—यह कहने से श्रीकृष्ण का क्या अभिप्राय है? क्या अर्जुन युद्ध से उपरत हो जाना चाहता है? श्रीकृष्ण को बुआ कुन्ती के पुत्र से ऐसी आशा नहीं थी। इस विधि से मित्रोचित परिहास में भगवान् ने अर्जुन की मनःस्थिति की पूर्वसूचना दी है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।।२६।।

अनुवाद

अर्जुन ने उन दोनों दलों की सेनाओ मे खड़े हुए पितृतुल्य गुरुजनों, पितामहो, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पौत्रों, मित्रों, श्वसुरों और सुहृदों को भी देखा।।२६।।

तात्पर्य

अर्जुन को युद्धभूमि मे सभी सम्बन्धियो का दर्शन हुआ। उसने पितृतुल्य भूरिश्रवा आदि, पितामह भीष्म एवं सोमदत्त, आचार्य द्रोण तथा कृप, शल्य और शकुनी आदि मामाओं दुर्योधन आदि भाइयों, लक्ष्मण आदि पुत्रो, अश्वत्थामा आदि मित्रों तथा कृतवर्मा आदि सुहृदों को देखा। उसने उन संकुलों को भी देखा जिनमें उसके बहुत से मित्र थे।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।२७।।

अनुवाद

बन्धु-बान्धवो के इन सब वर्गो को देखकर करुणा से अत्यन्त आक्रान्त हुआ अर्जुन इस प्रकार बोला।।२७।।

अर्जुन उवाच ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।।२८।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! युद्ध के लिए सम्मुख खड़े हुए इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे शरीर के अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख भी सूखा जाता है।।२८।।

तात्पर्य

यथार्थ भगवद्भक्त सम्पूर्ण दैवी गुणावली से नित्य युक्त रहता है। दूसरी ओर अभक्त चाहे विद्या एव सभ्यता की प्राकृत योग्यताओं में कितनी भी प्रगति कर ले, पर उस में कोई दैवी गुण नही होता। इस कारण, युद्धभूमि मे बन्धु-बाधवो को देखते ही अर्जुन उन परस्पर युद्ध की इच्छा वालो पर दयार्द्र हो उठा। अपने सैनिकों के प्रति तो उसकी सहानुभूति पूर्व से थी ही, अब शत्रुपक्ष के सैनिकों की आसन्न मृत्यु को देखते हुए वह उन पर भी द्रवित हो गया। निकटवर्ती महाविनाश की कल्पना से उसके अंगों में कंम्प होने लगा और मुख सूख सा गया। वहाँ पर समवेत योद्धाओं की युद्ध-भावना को देखकर उसे महान् विस्मय हुआ। प्राय· सम्पूर्ण कुल, सभी कुटुम्बी उससे युद्ध करने आए थे। इससे दयामय भक्त अर्जुन करुणा से द्रवित हो उठा। यद्यपि यहाँ उल्लेख नहीं है, परन्तु यह सहज अनुमान का विषय है कि अर्जुन के मुख का सूखना और अगों में कम्पन ही नही हो रहा था, वह दयाजन्य अश्रुविमोचन भी कर रहा था। उसमें इन लक्षणों के प्रादुर्भाव का कारण दौर्बल्य न होकर हृदय की·कोमलता है, जो शुद्ध भगवद्भक्त का एक प्रधान लक्षण है। इसी हेतु श्रीमद्भागवत में उल्लेख है.—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।

भगवान् श्रीकृष्ण के निष्किचन भक्त में सभी दैवी गुणों का नित्य निवास रहता है। अभक्त मे तो केवल तुच्छ प्राकृत गुण ही रहते है, क्योंकि मनोरथो के पीछे धावन करते रहने से वह अवश्य माया के प्रति आकृष्ट हो जाता है। (श्रीमद्भागवत ५.१८.१२)

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।।२९।।

अनुवाद

मेरे सम्पूर्ण शरीर में कम्प तथा रोमांच हो रहा है; गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जाता है और त्वचा भी जलती है।।२९।।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।।३०।।

अनुवाद

यहाँ और अधिक खड़े रहने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि अपने को भूलता सा जा रहा हूँ तथा मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है। हे केशव! भविष्य में भी मुझे केवल अमंगल ही अमंगल दृष्टिगोचर होता है।।३०।।

तात्पर्य

अति अधीर होने से अर्जुन युद्ध-भूमि में स्थित रहने में असमर्थ हो गया। यही नहीं, मन की दुर्बलतावश उसे अपना विस्मरण सा होता जा रहा था। विषय मे प्रबल आसक्ति मनुष्य को मोहमय स्थिति में पहुँचा देती है। **भयं द्वितीयाभिनिवेशतः**, जो प्राकृत परिस्थितियो के अत्यधिक वशीभूत रहते है उन मे ही ऐसा भय और अभिनिवेश होता है। अर्जुन को युद्धभूमि मे केवल दु ख की प्रतीति हो रही थी, मानो शत्रु-विजय करने पर भी वह प्रसन्न नहीं हो सकेगा। **निमित्त** शब्द अर्थपूर्ण है। जीवन में निराशा ही निराशा देखने पर मनुष्य विचार करता है, 'मैं यहाँ क्यों हूँ?' वस्तुत. प्रत्येक प्राणी केवल अपने में और अपने स्वार्थ में रुचि रखता है। परम पुरुष श्रीकृष्ण में किसी की भी रुचि नही है। अर्जुन से यह आशा थी कि वह अपने स्वार्थ की उपेक्षा करके भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा का अनुसरण करेगा, जो प्राणीमात्र का वास्तविक स्वार्थ है। बद्धजीव इस सत्य को भूल जाता है और इसी कारण सासारिक दुःख भोगता है। अर्जुन का विचार है कि युद्ध मे विजय भी उसके लिए शोक का ही कारण सिद्ध होगी।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।।३१।।

अनुवाद

युद्ध में स्वजनो का वध करने से मुझे कुछ भी श्रेयप्राप्ति होती दिखाई नहीं देती, और न ही हे गोविन्द! युद्ध से प्राप्त होने वाले विजय, राज्य अथवा सुख की मुझे इच्छा ही है।।३१।।

तात्पर्य

यह जाने बिना कि उनका वास्तविक स्वार्थ भगवान् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) में है, सुख की कामना से प्रेरित हुए बद्ध जीव देह के सम्बन्धों में ही आसक्त रहते हैं। वे मोहवश भूल जाते हैं कि प्राकृत सुख के स्रोत भी श्रीकृष्ण हैं। प्रतीत होता है कि

अर्जुन को तो क्षात्र-धर्म का भी विस्मरण हो गया है। शास्त्र के अनुसार केवल दो प्रकार के व्यक्ति जाज्वल्यमान सूर्यमण्डल में प्रविष्ट होने के योग्य हैं—एक श्री कृष्ण की आज्ञानुसार युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए क्षत्रिय और दूसरे पूर्णरूप से भगवद्भक्ति-परायण संन्यासीगण। सम्बन्धियों की तो बात ही क्या, अर्जुन तो अपने शत्रुओ को भी मारने से पराङ्मुख हो रहा है। उसका विश्वास है कि बान्धवों का वध करने से उसके जीवन में सुख का अत्यंत अभाव हो जायगा। अतः वह युद्ध नहीं करना चाहता, वैसे ही जैसे कोई तृप्त व्यक्ति भोजन बनाने में प्रवृत्त नहीं होता। वरन्, उसने वनगमन करके एकान्त में निराशा भरा जीवन बिताने का निश्चय किया है। क्षत्रिय होने के कारण अपने निर्वाह के लिए उसे एक राज्य चाहिए , क्योंकि क्षत्रियों के लिए अन्य कोई कार्य उचित नहीं है। पर अर्जुन का तो कोई राज्य नहीं है। उसके लिए राज्य-प्राप्ति का एकमात्र साधन भाइयों से युद्ध कर अपना पैतृक राज्य पुनः हस्तगत करना है। परन्तु ऐसा करना उसे अभीष्ट नही। इस सब परिस्थिति को देखते हुए वह अपने को वन में जाकर निराशामय एकान्त वास करने के योग्य समझता है।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।।३२।।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।।३३।।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।।३४।।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।।३५।।

अनुवाद

हे गोविन्द। हमें राज्य, सुख अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि जिनके लिए हमें इन पदार्थों की इच्छा है, वे ही इस युद्ध में खडे हैं। हे मधुसूदन। गुरुजन, पितृजन, पुत्र, पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले तथा अन्य सम्बन्धी भी धन तथा जीवन की आशा को त्याग कर युद्ध में मेरे सामने खड़े हैं। अपनी प्राणरक्षा के लिए भी इनके वध की इच्छा मैं नहीं कर सकता। हे जनार्दन। त्रिभुवन के राज्य तक के लिए मैं इन स्वजनो से युद्ध नहीं करना चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है।।३२-३५।।

तात्पर्य

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को **गोविन्द** कहा है, क्योंकि वे गायों तथा इन्द्रियों को समग्र रसानन्द का आस्वादन कराते हैं। इस शब्द के प्रयोग से अर्जुन ने यह संकेत किया है कि उसकी इन्द्रियाँ किस प्रकार तृप्त हो सकती हैं। श्रीगोविन्द का कार्य हमारी इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है, किन्तु यदि हम उनकी इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करें तो हमारी इन्द्रियाँ अपने-आप तृप्त हो जायेंगी। विषयभोग के द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा से प्रेरित हुआ जीव साधारणतया भगवान् तक को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाना चाहता है। श्रीभगवान् जीवों की इन्द्रियों को यथायोग्य तृप्त करते भी हैं, पर उनकी इच्छानुसार नहीं। इसके विपरीत, जो भक्त निजेन्द्रियतृप्ति की कामना से मुक्त होकर श्रीगोविन्द की इन्द्रियो को ही तृप्त करने मे सलग्न रहते हैं, भगवत्कृपा से उनकी सर्वाभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। कुटुम्ब और बान्धवो के प्रति अर्जुन का प्रगाढ़ स्नेह है—उनके लिए उसकी स्वाभाविक करुणा के रूप में यह सत्य यहाँ आशिक रूप से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि वह युद्ध से मुख मोड रहा है। कोई भी मनुष्य अपने वैभव का बन्धु-बान्धवों के आगे आडंबर करना चाहता है, पर अर्जुन को भय है कि उसके सब बांधव युद्ध में मारे जायेंगे, जिससे विजयी होकर अपने वैभव को वह उनके साथ नहीं भोग सकेगा। विषयी मनुष्य इसी प्रकार सोचता है। किन्तु पारमार्थिक जीवन का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। भक्त केवल भगवत्-इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। अतः भगवत्-इच्छा होने पर वह भगवत्सेवा के लिये सारा वैभव स्वीकार कर सकता है और श्रीभगवान् की इच्छा न होने पर उसे तृण भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। अर्जुन को स्वजन-वध करना अभीष्ट नहीं। यदि उनके वध की कोई आवश्यकता हो तो श्रीकृष्ण स्वय उनका वध करें, ऐसा उसका भाव है। सम्प्रति, उसे नही पता कि उनके युद्धभूमि में आने से पूर्व ही श्रीकृष्ण उन सबका वध कर चुके है, उसे तो केवल निमित्त-मात्र बनना है। इस रहस्य का उद्घाटन अगले अध्यायों में होगा। स्वभावसिद्ध भक्त अर्जुन को अपने अत्याचारी भाइयों तक का प्रतिकार करना अप्रिय लग रहा है, परन्तु श्रीभगवान् की योजना है कि उन सबका वध हो। भगवद्भक्त पापाचारियों का भी प्रतिकार नहीं करता, परन्तु श्रीभगवान् को दुष्टो द्वारा भक्त का उत्पीड़न सहन नही होता। वे अपने अपराधी को तो क्षमा कर सकते हैं, पर भक्त का अपराधी उनके लिए कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। इसी कारण, यद्यपि अर्जुन दुष्टों को क्षमा करना चाहता है, पर भगवान् श्रीकृष्ण उनके वध के लिए कृतसंकल्प हैं।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३६।।

अनुवाद

ऐसे आततायियों का वध करने पर भी हम पाप को ही प्राप्त होंगे। इसलिए अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों की हत्या करना हमारे योग्य नहीं है। हे माधव! स्वजनों के वध से हमें क्या लाभ होगा, ऐसा करने से हम किस प्रकार सुखी होंगे?।।३६।।

तात्पर्य

वैदिक विधान के अनुसार आततायी छ प्रकार के होते है—(१) विष देने वाला, (२) घर मे अग्नि लगाने वाला, (३) शस्त्र से आक्रमण करने वाला, (४) धन अपहरण करने वाला, (५) दूसरे की भूमि पर अधिकार करने वाला तथा (६) स्त्री का अपहरण करने वाला। ऐसे आततायियो का सामने आते ही तुरन्त वध कर देना चाहिये, इससे पाप नहीं लगता। इस प्रकार आततायी को मारना साधारण मनुष्य के लिए योग्य हो सकता है, पर अर्जुन तो साधारण व्यक्ति नही है। वह सन्त-स्वभाव से युक्त है और इस कारण उनके साथ सन्तोचित व्यवहार करना चाहता है। परन्तु ऐसा सन्तपन क्षत्रिय के लिए नहीं। भाव यह है कि प्रशासन के उत्तरदायी अधिकारी को सन्त स्वभाव वाला तो होना चाहिए, पर भीरु नहीं। उदाहरणार्थ, भगवान् राम की साधुता के कारण समस्त जनता उनके राज्य (रामराज्य) मे रहने के लिए आतुर थी, पर श्रीराम ने कभी कायरता नहीं दिखाई। अपनी धर्मपत्नी सीता देवी का अपहरण करने वाले आततायी रावण को उन्होंने ऐसा दण्ड दिया, जो आज तक विश्व-इतिहास मे अद्वितीय है। परन्तु अर्जुन के सदर्भ मे एक बड़ा अन्तर है। यहाँ आततायी है उसके अपने पितामह, आचार्य, मित्र, पुत्र, पौत्र आदि। यह देखते हुए अर्जुन ने निश्चय किया है कि उन्हें साधारण आततायी को दिया जाने वाला घोर दण्ड देना उसके उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, सत्पुरुषों के लिए क्षमादान का आदेश है और ऐसा शास्त्रीय विधान राजनीतिक अनिवार्यता से अधिक महत्त्व रखता है। इसलिए उसने विचार किया कि राजनीतिक कारणो से स्वजनों का वध करने की अपेक्षा धर्म और सदाचार की दृष्टि से उन्हें क्षमा करना अधिक श्रेष्ठ है। क्षणिक दैहिक सुख के लिए ऐसी हत्या करना उसे श्रेयस्कर नही लगा। अन्त में जब राज्य अथवा उससे प्राप्त होने वाला सुख भी नित्य नहीं है; तो स्वजनों का वध करके अपने जीवन एव शाश्वत् मुक्ति को वह सकट में क्यों डाले? अर्जुन का श्रीकृष्ण को **माधव** अर्थात् 'श्रीपति' सम्बोधित करना भी इसी सन्दर्भ में अर्थसगत

है। उन्हे अर्जुन को ऐसे कार्य में प्रेरित नही करना चाहिए, जिसके परिणाम में श्रीहानि हो। परन्तु भक्त के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, श्रीकृष्ण किसी का भी कभी अनिष्ट नही करते।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३७।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३८।।

अनुवाद

हे जनार्दन! यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल-नाश करने में अथवा मित्र-द्रोह मे कोई दोष नही देखते, किन्तु उस पाप को जानने वाले हम इस कर्म मे क्यो प्रवृत्त हो।।३७-३८।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।३९।।

अनुवाद

कुल का नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार शेष कुल भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है।।३९।।

तात्पर्य

वर्णाश्रम व्यवस्था मे ऐसे अनेक परम्परागत धार्मिक नियम है, जो सम्पूर्ण कुल के अभ्युदय तथा दैवीगुण-प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होते है। कुल में जन्म से मृत्यु तक होने वाले इन शुद्धि कृत्यो का दायित्व वयोवृद्धो पर रहता है। वृद्धो की मृत्यु होने पर कुल के ऐसे पारम्परिक शुद्धि कर्म लुप्त हो सकते है। इससे यह आशका रहती है कि शेष बचे तरुण अधर्ममय व्यसनों में प्रवृत्त होकर कही मुक्ति-लाभ से वंचित न रह जायें। अतएव किसी भी कारण से कुल के वयोवृद्धों का वध करना योग्य नहीं है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।४०।।

अनुवाद

हे कृष्ण! कुल में अधर्म के बढ जाने पर कुल की स्त्रियाँ भी दूषित हो जाती है। हे वृष्णिवशी! इस प्रकार स्त्रियो के पतन से वर्णसकर की उत्पत्ति होती

है। ।४०।।

तात्पर्य

मानव-समाज में शान्ति, वैभव तथा परमार्थ का प्रधान आधार सदाचारी सन्तान है। वर्णाश्रम-धर्म का इस प्रकार प्रणयन किया गया है जिससे कि भगवत्प्राप्ति के पथ में राज्य एवं समाज की उन्नति के लिए समाज में सदाचारी सन्तान का प्राधान्य रहे। ऐसी सन्तान का प्रादुर्भाव स्त्रीवर्ग के सतीत्व तथा निष्ठा पर निर्भर करता है। जिस प्रकार बालक सुगमता से कुमार्ग पर चले जाते हैं, उसी भाँति स्त्रियाँ भी अत्यधिक पतनोन्मुखी होती है। अत बालकों और स्त्रियों दोनों को कुल के वृद्धों का सरक्षण अपेक्षित है। विविध धार्मिक कृत्यों में सलग्न स्त्रियाँ उपपतित्व के भ्रष्ट-पथ के उन्मुख नहीं होंगी। चाणक्य पडित के अनुसार स्त्रियाँ प्राय· अल्पज्ञ होती है, इसलिए उन पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। उन्हें धार्मिक कृत्यरूप कुलधर्मों में ही नित्य सलग्न रहना चाहिए। इस प्रकार उनकी भक्ति तथा सतीत्व से वर्णाश्रम-धर्म के योग्य सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति होगी। वर्णाश्रम-धर्म के विनाश से स्त्रियाँ स्वभावत. पराए पुरुषों से सम्बन्ध रखने में स्वतन्त्र हो जाती है। इस व्यभिचार से वर्णसकर की उत्पत्ति होती है। दायित्वशून्य व्यक्ति भी समाज मे व्यभिचार को प्रेरित करते हैं और इस प्रकार, अवाँछनीय वर्णसकर मानवजाति को परिपूरित कर युद्ध, महामारी तथा महाविनाश की विपदा उपस्थित कर देते हैं।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४१।।

अनुवाद

वर्णसंकरों की वृद्धि से सम्पूर्ण कुल को और कुलघातियों को भी नरक की प्राप्ति होती है। ऐसे पतित कुलों मे पितरों के लिए पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाता है, जिससे उनके पितर भी गिर जाते है।।४१।।

तात्पर्य

सकाम कर्मों के विधि-विधान के अनुसार कुल के पितरों के लिए नियमित रूप से पिण्डोदक अर्पण करना आवश्यक है। यह अर्पण विष्णु-आराधना सहित किया जाता है, क्योकि श्रीविष्णु को अर्पित अन्न का भोजन सब प्रकार के पाप-बन्धनों से मुक्त कर देता है। पापकर्मवश पितरों को विभिन्न दु ख भोगने पडते है। कुछ को तो स्थूल प्राकृत देह की प्राप्ति भी नहीं होती, जिससे वे प्रेत योनि के सूक्ष्म शरीर में रहने का बाध्य हो जाते हैं। वशजों से प्रसाद का अश ग्रहण कर ये पितर प्रेत आदि

दुर्गतिमय योनियो से मुक्त हो जाते है। इस विधि से पितरो की सहायता करना कुलधर्म है और जो भक्ति के परायण नही है, वे तो इन कृत्यो का अनुष्ठान अवश्य ही करे। भक्तिनिष्ठ उत्तम भक्त के लिए ये आवश्यक नही है। केवल भगवद्भक्ति सहस्रों पितरो को सब प्रकार की दुर्गतियो से पूर्ण मुक्त कर सकती है। श्रीमद्भागवत मे उल्लेख है

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

'जो पुरुष अन्य सब कर्तव्यो को त्याग कर दृढ़तापूर्वक मुक्तिदाता श्रीमुकुन्द की ही शरण ले लेता है, उसका देवताओ, ऋषियो, सब प्राणियो, स्वजनो, मानव-समाज और पितरों के प्रति कोई कर्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता।' (भा० ११ ५ ४१) भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से सभी ऋणों का स्वत. विमोचन हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४२।।

अनुवाद

कुलघातियो के इन दोषो से सभी शाश्वत् जातिधर्म तथा कुलधर्म नष्ट हो जाते है।।४२।।

तात्पर्य

सनातनधर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत मानव समाज के चार वर्णों तथा कुलधर्मों का प्रयोजन मानव को मुक्त कराना है। अत जब समाज के अनुत्तरदायी लोकनायक सनातनधर्म-परम्परा को विखण्डित कर देते है, तो समाज में विप्लव हो जाता है, जिससे जनता जीवन के लक्ष्य—श्रीविष्णु को भूल बैठती है। ऐसे नेत्रहीन लोकनायकों के अनुगामी पथभ्रष्ट होकर निश्चित विनाश की ओर ही अग्रसर होते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४३।।

अनुवाद

हे जनार्दन! मैने गुरुपरम्परा से सुना है कि कुलधर्म का विनाश करने वालो का नित्य नरक में वास होता है।।४३।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४४।।

अनुवाद

अहो! यह कैसा महान् आश्चर्य है कि राज्यसुख के लोभ से हम स्वजनवधरूप महान् पापकर्म करने को उद्यत हो रहे है।।४४।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४५।।

अनुवाद

धृतराष्ट्र-पुत्रो से युद्ध करने की अपेक्षा यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करने वाले को वे रण में मारे, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा।।४५।।

तात्पर्य

क्षात्र-युद्धनियमो के अनुसार यह परम्परा है कि जो शस्त्ररहित है अथवा युद्ध से पराङ्मुख हो गया है, उस शत्रु पर आक्रमण नही करना चाहिए। अपनी दुर्बोध स्थिति को देखते हुए अर्जुन ने निर्णय किया कि शत्रु का आक्रमण होने पर भी वह युद्ध नहीं करेगा। उसने इस बात को महत्त्व नहीं दिया कि शत्रुपक्ष युद्ध के लिए कितना उद्यत है। इन सब लक्षणों का कारण है उसके हृदय में भक्तियोग से उत्पन्न दयार्द्रता।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४६।।

अनुवाद

संजय ने कहा, रणभूमि मे इस प्रकार कहकर शोक से व्याकुल चित्त वाला अर्जुन बाणसहित धनुष को त्याग कर रथ में बैठ गया।।४६।।

तात्पर्य

शत्रु-स्थिति का निरीक्षण करते समय अर्जुन अपने रथ पर खड़ा हुआ था। परन्तु सैन्य-निरीक्षण करके वह शोक से इतना अधिक अभिभूत हो गया कि धनुषबाण

को एक ओर रख कर फिर रथ में बैठ गया। इस प्रकार का भगवद्भक्ति-परायण दयार्द्र और सहृदय पुरुष निश्चय ही आत्मज्ञान की शिक्षा पाने के योग्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ।।

अथ द्वितीयोऽध्याय :



सांख्ययोग

(गीता के प्रतिपाद्य तत्त्व का सारांश)

सञ्जय उवाच।
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

अनुवाद

संजय ने कहा, उस करुणा और शोक मे मग्न हो रहे आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले अर्जुन से भगवान् श्रीमधुसूदन ने यह वचन कहा।।१।।

तात्पर्य

सांसारिक करुणा, शोक तथा अश्रुविमोचन—ये लक्षण उसी में प्रकट होते है, जो आत्मा के तत्त्व को नहीं जानता। शाश्वत् आत्मा के लिए दयाभाव ही स्वरूप-साक्षात्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त **मधुसूदन** शब्द गूढ़ अर्थ रखता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मधु दैत्य का वध किया था। इसलिए अर्जुन चाहता है कि उसे अभिभूत करने वाले अज्ञान रूपी दैत्य का भी वे विनाश करें, जो उसके कर्तव्य-कर्म के मार्ग में

बाधा उपस्थित कर रहा है। करुणा का प्रयोग कहाँ करना उचित है, यह कोई नहीं जानता। डूबते मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा करना बुद्धिहीनता होगी; स्थूल पाँचभौतिक देह रूपी बाह्य परिधान की रक्षा करने से अज्ञान-सागर में पतित जीव को बचाया नहीं जा सकता। ऐसा न जानकर जो बाह्य परिधान के लिए शोक करता है, वह शूद्र है। अर्जुन तो क्षत्रिय है, इसलिए ऐसा व्यवहार उसके योग्य नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञानी जीव के शोक का छेदन करने में पूर्ण समर्थ हैं। यही कारण है कि उन्होंने भगवद्गीता का उपदेश किया। इस अध्याय में परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राकृत देह तथा आत्मा के तात्त्विक अध्ययन के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार करने की शिक्षा दी है। अपने यथार्थ आत्म-स्वरूप की दृढ़ धारणा में स्थित होकर कर्म करने से यह अनुभूति हो सकती है।

श्रीभगवानुवाच।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।२।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! तुझे संग्राम की इस विषम स्थिति में यह अज्ञान किस कारण से प्राप्त हुआ? यह न तो उनके योग्य है, जो जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को जानते हैं और न उच्च लोकों की प्राप्ति कराने वाला है, अपितु अपयश का कारण है।।२।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण साक्षात् **भगवान्** हैं। सम्पूर्ण गीता में उन्हें 'भगवान्' ही कहा गया है। 'भगवान्' उस परतत्त्व की अवधि हैं, जिसकी प्राप्ति सर्वव्यापक निर्विशेष ब्रह्म, प्राणीमात्र के हृदयव्यापी परमात्मा और भगवान्, ज्ञान की इन तीन श्रेणियों में होती है। श्रीमद्भागवत में इस अद्वय तत्त्व का वर्णन इस प्रकार है·

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

"तत्त्ववित् को परतत्त्व की अनुभूति 'ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्', ज्ञान के इन तीन स्तरों पर होती है, जिन में परस्पर अभेद है।" (श्रीमद्भागवत १.२.११) इन तीनों दिव्य तत्त्वों का स्वरूप सूर्य के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सूर्य के भी तीन

पक्ष हैं—सूर्यज्योति, सूर्य का बाह्य रूप और स्वयं सूर्यलोक। सूर्यज्योति का ज्ञाता प्रारम्भिक विद्यार्थी है। वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त सूर्यज्योति के अल्प ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसे साधारण विद्यार्थी को परतत्त्व के केवल बाह्य स्वरूप अर्थात् निर्विशेष दीप्ति की अनुभूति होती है। उन्नति करके सौर-मण्डल के ज्ञान को प्राप्त कर लेना परतत्त्व के परमात्मा स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना है। अन्त में सूर्यलोक के मध्य में प्रवेश कर जाना परतत्त्व के भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति के समान है। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि परतत्त्व के सब जिज्ञासुओं का लक्ष्य एक ही तत्त्व है, किन्तु भगवत्प्राप्त कृष्णभक्त ही सर्वोच्च ज्ञानी है। सूर्यज्योति, सूर्यमण्डल तथा अन्तरग सूर्यलोक को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। पर साथ ही, इन तीनों पक्षों के विद्यार्थी एक श्रेणी में नहीं आते।

संस्कृत शब्द **भगवान्** की विवेचना व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने की है। समग्र श्री, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष को **भगवान्** कहते हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अत्यन्त धनी, वीर्यवान्, सुन्दर, यशस्वी, विद्वान् और त्यागी हैं। किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि वह समग्र श्री, वीर्य, आदि से युक्त है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही यह उद्घोष कर सकते हैं; अतएव वे साक्षात् स्वय भगवान् हैं। ब्रह्म, शिव तथा नारायण सहित कोई जीव श्रीकृष्ण के समान पूर्ण षडैश्वर्यवान् नही है। इस कारण 'ब्रह्मसहिता' मे ब्रह्माजी का निर्णय है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उनसे अधिक अथवा उनके समान कोई नही है, वे आदिपुरुष गोविन्द सब कारणो के परम कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।

'बहुत से पुरुष दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु अनुपमेय होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण परमोत्तम हैं। वे परम-पुरुष हैं; उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे आदिपुरुष गोविन्द ही सब कारणो के परम कारण है।' (ब्रह्मसहिता)

श्रीमद्भागवत मे नाना भगवत् अवतारों का उल्लेख है, परन्तु श्रीकृष्ण को सकल अवतारों का उद्गम, 'स्वयं भगवान्' कहा गया है:

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे।।

'यहाँ वर्णित सब अवतार श्रीभगवान् के अंश अथवा कलास्वरूप है, परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वय भगवान् है।' (श्रीमद्भागवत १.३.२८)

अस्तु, श्रीकृष्ण परमात्मा एवं निर्विशेष ब्रह्म के भी उद्गम परात्पर आदिपुरुष भगवान् हैं।

स्वय भगवान् की उपस्थिति मे अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा अयोग्य था। श्रीकृष्ण ने **कुतः** शब्द से इस पर अपना विस्मय अभिव्यक्त किया है। आर्य सस्कृति के सदस्य से यह आशा नही की जाती कि वह ऐसी पौरुषहीनता प्रकट करेगा। 'आर्य' शब्द जीवन की गरिमा को जानने वाले, भगवत्-परायण सस्कृति वाले पुरुषों के लिए प्रयुक्त होता है। विषयी नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भगवान् विष्णु की प्राप्ति करना है। प्राकृत-जगत् के बाह्य-रूप पर मोहित होने के कारण वे मुक्ति-तत्त्व से अनभिज्ञ ही रहते हैं। भव-मुक्ति के ज्ञान से शून्य होने से ऐसे व्यक्ति 'अनार्य' कहलाते हैं। क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध से पराङ्मुख होकर अर्जुन अपने नियत कर्तव्य से च्युत हो रहा था। अतएव उसकी इस भीरुता को अनार्योचित कहा गया। ऐसी कर्तव्य-विच्युति भगवत्प्राप्ति एवं सांसारिक यश-उपलब्धि में सहायक नहीं होती, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वजनों के लिए अर्जुन की उस तथाकथित करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।३।।

अनुवाद

हे पार्थ! इस अपकर्षकारी नपुसकता को मत प्राप्त हो यह तेरे योग्य नहीं है। हे परतप! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो।।३।।

अर्जुन उवाच।
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन श्रीकृष्ण! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोणाचार्य आदि का किस प्रकार बाणों से विरोध कर सकता हूँ, क्योंकि ये दोनो ही मेरे पूज्य है।।४।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

अनुवाद

गुरुजनों का वध करके जीवित रहने की अपेक्षा तो इस ससार में भिक्षा-वृत्ति से जीवनयापन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। अर्थलोलुप होने पर भी ये महानुभाव वरिष्ठ हैं। इनकी हत्या करने से हमारे भोग भी रुधिर से कलंकित हो जायेंगे।।५।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।६।।

अनुवाद

हम नही जानते कि हमारे लिये क्या श्रेयस्कर है, उन पर विजय प्राप्त करना या उनसे पराजित होना अथवा यह भी नही जानते कि युद्ध में हम जीतेंगे या हमको वे जीतेगे। जिनका वध करके हम जीवित भी नहीं रहना चाहते, वे ही धृतराष्ट्र-पुत्र इस रणभूमि मे लडने के लिए हमारे सामने खड़े हैं।।६।।

तात्पर्य

अर्जुन यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि वह क्षत्रिय के धर्मानुरूप युद्ध कर के अनावश्यक हिंसा का सकट उपस्थित होने दे अथवा युद्ध से उपरत होकर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु-विजय नही करता है तो भिक्षा ही उसके लिए जीवन-यापन करने का एकमात्र साधन रहेगा। साथ में, विजय भी निश्चित नही, दोनों दलों में से कोई भी विजयी हो सकता है। यदि उनकी विजय निश्चित भी होती (क्योंकि उनका पक्ष न्यायसगत है) तो भी युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के बिना पाण्डवों के लिये जीवित रहना अति कष्टसाध्य होगा। ऐसी परिस्थिति में वह भी प्रकारान्तर से पराजय ही होगी। अर्जुन के इस सम्पूर्ण विवेचन के निश्चित रूप से प्रामाणित होता है कि वह महाभागवत ही नहीं था, वरन् पूर्णतया प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय भी था। राजकुल में जन्म लेने पर भी भिक्षा से निर्वाह करने का उसका विचार उत्कृष्ट अनासक्ति का परिचायक है। वह यथार्थ में सदाचारी था, जैसा कि इन गुणो से और अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा में उसकी प्रगाढ़ निष्ठा से प्रकट है। इस सबसे अर्जुन सब प्रकार से मुक्ति के योग्य सिद्ध होता है। इन्द्रिय-निग्रह किये

बिना ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती तथा ज्ञान और भक्ति के बिना मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार विपुल लौकिक गुणों के अतिरिक्त अर्जुन इस सम्पूर्ण दैवी गुणावली से भी विभूषित है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

अनुवाद

प्रभो! कृपणता के कारण मैं स्वधर्म के सम्बन्ध मे संमोहित हो गया हूँ और सब धैर्य भी खो बैठा हूँ। इसलिए आपसे पूछता हूँ, मेरे लिये जो निश्चय किया हुआ श्रेयस्कर साधन हो, वह कहिये। मै आप का शरणागत शिष्य हूँ। अतएव कृपया मुझ को शिक्षा दीजिये।।७।।

तात्पर्य

यह प्रकृति का नियम है कि प्राकृत क्रियाओ की पूरी की पूरी व्यवस्था सब के लिये उद्वेग का ही स्रोत है। प्रतिपद पर व्याकुलता की ही प्राप्ति होती है। अतः जीवन की लक्ष्य-सिद्धि की यथार्थ शिक्षा के लिये प्रामाणिक गुरु के निकट जाना आवश्यक है। वैदिक शास्त्र जीवन के सम्पूर्ण अवाँछित उद्वेगों से मुक्ति के लिए आप्त सद्गुरु की शरण में जाने की आज्ञा देते है। अपने आप लगी दावाग्नि की भाँति संसार की व्यवस्था इस प्रकार की है कि हमारी इच्छा के विपरीत भी जीवन में उद्वेग अपने-आप उठते रहते है। दावाग्नि को कोई नही चाहता, फिर भी वह प्रज्वलित हो उठती है, जिससे हमे व्याकुलता होती है। इसी से वैदिक ज्ञान आज्ञा देता है कि व्यग्रता की निवृत्ति करने तथा समाधान की विद्या सीखने परम्परागत गुरु की शरण में जाय। सद्गुरु के आश्रित हुआ शिष्य सर्वज्ञ हो जाता है। इसलिए प्राकृत उद्वेगों में निमग्न न रहकर गुरु-शरण रूपी वैकुण्ठ का पादाश्रय अवश्य ग्रहण करे—यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

संसार के उद्वेगों से कौन घिरा हुआ है? वह, जो जीवन के दुःखों के विषय मे नहीं जानता। गर्गोपनिषद् में ऐसे मनुष्य को 'कृपण' कहा गया है:

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'

'मानव देह को प्राप्त होकर भी जो जीवन के दुःखों को निवृत्त किए बिना

स्वरूप-साक्षात्कार की विद्या को जाने बिना शूकर-कूकर के समान मृत्यु समय इस संसार को त्याग कर जाता है, वह कृपण है।' यह मानव देह जीव की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है, इसके उपयोग से वह जीवन के दुःखों का समाधान कर सकता है। अतः जो इस सुयोग से यथेष्ट उपयोग नही लेता, वह कृपण है। इसके विपरीत ब्राह्मण वह है, जो बुद्धिमानी से इस देह का सदुपयोग कर जीवन के क्लेशों से मुक्त हो जाय।

देहात्मबुद्धि के कारण कृपण मनुष्य परिवार, समाज, देश आदि की अत्यधिक आसक्ति में ही अपना सारा समय नष्ट कर देता है। वह प्रायः 'त्वचा रोग' के आधार पर पारिवारिक जीवन अर्थात् कलत्र, पुत्र स्वजनों के प्रति बड़ा आसक्त रहता है। कृपण सोचता है कि वह अपने परिवार का मृत्यु से परित्राण कर सकता है अथवा उसके बन्धु-बान्धव ही कालपाश से उसकी रक्षा कर लेंगे। अपनी सन्तान की परिचर्या करने वाले अधम पशुओं में भी ऐसी स्वजनासक्ति दृष्टिगोचर होती है। अर्जुन बुद्धिमान् है, इसलिए जानता है कि स्वजनों के लिए उसका स्नेह और उन्हें मृत्यु से बचाने की उसकी इच्छा ही उसकी सम्पूर्ण व्यग्रता का कारण है। यह जानते हुए भी कि युद्ध-विषयक कर्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, वह कार्पण्य-दोष-वश कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ सा हो गया। इसलिए अब परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण से निर्णय करने का आग्रह कर रहा है। वह श्रीकृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करता है; अब सख्यवार्ता नहीं करना चाहता। यथार्थ गुरु-शिष्य का वार्तालाप वास्तव में बड़ा गम्भीर होता है। इस समय अर्जुन भी सद्गुरु से गम्भीर वार्ता करना चाहता है। श्रीकृष्ण भगवद्गीता-विज्ञान के आदि गुरु हैं तथा अर्जुन प्रथम शिष्य है। अर्जुन ने गीता को जिस प्रकार हृदयगम किया, इसका उल्लेख स्वयं गीता में है। इस पर भी मूर्ख-शिरोमणि प्राकृत विद्वान् यह कहने की धृष्टता करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण की नहीं, अपितु 'श्रीकृष्ण में स्थित अजन्मा की ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।' श्रीकृष्ण के आत्मा और देह मे भेद नहीं है—इस सिद्धान्त को न जानते हुए भी जो भगवद्गीता को समझने का प्रयास करता है, वह निस्सन्देह परम मूर्ख है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

अनुवाद

मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस महान्

शोक को दूर कर सके। स्वर्गीय देवताओ के समान भूमि के सार्वभौम निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति होने पर भी मैं इस शोक को दूर नहीं कर सकूँगा।।८।।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

अनुवाद

संजय ने कहा, शत्रुविजयी अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से यह कहकर तथा फिर 'हे गोविन्द! मै युद्ध नही करूँगा', ऐसा कहकर चुप हो गया।।९।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

अनुवाद

हे भरतवशी धृतराष्ट्र! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनो सेनाओ के मध्य में उस शोकमग्न अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन कहा।।१०।।

श्रीभगवानुवाच।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नही है। पर पण्डितजन तो जिन के प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नही गये हैं, उनके लिये भी शोक नही करते।।११।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने तत्काल गुरुपद ग्रहण कर लिया और शिष्य को परोक्ष रूप से मूर्ख कहकर उसका शासन किया। उन्होंने कहा कि हे अर्जुन! तू बोल तो पण्डितों के समान रहा है, परन्तु इतना भी नही जानता कि देहतत्त्व तथा आत्मतत्त्व के मर्म को जानने वाले पडितजन देह की जीवित अथवा मृत, किसी भी अवस्था के लिए शोक नही करते। जैसा अगले अध्यायों में वर्णन किया गया है, ज्ञान का अर्थ देह, आत्मा और उन दोनों के ईश्वर के तत्त्व को जानना है। अर्जुन का तर्क है कि राजनीति

अथवा समाजनीति की अपेक्षा धर्म का अधिक माहात्म्य है। परन्तु वह यह नही जानता कि आत्मा, देह तथा उनके ईश्वर का ज्ञान सामान्य धर्म से भी अधिक महत्व रखता है। उस ज्ञान को न जानने के कारण उसके लिए अपने को महापण्डित के रूप में प्रदर्शित करना उचित नही। अल्पज्ञतावश शोक के अयोग्य वस्तु के लिए भी वह अतिशय शोकाकुल हो रहा है। देह का जन्म हुआ है, अत इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। इसी कारण देह का महत्त्व आत्मा की महिमा के तुल्य नहीं है। जो इस तथ्य को जानता है, वही यथार्थ में पण्डित है, क्योंकि देह की किसी भी अवस्था में उसके लिये शोक का कोई कारण नही हो सकता।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

अनुवाद

न तो ऐसा ही है कि किसी काल मे मै नही था, तू नही था अथवा ये सब राजा नही थे और न ही ऐसा है कि इससे आगे हम सब नही रहेंगे।।१२।।

तात्पर्य

वेद , कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों मे कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण जीव को उसके कर्म तथा कर्मफल के अनुरूप विभिन्न योनियाँ प्रदान करते हुए असंख्य जीवो का परिपालन कर रहे है। वे अश-रूप से जीवमात्र के हृदय में स्थित है। उन परमेश्वर श्रीकृष्ण का बाहर-भीतर सर्वत्र दर्शन करने वाले सन्तजन ही यथार्थ मे पूर्ण एव शाश्वती शान्ति का आस्वादन करते है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।
(कठ० २ २ १३)

श्रीभगवान् ने अर्जुन के हृदय मे जिस वैदिक सत्य का सचार किया, वही ससार के उन सब व्यक्तियो को प्रदान किया जाता है, जो महापण्डित का रूप तो धारण किए हुए है, परन्तु यथार्थ मे अल्पज्ञ ही है। **श्रीभगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि स्वय उनका,** अर्जुन का तथा युद्ध भूमि मे एकत्र हुए सब राजाओ का अपना-अपना शाश्वत् निजी स्वरूप है, जीवात्माओं की बद्ध एव मुक्त, दोनों ही अवस्थाओ मे वे उन सबके भर्ता है। भगवान् परम पुरुष स्वरूप है तथा उनके नित्य पार्षद अर्जुन का और वहाँ एकत्रित हुए सब राजाओ का भी अपना-अपना शाश्वत् स्वरूप है। ऐसा नही कि पूर्व

न उनका अपना-अपना अलग स्वरूप नहीं था, अथवा आगे नित्य नहीं रहेगा। उनका निजी स्वरूप पूर्व में भी था तथा भविष्य में भी निरन्तर रहेगा। इसलिए किसी के लिए भी शोक का कोई युक्तिसंगत हेतु नहीं है।

मायावादियों का कहना है कि मायावरण के कारण पृथक् हुआ जीवात्मा मुक्ति के उपरान्त निर्विशेष ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर अपना भिन्न स्वरूप खो बैठता है। परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ इस मत का खण्डन किया है। यहाँ इस मत का भी खण्डन है कि हम बद्धावस्था में अपने भिन्न-स्वरूप की कल्पना मात्र कर लेते है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण का स्पष्ट वक्तव्य है कि उपनिषदों के अनुसार श्रीभगवान् तथा जीवात्माओं के अपने-अपने स्वरूप भविष्य में भी नित्य विद्यमान रहेंगे। श्रीकृष्ण का यह कथन प्रामाणिक है, क्योंकि वे माया के आधीन नहीं हो सकते। यदि जीव और भगवान् से स्वरूप में द्वैत सत्य नहीं होता तो भगवान् श्रीकृष्ण उसे इतना महत्त्व नहीं देते। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है भविष्य में भी स्वरूप-भेद बना रहेगा। मायावादी तर्क कर सकते हैं कि श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया स्वरूप-द्वैत आत्मा में नहीं है, अपितु प्राकृत है। परन्तु यदि स्वरूप-भेद को प्राकृत मान लिया जाय तो श्रीकृष्ण के स्वरूप का वैशिष्ट्य ही क्या रहेगा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि पूर्व में उनका अपना विशिष्ट स्वरूप था और भविष्य में भी सदा रहेगा। उन्होंने अपने निजी स्वरूप का विविध प्रकार से वर्णन किया है और निर्विशेष ब्रह्म को अपने आधीन घोषित किया है। श्रीकृष्ण का दिव्य निजी स्वरूप शाश्वत् है। यदि उन्हें व्यष्टि-बुद्धि से युक्त साधारण बद्धजीव समझा जाय तो उनकी भगवद्गीता का प्रमाणिक शास्त्र के रूप में कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह जायगा। चार प्रकार के मानवीय दोषों वाला साधारण व्यक्ति श्रवणीय तत्त्व की शिक्षा देने के योग्य नहीं हो सकता। गीता ऐसे साहित्य की अपेक्षा परम उत्कृष्ट है। संसार की कोई भी पुस्तक भगवद्गीता की तुलना नहीं कर सकती। श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने पर गीता का यह सम्पूर्ण माहात्म्य विलुप्त हो जाता है। मायावादी तर्क करते हैं कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत कृत्रिम है, उसका सम्बन्ध केवल देह से है। किन्तु इस श्लोक से पूर्व ही देहात्मवाद को तिरस्कृत किया जा चुका है। जीवों की देहात्मबुद्धि की निन्दा करके फिर श्रीकृष्ण के लिए देहात्मबुद्धि पर आधारित रुढ़िगत वक्तव्य का प्रतिपादन करना किस प्रकार सम्भव था? अतएव यह सिद्ध होता है तत्त्व के आधार पर भगवान् और जीव में स्वरूप-भेद (द्वैत) नित्य बना रहता है। श्रीरामानुज आदि सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। गीता में भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि यह स्वरूप-ज्ञान केवल भगवद्भक्तों को हो सकता है। जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण से द्वेष करते हैं, उनका

इस महान् ग्रन्थ में कोई अधिकृत प्रवेश नहीं हो सकता। गीतोपदेश के अभक्तों की प्रवृत्ति मधुपात्र पर मँडराते मधुकरों के समान है। पात्र को खोले बिना मधु का आस्वादन नहीं किया जा सकता। इसी भाँति गीता के मर्म का ज्ञान भक्तों को ही हो सकता है; अन्य कोई गीतामृत का रस नहीं ले सकता, जैसा कि चौथे अध्याय में स्पष्ट किया है। श्रीभगवान् की सत्ता से द्वेष करने वाले तो गीता का स्पर्श तक नही कर सकते। अतएव गीता की मायावादी व्याख्या समग्र सत्य की परम भ्रातिकारक व्याख्या है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों द्वारा रचित भाष्यों के पठन-पाठन का निषेध करते हुए चेतावनी दी है कि जो मायावादी असद्-दर्शन को ग्रहण कर लेता है, वह गीता के सच्चे रहस्य-ज्ञान को हृदयंगम करने की सम्पूर्ण सामर्थ्य खो बैठता है। यदि स्वरूप-भेद (द्वैत) का सम्बन्ध अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से ही होता, तो श्रीभगवान् के लिए स्वयं गीतोपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं था। जीवात्मा तथा श्रीभगवान् में द्वैत शाश्वत् सत्य है और उपरोक्त कथन के अनुसार वेदों में इसकी पुष्टि है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

अनुवाद

जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी भाँति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपज्ञानी धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होता।।१३।।

तात्पर्य

प्रत्येक जीवात्मा का अपना निजी स्वरूप है। उसके देह में नित्य-निरन्तर परिवर्तन होता रहता है— क्रमशः कौमार, यौवन तथा जरा की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु इन सब प्रकार की अवस्थाओं में आत्मा स्वयं परिवर्तनरहित (अनामय) रहता है। अन्त में, देहान्त हो जाने पर यह जीवात्मा देहान्तर करता है, अन्य देह में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार अगले जन्म में भी आत्मा को प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी न किसी देह की प्राप्ति अवश्य होगी, यह निश्चित है। इसलिए भीष्म-द्रोण की सम्भावित मृत्यु के लिए अर्जुन के शोक का कोई भी कारण नहीं। वे जीर्ण देह को त्याग कर नूतन देह को धारण करने से नवशक्ति युक्त हो जायेंगे, इस विचार से उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। देहान्तर कर्मानुसार विविध सुख-दुःख भोगने का निमित्त सिद्ध होता है। महात्मा भीष्म तथा द्रोण को अगले जन्म में भगवद्धाम की प्राप्ति अथवा कम से कम स्वर्गीय श्रेष्ठ भौतिक सुख की उपलब्धि तो अवश्य ही होगी। इन में से किसी

भी अवस्था के लिए शोक का कोई कारण नही हो सकता।

जीवात्मा, परमात्मा तथा परा-अपरा प्रकृति के स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाला **धीर** कहलाता है। ऐसा पुरुष देहान्तर से व्याकुल नहीं होता। मायावादियों का एकात्मवाद मान्य नही है, क्योंकि आत्मतत्त्व को पृथक् अंशों मे विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि एक परमात्मा ही नाना जीवों के रूप मे विभक्त हो गये हैं, तो वे परिवर्तनशील सिद्ध होते हैं, जो सर्वथा सिद्धान्तविरुद्ध है।

गीता का प्रमाण है कि जीव परतत्त्व के सनातन भिन्न-अंश हैं। अपरा प्रकृति (माया) में पतनशील होने से वे 'क्षर' कहलाते हैं। ये भिन्न-अंश नित्य भिन्न रहते हैं, मुक्ति हो जाने पर भी जीवात्मा परमात्मा से भिन्न-स्वरूप रहते हैं। किन्तु साथ ही, मुक्त होने पर श्रीभगवान् के सान्निध्य में वे सच्चिदानन्दमय जीवन का रसास्वादन करते हैं। प्रत्येक जीव-देह में जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा के अस्तित्त्व को प्रतिबिम्ब के उदाहरण से समझा जा सकता है। जल में आकाश के प्रतिबिम्बित होने पर सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की भी उसमें छाया पड़ती है। जीवात्मा तारो के समान हैं, जबकि परमेश्वर सूर्य अथवा चन्द्र के तुल्य हैं। अर्जुन भिन्न-अंश जीवात्मा का प्रतीक है और परमेश्वर हैं स्वयं श्रीकृष्ण। ये दोनों एक स्तर पर नहीं हैं जैसा चौथे अध्याय के प्रारम्भ मे कहा गया है। यदि यह मान लिया जाय कि अर्जुन श्रीकृष्ण के समकक्ष है, अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठ नही हैं, तो गुरू-शिष्य के रूप में उनका सम्बन्ध निरर्थक हो जायगा। यदि दोनो माया-मोहित हैं तो एक के द्वारा दूसरे का गुरू बनकर उसे शिक्षा देना सर्वथा अप्रयोजनीय होगा, क्योकि जो स्वयं मायाबद्ध है, उसका उपदेश प्रामाणिक नही हो सकता। अस्तु, वस्तुस्थिति से यह निर्णय होता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और माया-समोहित स्मृतिलुप्त जीवात्मा अर्जुन से सदा अति श्रेष्ठ है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुःख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने जाने के समान ही अनित्य और क्षणभंगुर है। इसलिए हे अर्जुन! उनको विचलित हुए बिना सहने का अभ्यास कर।।१४।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

अनुवाद

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जो सुख-दुःख को समान समझकर इन दोनों से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।।१५।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अनुवाद

असत् का तो चिरस्थायी अस्तित्व नहीं होता तथा सत् का कभी अन्त नही होता। इस प्रकार ज्ञानियो ने इन दोनों के तत्त्व का निर्णय किया है।।१६।।

तात्पर्य

देह परिवर्तनशील होने से चिरस्थायी नही है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण देह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण यह वृद्धि और वृद्धावस्था को प्राप्त होती है। किन्तु देह तथा मन में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नित्य अव्यय रहता है। यही जड प्रकृति और आत्मा का भेद है। स्वभावत देह सदा परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। 'निर्विशेष' और 'सविशेष' आदि सब प्रकार के तत्त्वदर्शियो ने इस सिद्धान्त को माना है। 'विष्णुपुराण' मे उल्लेख है कि श्रीविष्णु और उनके सब लोकों की स्वयप्रकाश चिन्मय सत्ता है—**ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः। सत्** शब्द आत्मा का और **असत्** जड प्रकृति का वाचक है। सभी ज्ञानीजन इसमे एकमत है।

यहाँ से अज्ञान-मोहित जीवो के कल्याणार्थ श्रीभगवान् का मगलमय सदुपदेश प्रारम्भ होता है। अज्ञान-अपहरण से आराधक एव आराध्य में नित्य सम्बन्ध की पुर्नस्थापना हो जाती है, जिससे भिन्न-अश जीव एव परमेश्वर श्रीकृष्ण में जो भेद है, वह जाना जाता है। परतत्त्व का स्वरूप पूर्ण स्वाध्याय (आत्म-अध्ययन) करने से जाना जा सकता है, क्योकि जीव और परमेश्वर का भेद अश तथा अशी के भेद के समान है—जीव परमेश्वर का भिन्न-अश है। वेदान्तसूत्र तथा श्रीमद्भागवत मे भी परतत्त्व को वस्तुमात्र का मूल स्वीकार किया गया है। इनका अनुभव परा और अपरा प्रकृति के क्रम से होता है। सातवे अध्याय में कहा है कि जीव परा प्रकृति के भिन्न-अश है। शक्तिमान् एव शक्ति में अभेद होते हुए भी शक्तिमान् परतत्त्व है, जबकि शक्ति अर्थात् प्रकृति उसकी वशवर्तिनी है। अतएव सेवक और शिष्य के जैसे जीवात्मा नित्य परमेश्वर श्रीकृष्ण के आधीन रहते हैं। अज्ञानावस्था मे इस शुद्ध ज्ञान को ग्रहण नही किया जा सकता। अत अज्ञान का नाश कर जीवमात्र को सदा के लिए

प्रबुद्ध कर देने के लिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भगवद्गीता रूपी शिक्षामृत का परिवर्षण कर रहे है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

अनुवाद

अविनाशी तो उसको जान, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस अव्यय आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।।१७।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे सम्पूर्ण देह मे व्याप्त आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का अधिक स्पष्ट वर्णन है। यह सत्य सभी के अनुभव मे आता है कि सम्पूर्ण देह में एक ही चैतन्य तत्त्व व्याप्त है। सम्पूर्ण देह के अथवा किसी एक शरीरांग के सुख-दु:ख का बोध जीवमात्र को होता रहता है। परन्तु देह में चैतन्य की यह व्याप्ति व्यष्टि-शरीर तक सीमित है। किसी एक प्राणी के देहगत सुख-दु:ख का बोध अन्य को नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक देह मे एक-एक आत्मा आबद्ध है, जिसका अनुभव व्यष्टि-चेतन रूप में हुआ करता है। इस आत्मा का माप केश के अग्रभाग के १०,००० वें भाग के बराबर कहा गया है। **श्वेताश्वतर उपनिषद्** मे इस सत्य का प्रमाण है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

''आत्मा का माप केश की नोक के सौवें भाग के शतांश के बराबर है।'' (श्वे० ५९) इसी भाँति, श्रीमद्भागवत मे भी उल्लेख है

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः।।

''विस्तार में केश की नोक के १०,००० वें अंश के तुल्य असंख्य आत्मकण है।''

इस प्रकार चिन्मय आत्मकण प्राकृत परमाणु से भी सूक्ष्म विस्तार वाला है। साथ ही, ऐसे असंख्य आत्मकण हैं। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म-स्फुलिंग प्राकृत देह का प्रधान आधार है, औषधि के क्रियाशील तत्त्व के समान इसका प्रभाव भी सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहता है। आत्मा का यह प्रभाव देह में चेतना के रूप में अनुभूत होता है यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। साधारण बुद्धि वाला भी जानता है कि

चेतना-शून्य प्राकृत देह मृत हो जाती है; किसी भी प्राकृत उपचार से उसमें चेतना का फिर संचार नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष है कि चेतना का कारण कोई प्राकृत सम्मिश्रण नही है, अपितु आत्मा है। **मुण्डकोपनिषद्** में आत्मा के स्वरूप का अधिक वर्णन है:

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।

"अणु विस्तार वाला आत्मा बुद्धियोग से जाना जाता है। पँचप्राणों (प्राण, अपान व्यान, समान तथा उदान) में तैरता हुआ यह अणु-आत्मा हृदय में स्थित रहकर बद्धजीव के सम्पूर्ण शरीर मे अपना प्रभाव विकीर्णित करता है। पँचप्राणों के दोषों से आत्मा के मुक्त होने पर ही उसका दिव्य स्वरूप प्रकट होता है।" (मुण्ड० ३.१.९)

हठयोग का प्रयोजन विविध आसनों के द्वारा उन पञ्चप्राणों का निग्रह करना है, जिनसे शुद्धस्वरूप आत्मा घिरा हुआ है। यह साधन लौकिक लाभ के लिए नहीं, भव-परिवेश से अणु-आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार, अणु-आत्मा का चिन्मय स्वरूप सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सुधिजनों को इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त है। अतएव जो अणु-आत्मा को सर्वव्यापक विष्णुतत्त्व कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है।

अणु-आत्मा का प्रभाव किसी एक देह मे ही व्याप्त रहता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार, यह अणु-आत्मतत्त्व सब जीवों के हृदय में स्थित है। ससार के वैज्ञानिको के लिए यह सर्वथा अप्रमेय है। इसी कारण उनमें से कुछ अपनी मूर्खता का परिचय देते हुए आत्मा के स्वरूप का निराकरण तक करने का दुस्साहस कर बैठते है। परमात्मा के साथ अणु-जीवात्मा भी निश्चित रूप से देह के हृद्देश मे विद्यमान है। शरीर की क्रिया-शक्ति का यही उद्‌गम-स्थान है। फेफडो से आक्सीजन का संवहन करने वाले कोश आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। इस स्थान से आत्मा के हट जाने पर संलयन के कारण रुधिर-क्रिया का निवर्तन हो जाता है। चिकित्सा विज्ञान रक्तकोशों का महत्त्व तो स्वीकार करता है, पर वह यह जान पाने मे समर्थ नही है कि उन कोशो का शक्ति-स्रोत आत्मा है। तथापि, चिकित्सा विज्ञान इतना तो स्वीकार करता ही है कि सब शारीरिक शक्तियो का केन्द्र हृदय है।

परमात्मा के ये अणु-अंश सूर्यज्योति के परमाणुओ के तुल्य है। सूर्यज्योति मे संख्यातीत जाज्वल्यमान् परमाणु रहते है। इसी भाँति परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश उनकी प्रभा नामक परा प्रकृति के अणु-अश हैं। वैदिक ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान,

दोनों देह में आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नहीं करते। भगवद्गीता में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं आत्मविद्या का विशद प्रतिपादन किया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अनुवाद

इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहने वाले आत्मा की प्राकृत देह ही नाशवान् है। अतएव हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।।१८।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

अनुवाद

जो इस आत्मा को मारने वाला मानता है, और जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी है। यथार्थ ज्ञानी जानता है कि यह आत्मा न तो मारता है और न ही कभी मारा जाता है।।१९।।

तात्पर्य

देह पर किसी घातक शस्त्र का आघात होने पर भी देह मे वद्ध जीवात्मा की मृत्यु नही होती। जैसा पूर्व श्लोको में सिद्ध किया जा चुका है, जीवात्मा इतना सूक्ष्म है कि किसी भी प्राकृत शस्त्र से उसका वध नही किया जा सकता। अपने अप्राकृत स्वरूप के कारण जीवात्मा अवध्य है। मृत्यु तो केवल देह की ही होती है। किन्तु इसका तात्पर्य देहहिंसा को प्रोत्साहित करना नही है। वैदिक निर्देश है, **माहिंस्यात् सर्वभूतानि**, 'किसी भी जीव की हिंसा कभी न करे।' आत्मा अवध्य है, इसका यह अर्थ नही कि पशुहिंसा की जाय; किसी भी जीवदेह की अनाधिकार हत्या करना निद्य है एव राज्य और भगवत्-विधान के अनुसार दण्डनीय भी है। परन्तु अर्जुन को तो वध में धर्म के उद्देश्य से नियुक्त किया जा रहा है, स्वच्छन्दतापूर्वक नही।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

अनुवाद

आत्मा किसी भी काल में न तो जन्मता है और न मरता ही है। तथा एक बार होकर यह कभी नष्ट भी नहीं होता। यह नित्य, अजन्मा, शाश्वत् और पुरातन है। देह के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मारा जाता।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

अनुवाद

हे पार्थ! जो आत्मा को नित्य अविनाशी, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह किस प्रकार किसी को मार सकता है अथवा मरवा सकता है।।२१।।

तात्पर्य

प्रत्येक पदार्थ की अपनी समुचित उपयोगिता होती है। पूर्ण ज्ञानी की यह विशेषता है कि वह देशकाल के अनुसार पदार्थों का यथोचित उपयोग करना जानता है। हिंसा की भी उपयुक्तता है, परन्तु उसका उचित उपयोग ज्ञानी पर निर्भर करता है। हत्यारे को प्राणदण्ड देने वाले न्यायाधीश को दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योकि न्याय-सहिता के अनुसार ही वह किसी की हिंसा का विधान करता है। मानवमात्र के धर्म-शास्त्र 'मनुसहिता' में कथन है कि हत्यारे को प्राणदण्ड देना उचित है, जिससे पुनर्जन्म में वह उस महान् पापकर्म का फल भोगने को बाध्य न हो। हत्यारे को प्राणदण्ड की राजाज्ञा वास्तव में उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। इसी भाँति, जब श्रीकृष्ण युद्ध करने की आज्ञा देते है तो यह निश्चित समझना चाहिए कि इस प्रसंग में हिंसा का उद्देश्य परम न्याय के लिए है। अत. अर्जुन को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण के लिए युद्ध मे हुई हिंसा वास्तव में हिसा नही है और इस ज्ञान से युक्त होकर भगवान् की इस आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। आत्मा सर्वथा अवध्य है। इस कारण न्याय के हेतु हिसा की जा सकती है। शल्यक्रिया का प्रयोजन रोगी को स्वास्थ्य-लाभ कराना है, मारना नही। श्रीकृष्ण की शिक्षानुसार अर्जुन की युद्धक्रिया पूर्ण ज्ञान से युक्त है। इसलिए उससे कुछ भी पापफल नही बन सकता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

अनुवाद

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्याग कर नूतन देह ग्रहण करता है।।२२।।

तात्पर्य

अणु-जीवात्मा देहान्तर करता है—यह एक स्वीकृत सत्य है। हृदय से शक्ति का उद्गम किस प्रकार होता है, यह न बता सकने पर भी आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते। पर वे तक यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि शैशव से कौमार, कौमार से यौवन तथा यौवन से जरा के रूप में देह में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अन्त में वृद्धावस्था के अनन्तर देहान्तर हो जाता है। इसका वर्णन पूर्व श्लोक में किया जा चुका है।

अणु-आत्मा परमात्मा की कृपा से ही देहान्तर करता है। जिस प्रकार सखा सखा की इच्छा की पूर्ति करता है, उसी भाँति परमात्मा भी जीवात्मा की अभीप्सा पूर्ण करते है। वेद, 'मुण्डक' तथा 'श्वेताश्वतर' उपनिषदों में जीवात्मा और परमात्मा को एक वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्र पक्षियो की उपमा दी गई है। उनमें से एक (अणु-जीवात्मा) वृक्ष के फलो को खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी (श्रीकृष्ण) केवल अपने उस सखा को देखता रहता है। चिद्गुणो मे समान होते हुए भी एक पक्षी तो विषय-वृक्ष के फलों से मोहित हो जाता है, जबकि दूसरा उस सखा की क्रियाओं का साक्षीमात्र है। श्रीकृष्ण साक्षी पक्षी हैं और अर्जुन फल-भोक्ता पक्षी है। सखा होने पर भी उनमे से एक स्वामी है और दूसरा सेवक। अणु-जीवात्मा का इस सम्बन्ध को भुला देना ही उसके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने अर्थात् देहान्तर में कारण है। प्राकृत देहरूपी वृक्ष पर जीवात्मा जीवन के लिए घोर सघर्ष कर रहा है। किन्तु दूसरे पक्षी को परम गुरु स्वीकार करते ही, अर्थात् अर्जुन के समान शिक्षा प्राप्ति के लिए स्वेच्छापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होते ही परतन्त्र पक्षी (जीव) सम्पूर्ण शोक से तुरन्त मुक्त हो सकता है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों मे इसकी भी सपुष्टि है:

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।

एक वृक्ष पर बैठे दोनो पक्षियो मे से जो पक्षी वृक्ष के फल का भोक्ता है, वह उद्वेग-विषाद से पूर्ण हो रहा है। यदि वह किसी प्रकार अपने सखा श्रीभगवान् के सम्मुख होकर उनकी महिमा को धारण कर ले तो अविलम्ब शोकमुक्त हो

जाय। अर्जुन भी इस समय अपने नित्य सखा भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख होकर उनसे भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इस भाँति स्वयं श्रीकृष्ण से श्रवण करके उनके परम माहात्म्य को हृदयंगम करने से वह निस्सन्देह शोकमुक्त हो जायगा।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को परामर्श दिया है कि वह अपने वृद्ध पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण के देहान्तर करने पर शोक न करे। उनका तर्क है कि धर्मयुद्ध में उनके कलेवरों का वध करके उन्हें नाना प्रकार के देहजन्य पापों से मुक्त कर देने में उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। यज्ञाहुति अथवा धर्मयुद्ध में प्राण-विसर्जन करने वाला सकल देहजनित पापों से अविलम्ब मुक्त हो जाता है और उच्चलोक प्राप्त करता है। इस कारण अर्जुन के शोक का कोई भी युक्तिसम्मत हेतु नहीं है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अनुवाद

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।।२३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

अनुवाद

यह आत्मा अच्छेद्य है, अक्लेद्य, है, अदाह्य और अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, अविकारी, स्थिर रहने वाला तथा सनातन है।।२४।।

अव्यक्तोऽय मचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अनुवाद

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकारी कहा जाता है। इसे ऐसा जानकर तुझे देह के लिए शोक नहीं करना चाहिए।।२५।।

तात्पर्य

पूर्ववर्णन के अनुसार, आत्मा का विस्तार हमारी लौकिक गणना के लिए इतना सूक्ष्म है कि सबसे शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा भी उसे देखा नहीं जा सकता। वह वस्तुतः अदृश्य ही है। अतः श्रुतिप्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोग के द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें यह सत्य स्वीकार करना

होगा कि आत्मा के अस्तित्व के ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं है, यद्यपि यह एक अनुभवगम्य सत्य है। ऐसे अनेक तथ्य हैं जिन्हें उच्च प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार करना पड़ता है। पिता का अस्तित्व माता के प्रमाण पर आधारित है; उसका निराकरण कोई नहीं कर सकता। मातृ-प्रमाण के अतिरिक्त पिता को जानने का कोई अन्य साधन नहीं है। इसी प्रकार आत्मज्ञान केवल वेदाध्ययन से होता है। भाव यह है कि मानवीय प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए आत्मा सर्वथा अचिन्त्य है। हमें वेद के इस सिद्धात को भी स्वीकार करना होगा कि आत्मा चेतना भी है और चैतन्य भी। शरीर के धर्म के विपरीत, आत्मा नित्य अविकारी है; उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि अनन्त विभु-आत्मा की तुलना में आत्मा सदा अणु-तुल्य रहता है। विभु-आत्मा अनन्त है, जबकि जीवात्मा अणुतम है। आत्मतत्त्व में विकार नहीं होता, इसलिए अणु-जीवात्मा और अनन्त-आत्मा (भगवान्) का यह सम्बन्ध शाश्वत् है, अर्थात् जीव श्रीभगवान् के तुल्य कभी नही हो सकता। आत्मा का पृथक् शाश्वत् स्वरूप है, इस सत्य को असदिग्ध रूप से स्थापित करने के लिए वेद मे इस सिद्धांत की नाना रूपों में पुनरुक्ति की गयी है। किसी-किसी तत्त्व के निर्दोष और पूर्ण ज्ञान के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाय।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

अनुवाद

यदि तू इस आत्मा को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला भी माने, तो भी हे महाबाहु! तेरे लिए शोक का कोई कारण नही है।।२६।।

तात्पर्य

मानव समाज में दार्शनिकों का एक ऐसा दल सदा रहा है, जो बौद्धो के ही समान यह नही मानता कि देह से परे आत्मा का कोई पृथक् स्वरूप भी है। प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का प्रवचन किया, उस समय भी इस कोटि के दार्शनिक विद्यमान थे। उन्हें 'लोकायतिक' और 'वैभाषिक' कहा जाता था। इन दार्शनिकों के मत मे प्राकृत तत्त्वों के सम्मिश्रण की एक विशेष परिपक्व अवस्था में जीवन-लक्षण (चेतना) अथवा आत्मा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिकों की भी प्राय यही विचारधारा है। उनके अनुसार, शरीर की रचना केवल स्थूल तत्त्वों से हुई है तथा एक विशेष अवस्था में स्थूल तथा रासायनिक तत्त्वों की अन्त· क्रिया से जीवन-लक्षण प्रकट होते हैं। मानवीय सरचना-विज्ञान इसी

मत पर आधारित है। आजकल पाश्चात्य जगत् मे लोकप्रिय हो रहे अनेक प्रकार के कपट-धर्म भी इस मत का और शून्यवाद को मानने वाले अभक्त बौद्धो का अनुसरण कर रहे है।

यदि वैभाषिक मत के अनुसार अर्जुन का आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं है, तो भी शोक का कोई हेतु नहीं बनता। रसायनो की थोड़ी सी मात्रा के लिए शोक से विह्वल होकर कोई अपने कर्तव्य-कर्म का त्याग नहीं करता। आधुनिक विज्ञान तथा युद्ध मे तो शत्रु-विजय के लिए रसायनों को बड़ी मात्रा में नष्ट किया जाता है। वैभाषिक दर्शन का कहना है कि शरीर का क्षय होने के साथ ही तथाकथित आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अतएव अर्जुन वैदिक सिद्धान्त के अनुसार अणु-आत्मा के अस्तित्व को माने अथवा न माने, दोनो ही स्थितियों में उसके लिये शोक का कोई युक्तिसंगत कारण नही है। वैभाषिक मत के अनुसार प्रतिक्षण अनेक आत्माओ की जड़ प्रकृति से उत्पत्ति होती रहती है और अनेक का निरन्तर नाश भी होता रहता है, इसलिए ऐसे प्रसंग में शोक करना सर्वथा अप्रयोजनीय है। पितामह एव गुरु के वध से बनने वाले पाप की आशका से भयभीत होना भी अर्जुन के लिए हेतुसगत नही, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार आत्मा का पुनर्जन्म तो होता ही नही। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को व्यगपूर्वक **महाबाहु** सम्बोधित किया, क्योंकि इस वैभाषिक मत को, जो वैदिक ज्ञान के बिल्कुल प्रतिकूल है, वे स्वीकार नही करते। अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिए वैदिक संस्कृति का अनुयायी है। अतएव वैदिक सिद्धातो का अनुसरण करते रहना ही उसके लिए योग्य होगा।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

अनुवाद

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुर्नजन्म भी निश्चित है। अतएव इस अनिवार्य स्वधर्म-पालन मे तू शोक करने के योग्य नही है।।२७।।

तात्पर्य

जीवमात्र अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। इस कारण एक कर्म-अवधि समाप्त हो जाने पर मरकर अगली के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार मुक्ति के बिना जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता ही रहता है। परन्तु जन्म-मृत्यु की नित्यता का यह अर्थ नही कि अप्रयोजनीय हत्या, वध तथा युद्ध आदि हिंसा-कर्म किए जायें। साथ ही, मानव समाज में नियम तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये हिंसा और

युद्ध करना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है।

भगवत्-इच्छावश कुरुक्षेत्र का युद्ध अवश्यंभावी था और सत्य के लिये युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भी है। अत: स्वधर्माचरण में सम्भावित स्वजन-वध से भय अथवा शोक उसे क्यो हो ? अर्जुन विधि-विधान के पालन में प्रमाद करने के योग्य नहीं है, क्योकि ऐसा करने पर वह उसी पाप से लिप्त हो जायगा, जिसकी आशकामात्र से उसे भय का अनुभव हो रहा है। परिस्थितियों से स्पष्ट है कि स्वधर्माचरण से विमुख हो जाने पर भी स्वजनों की मृत्यु का परिहार तो वह कर नहीं सकेगा अपितु विकर्म-दोष से अध:पतन को ही प्राप्त होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ।।२८।।

अनुवाद

सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त रहते हैं, और निधन होने पर फिर से अव्यक्त हो जाते है। केवल मध्य मे ही व्यक्त होते है, फिर इसमें शोक का क्या कारण है ? ।।२८।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

अनुवाद

कोई महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है, वैसे ही दूसरा कोई इसके तत्त्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है; कोई-कोई इसका आश्चर्य की भाँति श्रवण करता है और कोई-कोई तो श्रवण करने पर भी इसे नहीं जानता।।२९।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! देह मे निवास करने वाला आत्मा कभी नहीं मारा जा सकता। इसलिये किसी भी प्राणी के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है।।३०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अनुवाद

अपने क्षत्रिय धर्म पर विचार करके भी तू यह जान ले कि तेरे लिए धर्ममय युद्ध से श्रेष्ठ दूसरा कोई कल्याण का साधन नहीं है। अतः युद्ध रूपी स्वधर्म में संकोच करने का कोई कारण नहीं है।।३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

अनुवाद

हे पार्थ! वे क्षत्रिय सुखी हैं, जिन्हें इस प्रकार के युद्ध का अवसर अपने आप प्राप्त होता है, क्योंकि यह तो स्वर्ग के खुले हुए द्वार के समान है।।३२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

अनुवाद

इस पर भी यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नही करेगा तो निश्चित् रूप से स्वधर्म-पालन में प्रमाद करने से होने वाले पाप को प्राप्त होगा और योद्धा के रूप में अपनी कीर्ति भी खो बैठेगा।।३३।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

अनुवाद

सब लोग भी सदा तेरे अपयश का कथन करेगे। सम्मान्य व्यक्ति के लिए तो अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक मन्द होती है।।३४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

अनुवाद

तेरे नाम और यश का सम्मान करने वाले महारथी भी तुझे भयवश ही युद्ध से उपरत हुआ मानेंगे। इस भाँति तू कायर समझा जायगा।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

अनुवाद

तेरे शत्रु भी बहुत से अपशब्द कहकर तेरी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। इससे

अधिक दुःख तेरे लिए फिर और क्या होगा?।।३६।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र! यदि तू युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी के साम्राज्य का उपभोग करेगा। इसलिए खड़ा होकर दृढतापूर्वक युद्ध कर।।३७।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

अनुवाद

सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा जय-पराजय को समान समझकर निष्काम भाव से युद्ध कर। ऐसा करने पर तू पाप से कलुषित नहीं होगा।।३८।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट रूप से युद्ध के लिये ही, अर्थात् निष्काम भाव से युद्ध करने की आज्ञा दे रहे है, क्योकि उनकी ऐसी ही इच्छा है। कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में सुख-दु ख, हानि-लाभ जय-पराजय का विचार नही किया जाता। प्रत्येक क्रिया को श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए करना बुद्धियोग कहलाता है। इस प्रकार से प्राकृत कर्म करने पर भी बन्धन नही होता। जो निजेन्द्रियतृप्ति के लिए सात्त्विक अथवा राजस कर्म करता है, उसी को शुभ-अशुभ कर्मफल मिलता है, परन्तु जो पूर्ण रूप से श्रीकृष्णभावनाभावित क्रियाओं के ही शरणागत हो गया है, वह भक्त साधारण जीवन-पद्धति के समान किसी का भी ऋणी अथवा किंकर नही रहता। शास्त्र-वचन (भागवत ११.५.४१) है

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

"अन्य सब कर्तव्यो को त्याग कर जो मनुष्य अनन्यभाव से मुक्तिदाता श्रीकृष्ण के ही शरणागत हो जाता है, उसका देवताओ, अन्य सब प्राणियो, स्वजनो, मानव जाति और पितरो के प्रति कुछ भी कर्तव्य अथवा ऋण शेष नही रहता।" उपरोक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी तथ्य का संकेत किया है। अगले श्लोकों में इस सिद्धान्त का अधिक विशद वर्णन है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

अनुवाद

यहाँ तक मैंने तेरे लिए सांख्य-दर्शन का वर्णन किया। अब उस बुद्धियोग का श्रवण कर जिससे निष्काम कर्म किया जाता है। हे पार्थ ! इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म करने पर तू कर्म-बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा।।३९।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

अनुवाद

कृष्णभावना के लिये जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता और न ह्रास ही होता है। इस पथ मे की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है।।४०।।

तात्पर्य

अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा को त्यागकर कृष्णभावनाभावित कर्म करना, अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये कर्म करना सर्वश्रेष्ठ दिव्य क्रिया है। यदि ऐसे कर्म को छोटे से रूप मे ही प्रारम्भ किया जाय, तो भी उसमें न तो कोई बाधा आती है और न ही कभी उसका नाश होता है। यह नियम है कि किसी प्राकृत क्रिया को प्रारम्भ करके पूर्ण करना आवश्यक है, अन्यथा सम्पूर्ण प्रयास विफल हो जाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म की यह विशेषता है कि अपूर्ण रह जाने पर भी उसका चिरस्थायी फल होता है। अत· कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले की किसी भी दशा मे हानि नहीं होती। यदि कृष्णभावनाभावित कर्म केवल एक प्रतिशत ही पूर्ण हुआ हो, तो भी उसका मनातन फल होगा, जिससे पहले किये हुए की आवृत्ति किये बिना, भविष्य मे उत्तरोत्तर आगे उन्नति की जा सकती है। इमके विपरीत, प्राकृत कर्म जब तक शत-प्रतिशत पूर्ण नही हो जाता, तब तक उससे कुछ लाभ नही होता। अजामिल ने कृष्णभावना विषयक साधन का अभ्यास एक अश मे ही किया था, परन्तु मृत्यु समय भगवत्कृपा से उसे पूर्णफल की प्राप्ति हुई। इस सन्दर्भ मे श्रीमद्भागवत मे एक सुन्दर श्लोक है

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

'विषय भोग को त्याग कर जो कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह यदि कार्य-पूर्ति न कर पाने से पतित भी हो जाय, तो उसे क्या हानि ? इसके विपरीत,

प्राकृत क्रियाओ को पूर्ण करने से क्या लाभ होगा?' (श्रीमद्भागवत १.५.१७) इसी प्रकार लोकोक्ति है, 'अपने सनातन आत्मा को खोकर सम्पूर्ण विश्व को पाने से भी क्या लाभ होगा?'

प्राकृत कार्य तथा उनके फल देह के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को देहान्त के बाद फिर से कृष्णभावनाभावित बना देता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि पुनर्जन्म में उसे विद्वान् ब्राह्मण अथवा धनाढ्यों के कुल मे मनुष्य देह की प्राप्ति होगी, जिससे भगवत्प्राप्ति का अवसर फिर सुलभ हो जायगा। यह कृष्णभावनाभावित कर्म की अनुपम विशेषता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

अनुवाद

इस पथ के अनुगामी निश्चयात्मक बुद्धि से युक्त रहते हैं, उनका एक लक्ष्य होता है। परन्तु हे कुरुनन्दन! अस्थिर मति वालो की बुद्धि तो अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।।४१।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

अनुवाद

अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलकारिक वचनो मे बहुत आसक्त रहते हैं, जिनमे स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगो को देने वाले नाना प्रकार के सकामकर्मों का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नही है।।४२-४३।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

अनुवाद

जो मुनष्य विषयभोग और लौकिक ऐश्वर्य मे प्रगाढ आसक्ति के कारण इस प्रकार समोहित हो रहे है, उनके चित्त मे भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता।।४४।।

तात्पर्य

'समाधि' का अर्थ चित्त की एकाग्रता से है। वैदिक शब्दकोष निरुक्ति के अनुसार **सम्यगाधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यम्** 'आत्मतत्त्व में मनोयोग को समाधि कहा जाता है।' जो इन्द्रियतृप्ति में आसक्त है अथवा अनित्य विषयों से विमोहित हो रहे हैं, उनके लिए समाधि कभी सम्भव नही हो सकती। उन्हें तो बस माया के चक्र में ही निरन्तर दण्डित किया जाता है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

अनुवाद

वेद मुख्य रूप से प्रकृति के तीनो गुणों का ही विषय करने वाले हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणो का उल्लघन करके उनसे अतीत हो जा। सम्पूर्ण द्वन्द्वो और योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मपरायण (स्वरूपनिष्ठ) बन।।४५।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

अनुवाद

छोटे जलाशय से सिद्ध होने वाले सभी प्रयोजन बड़ी जलराशि से तुरन्त पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार, वेदो का आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले के लिये उनके सब प्रयोजन पूर्ण हो जाते हैं।।४६।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

अनुवाद

तेरा अधिकार स्वधर्मरूप कर्म करने में ही है, कर्मफल मे नहीं। तू कर्मफल का हेतु कभी न हो और कर्तव्य न करने में भी तेरी आसक्ति न हो।।४७।।

तात्पर्य

यहाँ स्वधर्मरूप कर्म, विकर्म तथा अकर्म, ये तीन तत्त्व विचारणीय हैं। स्वधर्म उन कर्मों को कहते हैं, जो प्रकृतिस्थ अवस्था में शास्त्र के विधान के अनुसार किये जाते हैं। अनधिकारपूर्वक किया गया स्वेच्छामय कर्म 'विकर्म' कहलाता है तथा स्वधर्माचरण में प्रमाद 'अकर्म' है। श्रीभगवान् ने अर्जुन को निष्क्रिय न होकर

फलासक्ति के बिना स्वधर्मरूप कर्म करने का परामर्श दिया है। जिसकी कर्मफल में आसक्ति है, वही पुरुष कर्म का हेतु बनकर कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है।

स्वधर्म के तीन उपभेद हैं नित्य, आपात एवं सकाम कर्म। नित्यकर्म शास्त्र के निर्देशानुसार निस्पृह भाव से किये जाते हैं। अनिवार्य होने से ये नैमित्तिक कर्म सात्विक है। सकामकर्मों से बन्धन होता है, इसलिए ये कल्याणकारी नही है। मनुष्यमात्र का स्वधर्म मे अधिकार है, परन्तु फल में आसक्ति के बिना ही कर्म करना चाहिए। इस प्रकार का निष्काम स्वधर्माचरण निस्सन्देह मुक्तिपथ की ओर ले जाता है।

अतएव श्रीभगवान् अर्जुन को फलासक्ति को त्याग कर कर्तव्य के रूप में युद्ध करने की आज्ञा देते हैं। उसका युद्ध से उपरत हो जाना भी आसक्ति का ही एक रूप है। आसक्ति के रहते मुक्तिपथ की प्राप्ति नही हो सकती। आसक्ति अनुकूल हो या प्रतिकूल, बन्धनकारी ही सिद्ध होती है। अकर्म पापमय है। अतएव कर्तव्य के रूप मे युद्ध करना अर्जुन के लिए मुक्ति का एकमात्र कल्याणकारी मार्ग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

अनुवाद

हे अर्जुन। योग मे स्थित होकर सिद्धि-असिद्धि मे समान बुद्धि रखते हुए आसक्ति को त्याग कर स्वधर्मरूप कर्म का आचरण कर। मन का ऐसा समभाव ही योग कहलाता है।।४८।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

अनुवाद

हे धनजय। भक्तियोग के द्वारा सब प्रकार के निकृष्ट सकाम कर्मों से मुक्त होकर पूर्ण रूप से उसी बुद्धियोग की शरण हो जा। जिन्हे कर्मफल की वासना है, वे तो अत्यन्त दीन हैं।।४९।।

बुद्धियुक्त जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

अनुवाद

भगवद्भक्ति के परायण हुआ मनुष्य इसी जीवन मं पुण्य और पाप, दोनों से

मुक्त हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन! इस भक्तियोग के लिए प्रयत्न कर, क्योंकि यही कर्म-कौशल है।।५०।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

अनुवाद

भक्तियोग के परायण विवेकी पुरुष श्रीभगवान् की शरण ले लेते हैं और संसार में ही कर्मफल को त्याग कर जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार उन्हें उस अनामय पद की प्राप्ति होती है, जो सब दुःखों से परे है।।५१।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

अनुवाद

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी सघन दलदल को पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और जो सुनने योग्य है, उससे भी वैराग्य को प्राप्त होगा।।५२।।

तात्पर्य

महाभागवतों के जीवन मे ऐसे अनेक उत्तम उदाहरण उपलब्ध हैं, जिन्हें भगवद्भक्ति के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड से वैराग्य हो गया। जब मनुष्य को श्रीकृष्ण का और उनसे अपने सम्बन्ध का तत्त्वबोध होता है, तो सकाम कर्मों से स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है, चाहे वह कुशल ब्राह्मण ही क्यों न हो। भक्तपरम्परा के महान् आचार्य श्री माधवेन्द्र पुरीपाद का कथन है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो।
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्।।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः।
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे।।

"हे त्रिकाल सन्ध्या-वन्दन! तुम्हारी जय हो। हे स्नान! तुम्हें प्रणाम है। हे देवपितृगण! आपके लिए तर्पण करने में मैं अब असमर्थ हो गया हूँ। क्षमा करें। अब तो जहाँ भी मैं बैठता हूँ, यादवकुल-अवतंस कंसारि श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता हूँ और इस प्रकार करते-करते सब पापों से मुक्त हो गया हूँ। मेरे लिए यही पर्याप्त है।"

त्रिकालिक सन्ध्या, प्रातःकालिक स्नान, पितृ तर्पणादि वैदिक कर्म कनिष्ठ साधक के लिए ही अनिवार्य हैं। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित मति से श्रीकृष्णभक्ति में तत्पर हुआ भक्त इन कर्मों के प्रति बिल्कुल उदासीन हो जाता है, क्योंकि वह पहल हा कृतार्थ हो चुका है। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से ज्ञान-लाभ कर लेने पर शास्त्रो में वर्णित तप-यज्ञादि आवश्यक नहीं रहते। दूसरी ओर, जो यह जाने बिना कि वेदों का लक्ष्य श्रीकृष्णप्राप्ति है, कर्मकाण्ड में तत्पर रहता है, वह केवल समय का अपव्यय करता है। कृष्णभावनाभावितभक्त तो वेद-उपनिषदो की परिधि, शब्दब्रह्म की सीमा का भी उल्लघन कर जाते है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

अनुवाद

जिस समय तेरी बुद्धि वेदों की अलंकारमयी भाषा से विचलित हुए बिना स्वरूप-समाधि में ही अचल रहेगी, उस समय तुझे दिव्य बुद्धियोग की प्राप्ति हो जायगी।।५३।।

अर्जुन उवाच।
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो! कृष्णभावनाभावित स्थिरबुद्धि पुरुष के क्या लक्षण हैं, वह किस प्रकार बोलता है, उसकी भाषा क्या होती है, तथा वह किस प्रकार बैठता और चलता है।।५४।।

श्रीभगवानुवाच।
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

अनुवाद

मंगलमय श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! जिस काल में यह जीव मन से उत्पन्न विषय वासना को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर चित्त द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय इसे स्थिरबुद्धि कहा जाता है।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

अनुवाद

जो तीनों प्रकार के दुःखों की प्राप्ति से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, सुख मे स्पृहाशून्य रहता है, तथा जो आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त है, उसे स्थिरमनि मुनि कहा जाता है।।५६।।

तात्पर्य

मुनि उसे कहा जाता है, जो मनोधर्मी करने में मन को नाना प्रकार से उद्वेलित करने पर भी किसी तात्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके। कहा जाता है कि प्रत्येक मुनि का भिन्न मत होता है; यहाँ तक कि जिस का मत अन्य मुनियों से भिन्न न हो, उसे तो सिद्धान्तत मुनि कहा ही नही जा सकता। **नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।** परन्तु जैसा भगवान् ने यहाँ वर्णन किया है, 'स्थिरबुद्धि' मुनि साधारण मुनियों से भिन्न है। स्थिरबुद्धि मुनि सदा कृष्णभावनाभावित रहता है, क्योंकि वह मनोधर्म की प्रवृत्ति को समाप्त कर चुका है। भेदबुद्धि का उल्लघन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वासुदेव श्रीकृष्ण सर्वव्यापक हैं। वही **स्थितप्रज्ञ मुनि** कहा जाता है। ऐसा पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष त्रिविध दुःखों के आक्रमणों से विचलित नही होता। उन्हें अयाचित भगवत्कृपा समझता हुआ वह तो यही मानता है कि अपने पिछले पापों के लिए वह इससे कहीं अधिक दुःख उठाने के योग्य था। उसे अनुभूति होती है कि भगवत्कृपा से उसे नाममात्र के दुःख की ही प्राप्ति हुई है। इसी प्रकार, सुख की प्राप्ति होने पर वह अपने को उस सुख के अयोग्य मानकर सारा श्रेय श्रीभगवान् को देना है। वह अनुभव करता है कि भगवत्कृपा के प्रताप से ही उसे ऐसी सुखमयी अवस्था मिली है, जिससे वह और अच्छी प्रकार से भगवत्सेवा करने योग्य हो गया है। इस प्रकार भगवत्सेवा के लिए वह सदा-सर्वदा साहसी तथा क्रियाशील रहता है, राग-द्वेष से लिपायमान नही होता। राग का अर्थ अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी वस्तु को स्वीकार करना है, जबकि ऐसी विषयैषणा का अभाव वैराग्य कहलाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित भक्त में न राग होता है और न वैराग्य ही; उसका तो पूरा का पूरा जीवन ही श्रीकृष्ण की सेवा मे समर्पित रहता है। अतएव उद्यम के विफल होने पर भी उसे लेशमात्र क्षोभ अथवा क्रोध नहीं होता। कृष्णभावनाभावित भक्त नित्य कृतसंकल्प रहता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

अनुवाद

जो पुरुष सब ओर स्नेहरहित हुआ न तो शुभ की प्राप्ति से हर्षित होता और न अशुभ की प्राप्ति में शोक करता, वह पूर्ण ज्ञान में निष्ठ है।।५७।।

तात्पर्य

प्राकृत-जगत् में नित्य-निरन्तर शुभ-अशुभ उथल-पुथल होती रहती है। जो इससे उद्वेलित नहीं होता, शुभ-अशुभ से अप्रभावित रहता है, उस पुरुष को कृष्णभावनाभावित जानना चाहिए। जब तक संसार मे निवास है, तब तक शुभ-अशुभ की सम्भावना बनी रहेगी, क्योंकि यह जगत् द्वद्वो से पूर्ण है। परन्तु कृष्णभावनाभावित अनन्य भक्त इनसे प्रभावित नहीं होता, उसका प्रयोजन एकमात्र श्रीकृष्ण से ही रहता है, जो सर्व मगलमय है। यह कृष्णभावना शुद्ध सत्त्वमयी समाधि प्रदान करती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

अनुवाद

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, उसी भाँति जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियविषयों से हटा सकता है, उसकी बुद्धि स्थिर है, अर्थात् वह यथार्थ में परम ज्ञानी है।।५८।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

अनुवाद

इन्द्रियतृप्ति का सयम करने से बद्धजीव के विषय तो निवृत्त हो जाते है, परन्तु भोगो मे आसक्ति बनी रहती है। उत्तम रस के अनुभव से उसकी भी निवृत्ति हो जाती है और बुद्धियोग की प्राप्ति होती है।।५९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी बलवान् तथा वेगवती है कि उस विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं, जो उन्हें वश मे करने के लिए प्रयत्न कर रहा हो ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

अनुवाद

इसलिए सब इन्द्रियों का सयम करके भक्तियोग मे लगकर मेरे परायण हो जाय। जो इस प्रकार इन्द्रियो को वश में करके अपनी बुद्धि को मुझ में एकाग्र करता है, वही मनुष्य स्थिरबुद्धि है॥६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥

अनुवाद

इन्द्रियविषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम और फिर काम से क्रोध होता है॥६२॥

तात्पर्य

जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नही है, उसमें इन्द्रियविषयों के चिंतन से विषयभाग की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रियो को कुछ न कुछ कार्य चाहिए। अत यदि उन्हे भगवद्भक्ति में तत्पर नहीं रखा जायगा तो वे निश्चित रूप से भोगपरायण होना चाहेगी। अन्य स्वर्गीय देवताओ के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शिव-ब्रह्मा सहित प्राकृत-जगत् में जीवमात्र का इन्द्रियविषयों के प्रति आकर्षण है। इस प्राकृत प्रपच से मुक्ति का एकमात्र मार्ग कृष्णभावनाभावित हो जाना है। शिव ध्यानमग्न थे, पर पार्वती द्वारा विषयभोग के लिए उत्तेजित किये जाने पर वे सहमत हो गये, जिससे कार्तिकेय का जन्म हुआ। तरुण भगवद्भक्त ठाकुर हरिदास को मूर्तिमान् माया देवी ने इसी प्रकार प्रलोभित किया था, परन्तु विशुद्ध कृष्णभक्ति के प्रताप से वे अनायास उस परीक्षा में उत्तीर्ण रहे। श्रीयामुनाचार्य द्वारा रचित पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, भगवान् के साथ दिव्यानन्द के आस्वादन का रसिक शुद्ध भक्त विषयभोग का सहज ही सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर देता है। यही उसकी कृतार्थता का रहस्य है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह बाह्य रूप से इन्द्रियों का कितना भी प्रबल दमन क्यों न करे, अन्त में निश्चित रूप से विफल ही

रहेगा, क्योंकि विषय सुख का लेशमात्र चिन्तन भी उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्तेजित कर देगा।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

अनुवाद

क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है और मोह से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से ससारकूप मे फिर से पतन हो जाया करता है।।६३।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

अनुवाद

जो पुरुष संयम का अभ्यास करता हुआ इन्द्रियो को वश मे कर लेता है, वह पूर्ण भगवत्कृपा को प्राप्त करता है और इस प्रकार सब प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है।।६४।।

तात्पर्य

पूर्व श्लोकों मे कहा जा चुका है कि इन्द्रियों को भगवत्सेवा में नियुक्त किये बिना किसी कृत्रिम पद्धति के द्वारा बाह्य रूप से इन्द्रियों का नियन्त्रण कर लेने पर भी पतन की पूर्ण सम्भावना रहती है। दूसरी ओर, पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष बाह्य रूप से चाहे विषयों में ही संलग्न क्यों न दिखे, परन्तु कृष्णभावनाभावित होने से इन क्रियाओं मे आसक्त नहीं होता। श्रीकृष्ण का सन्तोष करना कृष्णभावनाभावित पुरुष का अनन्य प्रयोजन है। अतएव वह सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त रहता है। श्रीकृष्ण की इच्छा होने पर भक्त ऐसा कर्म करने में भी संकोच नहीं करता, जिसे सामान्यत अवाञ्छनीय समझा जाता हो और यदि श्रीकृष्ण की इच्छा न हो तो वह उस कर्म को भी नहीं करेगा, जिसे अपने लिए सामान्य रूप से करता हो। इसलिए किसी कर्म को करना या न करना पूर्ण रूप से उसके हाथ में है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार ही कर्म करता है। यह बुद्धियोग श्रीश्यामसुन्दर की अहैतुकी निरवधि अनुकम्पा का मूर्तरूप है, जिसकी प्राप्ति भक्त को इन्द्रियों में आसक्त होते हुए भी हो सकती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

अनुवाद

भगवत्कृपा के द्वारा बुद्धियोग से युक्त पुरुष के तीनों प्रकार के दु:ख नष्ट हो जाते हैं। ऐसे प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि भी अतिशीघ्र स्थिर हो जाती है।।६५।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

अनुवाद

जो कृष्णभावना (बुद्धियोग) से युक्त नहीं है, उसका चित्त वश मे नही होता और न ही बुद्धि स्थिर रहती है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसको शान्ति भी नहीं होती। शान्ति के बिना सुख तो किस प्रकार से होगा?।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

अनुवाद

जिस प्रकार प्रचण्ड वायु जलगामी नौका का अपहरण कर लेती है, उसी भाँति जिस भी इन्द्रिय पर मन केन्द्रित हो, वह एक ही इन्द्रिय मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है।।६७।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

अनुवाद

इसलिए हे महाबाहु! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार से इन्द्रियविषयों से वश मे की हुई हैं, उसी की बुद्धि निःसन्देह स्थिर है।।६८।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

अनुवाद

जो सब जीवों की रात्रि है, उसमें आत्मसयमी जागता है और सब प्राणी जिसमें जागते हैं, तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।।६९।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

अनुवाद

जिस प्रकार नदियों के जल से नित्य भरते रहने पर भी समुद्र अचल रहता है, उसी भाँति जो कामनाओं के अविच्छिन्न प्रवाह से विचलित नहीं होता वही पुरुष शान्ति पा सकता है, कामनाओं की पूर्ति के लिये चेष्टा करने वाला नही।।७०।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

अनुवाद

जिसने इन्द्रियतृप्ति की वासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग दिया है, जो सब प्रकार की इच्छा और ममता से मुक्त है तथा मिथ्या अहंकार को त्याग चुका है, वही पुरुष सच्ची शान्ति को पाता है।।७१।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

अनुवाद

यह दिव्य भगवत्परायण जीवन का पथ है, जिसको प्राप्त होकर फिर मोहित नही होता। अन्तकाल मे भी इस प्रकार स्थित पुरुष भगवद्धाम को प्राप्त हो जाता है।।७२।।

तात्पर्य

कृष्णभावना, अर्थात भगवत्परायण जीवन की प्राप्ति होने को क्षणभर में हो सकती है और न होने को कोटि-कोटि जन्मो तक भी न हो। यह केवल इस सत्य को समझने और अंगीकार करने पर निर्भर करता है। खट्वाग महाराज ने देहान्त के कुछ क्षण पूर्व श्रीकृष्ण के शरणागत होकर इस कृतार्थ अवस्था को प्राप्त कर लिया था। 'निर्वाण' का अर्थ है विषयपरायण-जीवन की समाप्ति। बौद्ध दर्शन के अनुसार, इस प्राकृत जीवन के अन्त में केवल शून्य शेष रह जाता है, पर भगवद्गीता की शिक्षा इससे भिन्न है। यथार्थ जीवन का तो प्रारम्भ ही इस प्राकृत जीवन का अन्त हो जाने पर होता है। घोर विषयियो के लिए इतना जानना भी पर्याप्त होगा कि इस प्राकृत

जीवन का अन्त निश्चित है। परन्तु भक्त महानुभावों के लिए इस प्राकृत-जीवन के पश्चात् एक चिन्मय जीवन भी है। इस जीवन का अन्त होने से पूर्व यदि कोई सौभाग्यवश कृष्णभावनाभावित हो जाय, तो उसे तत्क्षण **ब्रह्मनिर्वाण** पद प्राप्त हो जाता है। भगवद्धाम तथा भक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। अतएव भगवद्भक्ति में तत्पर होना भगवद्धाम मे प्रवेश करने जैसा है। प्राकृत-जगत् मे इन्द्रियतृप्ति विषयक क्रियाये घटती है, जबकि वैकुण्ठ-जगत् मे केवल कृष्णभावनाभावित कर्म होते है। जो इसी जीवन मे कृष्णभावनाभावित हो जाता है वह तत्काल ब्रह्मभूत स्तर पर पहुँच जाता है। इतना ही नही, कृष्णभावनाभावित पुरुष तो वास्तव मे देहान्त से पूर्व ही भगवद्धाम में प्रविष्ट हो चुका है।

ब्रह्मतत्त्व प्रकृति के ठीक विपरीत है। अत· **ब्राह्मी स्थितिः** का अर्थ है 'प्राकृत क्रियाओ के स्तर से अतीत अवस्था।' भगवद्गीता में भगवद्भक्ति को ही मुक्तावस्था माना गया है। अत भवबन्धन से मुक्ति का नाम **ब्राह्मी स्थिति** है।

श्री भक्तिविनोद ठाकुर के अनुसार भगवद्गीता का यह द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-तत्त्व का सारांश है। भगवद्गीता के प्रतिपाद्य है 'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। द्वितीय अध्याय मे सम्पूर्ण ग्रन्थ की अन्तर्वस्तु के रूप मे 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' का विशद निरूपण है एव भक्तियोग की अवतरणिका भी विज्ञापित है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः



कर्मयोग

(भगवत्परायण कर्म)

अर्जुन उवाच।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे जनार्दन! यदि आप सकाम कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग को श्रेष्ठ समझते है, तो फिर हे केशव! मुझे इस घोर युद्ध मे बलपूर्वक क्यो लगा रहे है?।।१।।

तात्पर्य

अपने अन्तरग सखा अर्जुन को शोक-सागर से मुक्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय में जीव के स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया है।

इस सन्दर्भ मे 'बुद्धियोग' अथवा कृष्णभावनामृत को स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग कहा गया है। कभी-कभी भ्रमवश कृष्णभावनामृत को जड़ता समझ लिया जाता है। इस भ्रान्त धारणा वाला पुरुष तो प्राय कृष्णनाम-कीर्तन के द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के लिए एकान्तवास भी करने लगता है। परन्तु कृष्णभावना के दर्शन मे भलीभाँति शिक्षित हुए बिना एकान्त मे भगवन्नाम-जप करना उचित नही है। ऐसा करने से अबोध जनता की तुच्छ अर्चना ही मिलेगी। अर्जुन भी कृष्णभावनामृत अथवा 'बुद्धियोग' का तात्पर्य यही समझा कि क्रियाशील जीवन से सन्यास ग्रहण कर एकान्त में तप-त्याग करना चाहिए। वस्तुत कृष्णभावनामृत को हेतु बनाकर वह चतुरतापूर्वक युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था। तथापि, निष्कपट शिष्य के रूप मे उसने इस विषय को अपने गुरु श्रीकृष्ण के आगे रख दिया और अपने श्रेय-साधन के सम्बन्ध मे उनसे जिज्ञासा की। उत्तरस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के तृतीय अध्याय मे 'कर्मयोग' अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

अनुवाद

आपके अनिश्चित (दुविधापूर्ण) उपदेश से मेरी बुद्धि मोहित सी हो रही है। अतएव निश्चयपूर्वक वह एक साधन कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो सके।।२।।

तात्पर्य

पूर्ववर्ती अध्याय मे भगवद्गीता के उपक्रम के रूप मे सारव्ययोग, बुद्धियोग, इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्मयोग, साधक की स्थिति आदि का वर्णन आया है। परन्तु इन सब तत्त्वो का विवेचन व्यवस्थित रूप में नहीं किया गया। कल्याण-मार्ग के ज्ञान और उसके अनुसार कर्म करने के लिए अधिक सुनियोजित दिग्दर्शन अपेक्षित है। अतएव अर्जुन इन परस्पर सम्भ्रामक लगते तत्त्वो का स्पष्टीकरण चाहता है, जिससे साधारण मनुष्य भी उन्हे यथार्थ रूप मे ग्रहण कर सके। यद्यपि श्रीकृष्ण का ऐसा कोई प्रयोजन नही था कि वे अर्जुन को वाग्चातुरी से मोहित करते, परन्तु अर्जुन यह नहीं समझ सका कि कृष्णभावना की पद्धति वास्तव मे क्या है — जड़ता (निष्क्रियता) अथवा सक्रिय भगवत्सेवा। इस प्रकार अपनी जिज्ञासा के माध्यम से अर्जुन उन सब जिज्ञासुओ के लिए कृष्णभावनामृत का पथ प्रशस्त कर रहा है, जो यथार्थ रूप में भगवद्गीता के रहस्य को धारण करने के अभिलाषी है।

श्रीभगवानुवाच।
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन! मैं पहले कह चुका हूँ कि स्वरूप-साक्षात्कार करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते है। उनमें से कुछ तो श्रीभगवान् को जानने के लिए सांख्ययोग में प्रवृत्त रहते हैं, जबकि दूसरे भक्तियोग से उनका ज्ञान प्राप्त करते है।।३।।

तात्पर्य

द्वितीय अध्याय के उनतालिसवे श्लोक में श्रीभगवान् ने 'सांख्ययोग' तथा 'कर्मयोग' अथवा 'बुद्धियोग'—इन दोनों पद्धतियों का उल्लेख किया है। इस श्लोक मे वे उसी का अधिक विशद वर्णन कर रहे है। मनोधर्म तथा अनुभवसिद्ध ज्ञान-दर्शन मे प्रवृत्त हुए व्यक्तियों के लिए सांख्ययोग उपयुक्त है। दूसरे प्रकार के मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्म करते हैं, जैसा द्वितीय अध्याय के इकसठवे श्लोक मे कहा है। उनतालिसवे श्लोक में श्रीभगवान् ने यह भी कहा है कि 'बुद्धियोग' अथवा कृष्णभावना के अनुसार कर्म करने से कर्मबन्धन मे मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, इस पद्धति में कोई प्रत्यवाय रूप दोष भी नही होता। ६१ वे श्लोक मे इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है—बुद्धियोग का अर्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण की पूर्ण आश्रयता ग्रहण करना है। इस विधि से अनायास ही इन्द्रियदमन भी हो जाता है। अत धर्म तथा दर्शन के रूप में दोनो योग अन्योन्याश्रित है। दर्शन-विहीन धर्म भावुकतामात्र है, जो कदाचित् धर्मान्धता में भी परिणत हो जाता है। दूसरी ओर, जो दर्शन धर्म से युक्त न हो, वह वस्तुत मनोधर्म है। श्रीकृष्ण सभी के ऐकान्तिक लक्ष्य है, क्योंकि जो परतत्त्व के यथार्थ जिज्ञासु हैं वे सब दार्शनिक अन्त मे कृष्णभावनाभावित हो जाते है। भगवद्गीता में यह भी प्रतिपादित है। परमात्मा के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना इस सम्पूर्ण पद्धति का सार है। मनोधर्म का मार्ग सीधा नही है, क्योंकि उसके द्वारा कृष्णभावनामृत की प्राप्ति शनै-शनै ही हो सकती है। परन्तु कृष्णभावना के द्वारा श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष रूप मे कृष्णभावना का मार्ग अधिक उत्तम है क्योंकि वह किसी दार्शनिक पद्धति के द्वारा इन्द्रिय-शुद्धि करने पर निर्भर नहीं करता। कृष्णभावनामृत का पथ स्वयं शुद्धिकारक है तथा भगवद्भक्ति की सीधी पद्धति से युक्त होने के कारण से सुगम भी है और उदात्त भी।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अनुवाद

केवल कर्म न करने से ही कर्मबन्धन से मुक्ति नही हो जाती और न ही केवल संन्यास से कृतार्थता होती है।।४।।

तात्पर्य

विषयी मनुष्यों के हृदय को शुद्ध करने के लिए जिन स्वधर्मरूप कर्मों का विधान किया गया है, उनके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे। शुद्धिकरण के बिना अकस्मात् संन्यासाश्रम ग्रहण कर लेने से कल्याण नही होता। ज्ञानी दार्शनिकों के अनुसार सन्यास ग्रहण करने, अर्थात् सकाम कर्मों का निवर्तन कर देने मात्र से नारायणत्व की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण इस मत का अनुमोदन नही करते। हृदय-शुद्धि से पूर्व लिया गया सन्यास सामाजिक व्यवस्था मे उत्पातकारी ही सिद्ध होता है। दूसरी ओर, यदि कोई स्वधर्म की उपेक्षापूर्वक भगवद्भक्ति में तत्पर हो जाय तो उस दिशा मे वह जो कुछ भी साधन (बुद्धियोग) करता है, प्रभु उसे सोल्लास स्वीकार कर लेते हैं। **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**— 'इस धम का अल्प सा साधन भी महान् भय से रक्षा कर लेता है।'

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

अनुवाद

सब मनुष्य प्रकृति के गुणो की प्रेरणा के अनुसार परवश हुए कर्म करते है। इसलिए कोई भी क्षणमात्र के लिए भी कर्म किए बिना नही रह सकता।।५।।

तात्पर्य

आत्मा की सक्रियता का बद्ध जीवन से कोई सम्बन्ध नही, वह तो स्वभाव से ही नित्य क्रियाशील है। आत्मा की उपस्थिति के बिना प्राकृत कलेवर कुछ भी चेष्टा नहा कर सकता। देह तो एक चेतनाशून्य वाहनमात्र है, जिसे नित्य क्रियाशील आत्मा क्रियान्वित रखता है। अतएव आत्मा के लिए कृष्णभावनाभावित सत्कर्मो के परायण होना आवश्यक है, अन्यथा वह माया द्वारा निर्दिष्ट कार्यों में व्यस्त हो जायगा। माया के ससर्गवश दिव्य होने पर भी आत्मा प्राकृत गुणो को ग्रहण कर लेता है। इस दुःसग के दुष्प्रभाव से आत्मा को शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्र-विहित स्वधर्म का आचरण किया जाय। परन्तु यदि आत्मा अपने स्वरूपभूत

कर्म—कृष्णभावना मे ही तत्पर है, तो वह जो कुछ भी करता है, वह उसके कल्याण के लिए पर्याप्त है। श्रीमद्भागवत से सिद्ध है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

'कृष्णभावना को अंगीकार करके जो मनुष्य शास्त्र के अनुसार स्वधर्म-पालन तो नही करता, परन्तु साथ मे, भक्तियोग का भी भलीभाँति सम्पादन नही कर पाता, वह यदि पतित भी हो जाय, तो भी उसकी हानि नही होगी। इसके विपरीत यदि आत्मशुद्धि के लिए शास्त्रीय-विधान का पालन किया जाय, तो भी कृष्णभावना के अभाव मे उस सबसे क्या लाभ?' (श्रीमद्भागवत १ ५ १७)

अतएव शुद्धि कर्मों की सार्थकता इसी मे है कि कृष्णभावना की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार सिद्ध होता है कि सन्यास आदि सब शुद्धि की पद्धतियो का चरम लक्ष्य कृष्णभावनाभावित होने मे सहायता प्रदान करना है, जिसके बिना सम्पूर्ण उद्यम विफल हो जाते है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

अनुवाद

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियो का हठ से दमन करके मन से इन्द्रिय-विषयो का चिन्तन करता है, वह निस्सन्देह अपने को भ्रम में डालता है और मिथ्याचारी कहलाता है।।६।।

तात्पर्य

ऐसे अनेक कपटी है, जो कृष्णभावनाभावित कर्म नही करते, वरन् ध्यान का पाखण्ड करते हुए चित्त द्वारा विषय-चिन्तन मे ही तन्मय रहते है। भ्रान्त अनुयायियो को छलने के लिए वे नीरस दर्शन पर भी प्रवचन किया करते है। परन्तु इस श्लोक के अनुसार इन्हें परम धूर्त ही जानना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए समाज मे कोई भी कपट-रूप धारण कर लेना बड़ा सरल है, परन्तु यदि स्वधर्म का पालन किया जाय, तो क्रमशः आत्मशुद्धि हो सकती है। इसके विपरीत, अपने को 'योगी' बताता हुआ भी जो इन्द्रियतृप्ति-दायक भोगो का अन्वेषण किया करता है वह भले कभी-कभी दर्शन पर प्रवचन भी क्यो न करे, उसे परम धूर्त ही जानना चाहिए। उसके मिथ्या ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं, श्रीभगवान् की मायाशक्ति ऐसे पापाचारी के ज्ञान की सम्पूर्ण गरिमा को हर लेती है। मिथ्याचारी का चित्त नित्य मलिन रहता है। [illegible]

उसका यौगिक-ध्यान का ढोंग कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

अनुवाद

दूसरी ओर, जो मनुष्य मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा भक्तिभावित कर्म करता है, वह अति श्रेष्ठ है।।७।।

तात्पर्य

लम्पट जीवन और इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से ध्यानयोगी का मिथ्या वेष धारण करने के स्थान पर स्वधर्म का पालन करते हुए जीवन के लक्ष्य—भवबन्धन से छूट कर भगवद्धाम को प्राप्त करने के लिए साधन करना कहीं उत्तम है। श्रीविष्णु की प्राप्ति ही परम स्वार्थ-गति है। सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म का उद्देश्य जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति में हमें सहायता प्रदान करना है। कृष्णभावनाभावित नियमित सेवा करने से गृहस्थी भी इस गति को प्राप्त हो सकता है। स्वरूप-साक्षात्कार के लिए शास्त्र के अनुसार संयमित जीवन यापन करते हुए अनासक्त भाव से स्वधर्माचरण करने पर परमार्थ सुलभ हो जाता है। अतएव जो पुरुष निष्कपट भाव से इस विधि का अनुगमन करता है, वह उस मिथ्याचारी से अति श्रेष्ठ है जो अबोध जनता को ठगने के उद्देश्य से कृत्रिम आध्यात्मिकता धारण किए रहता है। जीविका के लिए ध्यान लगाने वाले प्रवचक ध्यानी से तो निश्छल झाड़ू लगाने वाला भी अच्छा है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

अनुवाद

इसलिए तू स्वधर्म रूप कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।।८।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।९।।

अनुवाद

श्रीविष्णु के लिए यज्ञरूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा कर्म से इस

प्राकृत-जगत् में बन्धन होता है। इसलिए हे अर्जुन! श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म का आचरण कर। इस प्रकार करने से तू नित्य अनासक्त तथा बन्धनमुक्त रहेगा।।९।।

तात्पर्य

केवल शरीर धारण करने के लिए भी कर्म की आवश्यकता को देखते हुए विभिन्न वर्णाश्रमो के लिए स्वधर्मरूप कर्म का विधान किया गया है जिससे उस प्रयोजन की पूर्ति हो सके। **यज्ञ** शब्द भगवान् विष्णु का भी वाचक है। सब यज्ञो का लक्ष्य श्रीविष्णु को प्रसन्न करना है। वेद की वाणी—**यज्ञो वै विष्णुः**, अर्थात् यज्ञ एव विष्णुभक्ति का लक्ष्य एक ही है। अतएव इस श्लोक से सिद्ध होता है कि कृष्णभावनामृत यज्ञ है। श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम धर्म का भी यही लक्ष्य है। **वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते।** (विष्णु पुराण ३.८.८) अतएव श्रीविष्णु के सन्तोष के लिए कर्म करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, अन्य सब कर्म बन्धनकारक सिद्ध होंगे, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्मों का अपना-अपना फल होता है, जो कर्ता के लिए बन्धनकारी है। अत. श्रीकृष्ण (विष्णु) की प्रीति के लिए कृष्णभावनाभावित कर्म ही करे। इस कोटि के कर्म करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। यही महान् कर्म-कौशल है। प्रारम्भिक अवस्था मे इस पद्धति के लिए अतिशय कुशल परामर्श अपेक्षित रहता है। इसलिए कृष्णभक्त अथवा जिनके आश्रय मे अर्जुन को कर्म करने का सुअवसर प्राप्त हुआ—उन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अनुसार सोत्साह कर्म करे। इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई भी क्रिया न करे, सब कर्म श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ ही हो। इस अभ्यास के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्ति ही नही होगी, वरन् उस भगवद्भक्ति की प्राप्ति भी होगी, जो भगवद्धाम मे प्रवेश करने का ऐकान्तिक पथ है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

अनुवाद

सृष्टि के आदि में प्रजापति ने श्रीविष्णु के लिए लक्ष्य वाले यज्ञ के साथ मनुष्यो और देवताओ को रचकर उन्हे यह आशीर्वाद दिया, 'इस यज्ञ द्वारा सुखोपभोग करो, इसके करने से तुम्हे सब वाँछित पदार्थों की प्राप्ति होगी'।।१०।।

तात्पर्य

प्रजापति (विष्णु) ने इस प्राकृत सृष्टि की रचना करके बद्धजीवों को अपने

यथार्थ घर—भगवद्धाम को लौटने का सुअवसर प्रदान किया है। भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भुला देने के कारण जगत् के सब जीव माया में बँधे हुए है। इस शाश्वत् सम्बन्ध को जानने मे हमारी सहायता करना वेदो का लक्ष्य है। जैसा गीता में कहा है, **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।** भगवान् की श्रीमुख वाणी है कि उन्हें जानना ही वेदों का लक्ष्य है। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि **पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्।** अस्तु, भगवान् श्रीविष्णु प्रजापति हैं। श्रीमद्भागवत (२.४ २०) में भी श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उन्हे नाना रूपो में 'पति' अर्थात् स्वामी कहा है—

श्रियःपतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चांधकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः।।

भगवान् विष्णु प्रजापति हैं, वे ही सब जीवों, सब लोको तथा श्री के पति एवं सर्व-सरक्षक है। उन्होने इस प्राकृत-जगत् की रचना इसलिए की है जिससे बद्धजीवो को उन की प्रीति के लिए यज्ञ करने की शिक्षा मिल जाय। इससे वे ससार मे त्रितापदग्ध हुए बिना सुखपूर्वक रह सकेंगे और देहान्त हो जाने पर भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जायेंगे। यह मायाबद्ध जीव के लिए भगवान् की पूरी योजना है। यज्ञ के द्वारा बद्धजीव उत्तरोत्तर कृष्णभावनाभावित होकर सब प्रकार से देवोपम बन जाते है। वर्तमान कलियुग के युगधर्म के रूप में वेदो मे 'सकीर्तन यज्ञ' का विधान है। अतएव इस युग के सब जीवो का उद्धार करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस अलौकिक पद्धति का प्रवर्तन किया। वस्तुत. सकीर्तन यज्ञ और कृष्णभावना का युगल बडा सुन्दर है। श्रीमद्भागवत में सकीर्तनयज्ञ के विशिष्ट सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तरूप (श्रीचैतन्य महाप्रभु) का वर्णन है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।।

"कलियुग मे यथार्थ बुद्धिमान् मनुष्य सकीर्तनयज्ञ के द्वारा पार्षदो सहित भगवान् श्रीगौरहरि की आराधना करते है।" (श्रीमद्भागवत ११ ५.२९) इस कलियुग में अन्य किसी वैदिक यज्ञ का सपादन सम्भव नही रहा है। परन्तु सकीर्तनयज्ञ तो आज भी सर्वभीष्ट-सिद्धि के लिए अतिशय सुगम और प्रभविष्णु (उदात्त) है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

अनुवाद

यज्ञों से प्रसन्न होकर देवता तुम्हें भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के पोषण से सर्वत्र सबके लिए समृद्धि हो जायगी।।११।।

तात्पर्य

देवता संसार के शक्ति-निक्षिप्त प्रशासक हैं। जीवमात्र को देह धारण करने के लिए वायु, जल, प्रकाशादि तत्त्वों की आवश्यकता है। इनकी आपूर्ति का उत्तरदायित्व देवताओं पर है। ये असंख्य देवता विराट् भगवत् विग्रह के अंग-प्रत्यंग में अवस्थित भगवत्सेवक हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्य के यज्ञ करने पर निर्भर है। यद्यपि कुछ यज्ञ विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, तथापि सभी यज्ञों में मुख्य भोक्ता के रूप में भगवान् विष्णु की ही आराधना सम्पन्न होती है। स्वयं भगवद्गीता में कहा है कि स्वयं श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता है—**भोक्तारं यज्ञ तपसाम्**। अतएव अन्त में 'यज्ञपति' का सन्तोष सब 'यज्ञों' का मुख्य प्रयोजन है। इन यज्ञों का भलीभाँति संपादन होने पर विविध सभरण विभागों के अध्यक्ष देवता अपने-आप प्रसन्न हो जाते हैं; फिर किसी भी प्राकृतिक पदार्थ का अभाव नहीं रहता।

यज्ञों के ऐसे अनेक आनुषंगिक लाभ भी हैं, जिनसे अन्त में बन्धनमुक्ति हो जाती है। वेदानुसार, यजन से सब क्रियाओं का परिष्कार होता है—

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ।
ध्रुवाः स्मृतिः स्मृति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।

यजन द्वारा आहार शुद्ध हो जाता है तथा आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है। सत्त्व-शुद्धि से स्मृति के सूक्ष्म भावों की शुद्धि होती है, जिससे मुक्ति-पथ के चिन्तन की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इस समग्र पद्धति से कृष्णभावना उद्भावित हो उठती है, जो वर्तमान विश्व की महती आवश्यकता है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

अनुवाद

नाना प्रकार के जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकारी देवता यज्ञ से प्रसन्न होकर मानव की सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर देते हैं। इसलिए जो पुरुष उनके द्वारा दिये गये भोगों को उन्हें पुनः अर्पण किये बिना भोगता है, वह निश्चित चोर है।।१२।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

अनुवाद

यज्ञ से बचे अन्न का भोजन करने वाले भगवद्भक्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। पर जो इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।।१३।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

अनुवाद

सब प्राणी अन्न से जीवन धारण करते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से होती है तथा यज्ञ स्वधर्म से प्रकट है।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

अनुवाद

स्वधर्म रूप कर्मों का विधान वेदो मे है तथा वेद साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से प्रकट हुए है। इसलिए सर्वव्यापी परब्रह्म यज्ञ मे नित्य प्रतिष्ठित है।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **यज्ञार्थकर्म** अथवा श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्म करने की महिमा का अधिक स्पष्ट वर्णन है। यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के सन्तोष हेतु कर्म करने के लिए हमें ब्रह्म' अर्थात् अपौरुषेय वेदों से कर्म विधान जानना होगा, क्योंकि वेद ही कर्म-विधि की संहिता हैं। वेदाज्ञा के बिना सम्पादित क्रिया को 'विकर्म' अथवा पाप कहते हैं। अतएव कर्मबन्धन मुक्ति के लिए वेद-निर्देश सदा ग्रहणीय हैं। जिस प्रकार साधारण जीवन में राज के नियमानुसार कर्म किया जाता है; उसी भाँति, श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार ही कर्म करना है। ये वैदिक-विधान स्वय श्रीभगवान् के निःश्वास से प्रकट हुए हैं। प्रसिद्ध कथन है: **अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः साम वेदोऽथर्वांगिरसः।** 'ऋक्', 'साम', 'यजुः' और 'अथर्व'—ये चारों वेद श्रीभगवान् के निःश्वास सहित प्रकट हुए हैं। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् निःश्वास द्वारा भी बोल सकते हैं। ब्रह्मसंहिता से प्रमाणित है कि श्रीभगवान् अपने किसी भी अंग से अन्य सब अगों की क्रिया करने की सामर्थ्य रखते है, अर्थात् वे

अपने निःश्वास से प्रवचन तथा दृष्टिमात्र से गर्भाधान कर सकते हैं। वास्तव मे कहा जाता है कि उन्होंने माया पर दृष्टिनिपात करके उसमें सब जीवों का गर्भाधान किया और इसके अनन्तर वैदिक ज्ञान के रूप में बद्धजीवो के लिए भगवद्धाम के मार्ग का निर्देश किया। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि मायाबद्ध जीव इन्द्रियतृप्ति के लिए आतुर हैं। परन्तु वैदिक निर्देश इस विधि से निर्मित हैं कि अपनी विकृत कामनाओं की पूर्ति से मिलने वाले मिथ्या आनन्द को भोगकर जीव अन्त में भगवद्धाम को फिर प्राप्त हो जाय। इस प्रकार बद्ध जीवो को मुक्ति का सुअवसर दिया गया है। अत· बद्धजीव को यज्ञक्रिया का अभ्यास करने के लिए कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिए। जो वैदिक-विधान का पालन नहीं कर सकते, वे मनुष्य भी कृष्णभावना को अगीकार कर सकते हैं। कृष्णभावना से सम्पूर्ण वैदिक यज्ञकर्मों का प्रयोजन सिद्ध हो जायगा।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो मनुष्य वेद की इस यज्ञ-व्यवस्था का अनुसरण नही करता, उसका जीवन निस्सन्देह पापमय है, क्योंकि जो इन्द्रियतृप्ति के परायण रहता है वह व्यर्थ ही जीता है।।१६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने धन को ही सब कुछ मानने वाली उस विचारधारा का तिरस्कार किया है, जिसके अनुसार कठोर परिश्रम के द्वारा इन्द्रियतृप्ति में रमण करना उत्तम समझा जाता है। अतएव जो इस प्राकृत-जगत् को भोगना चाहते हैं, उनके लिए ही पूर्वोक्त यज्ञचक्र का अनुसरण करना सर्वथा आवश्यक है। इस विधान की अवज्ञा करने वाला महान् विपत्ति को आमन्त्रित कर रहा है, क्योंकि वह उत्तरोत्तर अधिक पाप से लिप्त होता जाता है। प्रकृति के नियमानुसार यह मानव शरीर विशेष रूप से स्वरूप-साक्षात्कार के लिए मिलता है। इसके तीन मार्ग हैं—'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। पाप-पुण्य से मुक्त हुए योगियो के लिए यज्ञादि-विधान का दृढ अनुसरण आवश्यक नही रहता। परन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के परायण है, उनके लिए पूर्वोक्त यज्ञचक्र के साधन से आत्मशुद्धि करना अनिवार्य है। कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं। जो कृष्णभावनाभावित नहीं है , वे निश्चय ही विषय-परायण हैं। अत उनके लिए पुण्यकर्मों का सम्पादन आवश्यक है। यज्ञ व्यवस्था इस प्रकार

सुनियोजित है कि विषयी लोग इच्छा-पूर्ति करते हुए भी इन्द्रिय-तृप्तिजनित बन्धन में न पड़ें। विश्व की समृद्धि हमारे प्रयत्न पर नहीं, अपितु देवताओं द्वारा सम्पादित श्रीभगवान् की पूर्व व्यवस्था पर निर्भर है। इसीलिए वेदों में विभिन्न यज्ञों का भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए विधान है। परोक्ष रूप से यह भी कृष्णभावनामृत का ही अभ्यास है क्योंकि यज्ञवित् यथासमय कृष्णभावनाभावित हो जायगा, यह निश्चित है। परन्तु यदि यज्ञों का अनुष्ठाता कृष्णभावनाभावित न हो पाये, तो यह सिद्धान्त नैतिक आचार मात्र रह जाता है। अतः अपनी प्रगति को नैतिक आचार तक ही सीमित न रखते हुए, उसका उल्लंघन करके कृष्णभावनामृत की प्राप्ति करनी चाहिए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

अनुवाद

परन्तु जो पुरुष आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है, जो आत्मप्रकाश से युक्त है और जो आत्मा में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।।१७।।

तात्पर्य

जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है और अपने कृष्णभावनाभावित कर्मों में ही पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उस पुरुष के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। कृष्णभावना मे तन्मयता के कारण उसके हृदयगत मल का तत्काल शोधन हो जाता है। ऐसी अन्तर्शुद्धी वस्तुतः हजारों यज्ञों का फल है। इस प्रकार मति का शोधन हो जाने पर श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध में पूर्ण आस्था का उदय हो जाता है। भगवत्कृपा से कर्तव्य स्वय प्रकाशित हो जाता है, जिससे वेद-विधान के प्रति कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। ऐसे कृष्णभावनाभावित महज्जन की सांसारिक कर्मों में लेशमात्र रुचि शेष नहीं रहती और न ही मदिरा, कामिनी आदि मोहांधताओं में उसे आनन्द की अनुभूति होती है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

अनुवाद

स्वरूपज्ञानी महानुभाव के लिए स्वधर्म के आचरण में कोई स्वार्थ नहीं रहता, और कर्म न करने का भी उसके लिए कोई कारण नहीं होता। किसी अन्य प्राणी की

आश्रयता भी उसे अपेक्षित नही रहती।।१८।।

तस्मादसक्त : सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

अनुवाद

इसलिए कर्मफल मे अनासक्त भाव से कर्तव्य की भाँति कर्म करना चाहिए क्योकि अनासक्त होकर कर्म परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला है।।१९।।

तात्पर्य

भक्तों के लिए 'परमलक्ष्य' भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा निर्विशेषवादियो के लिए मुक्ति है। अतएव जो पुरुष सद्गुरु के मार्गदर्शन मे फलासक्ति के बिना श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए, अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह जीवन के परमलक्ष्य की दिशा में निस्सन्देह प्रगति करता है। अर्जुन से कुरुक्षेत्र मे श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ युद्ध करने को कहा गया है, क्योंकि श्रीकृष्ण की ऐसी ही इच्छा है। पुण्यात्मा अथवा अहिंसक होना भी एक प्रकार की वैयक्तिक आसक्ति है। वस्तुत भगवान् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करना ही फलासक्ति से रहित कर्मयोग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी को परमोच्च कर्मसिद्धि कहा है। नियत यज्ञों के समान वैदिककर्म भी इन्द्रियतृप्ति में बने पापो की निवृत्ति के लिए किये जाते है। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सब प्रकार के शुभ-अशुभ फल से मुक्त है। कृष्णभावनाभावित भक्त में लेशमात्र भी फलासक्ति नहीं रहती, वह तो बस श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्म करता है। अतएव सब प्रकार के कर्म करते रहने पर भी वह सर्वथा अनासक्त है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

अनुवाद

जनक आदि राजा भी कर्म द्वारा ही ससिद्धि को प्राप्त हुए है। इसलिए लोकसग्रह के उद्देश्य से भी तू स्वधर्म रूप कर्म को करने के ही योग्य है।।२०।।

तात्पर्य

जनक आदि राजर्षि आत्मज्ञानी थे। इसलिए उनके लिए वैदिक कर्म का आचरण आवश्यक कर्तव्य नहीं था। तथापि लोकशिक्षा के लिए उन्होंने सब नियत कर्मों का भलीभाँति आचरण किया। जनक श्रीसीताजी के पिता और भगवान् श्रीराम के श्वसुर थे। महाभागवत होने से उनकी स्थिति लोकोत्तर थी, फिर भी मिथिला के

अधिपति के रूप में वे अपनी प्रजा को धर्मयुद्ध की शिक्षा देते थे। वे और उनके प्रजाजन जनसाधारण को इस बात की शिक्षा प्रदान करने के लिए युद्ध करते थे कि सद्परामर्श के विफल हो जाने पर कभी-कभी हिंसा भी आवश्यक हो जाती है। कुरुक्षेत्र-युद्ध से पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं युद्ध के निवारणार्थ अशेष उद्योग किया, किन्तु विपक्ष युद्ध के लिए सब प्रकार से कृतसकल्प था। अत ऐसे धर्ममय उद्देश्य के लिए युद्ध आवश्यक है। यद्यपि कृष्णभावनाभावित पुरुष के लिए ससार लेशमात्र भी रुचिकर नही रहता, तब भी जनता को जीवन-यापन तथा कर्म करने की शिक्षा देने के लिए वह कर्म करता है। जैसा अगले श्लोक मे कहा गया है, कृष्णभावना का मर्मज्ञ पुरुष अपने कार्य-कलाप के द्वारा ऐसा आदर्श स्थापित करता है जिसका अन्य मनुष्य अनुसरण कर सके।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

अनुवाद

महापुरुष जो-जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुसरण करते है। वह पुरुष अपने विलक्षण कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसके अनुसार कार्य करता है।।२१।।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

अनुवाद

हे पार्थ! त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नही है; न तो मुझे किसी पदार्थ का अभाव है और न आवश्यकता ही है। फिर भी मैं कर्म में ही तत्पर हूँ।।२२।।

तात्पर्य

वेदों में श्रीभगवान् का यह वर्णन है:

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

'परमेश्वर श्रीकृष्ण सब ईश्वरों के परम महेश्वर एवं सभी देवताओं के परमोच्य देव हैं। सभी उनके आधीन हैं। जीवात्मा स्वयं परतत्त्व नहीं है, परन् उनकी विशिष्ट शक्ति के स्रोत श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण देवताओं के आराध्य तथा समस्त नियन्ताओं के भी नियन्ता हैं। अतएव जगत् के लोकनायकों और ईश्वरों से अतीत होने के कारण वे सर्ववन्दनीय हैं। उनसे अधिक कोई नहीं है, वे ही सब कारणों के परम कारण हैं।'

'भगवान् का श्रीविग्रह साधारण जीवात्मा के देह के समान नहीं है। उनके देह एवं आत्मा में भेद नहीं है, क्योंकि वे अद्वय-तत्त्व हैं। प्रभु की सब इन्द्रियाँ भी चिन्मय हैं। इसीलिए उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियों का कार्य कर सकती है। अतः उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नही हो सकता। वे विविध शक्तियों से युक्त हैं एवं उनकी लीला स्वाभाविक क्रमानुसार अपने-आप सम्पादित होती है।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.७-८)

श्रीभगवान् में सम्पूर्ण ऐश्वर्य यथार्थत. परिपूर्णतम रूप मे प्रकाशित रहते हैं। अत. उनके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य का विधान फलेप्सु के लिए ही है। जिसके लिए त्रिभुवन में कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, उसके लिए निस्सन्देह कुछ भी कर्तव्य नहीं हो सकता। फिर भी, क्षत्रियनायक होने के नाते भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध में तत्पर हैं, क्योंकि आर्त को आश्रय देना क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। शास्त्राज्ञा से सर्वथा परे होने पर भी श्रीभगवान् शास्त्र-विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

अनुवाद

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ, तो हे पार्थ! सब मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे।।२३।।

तात्पर्य

पारमार्थिक उन्नति के लिए आवश्यक सामाजिक शान्ति बनाए रखने के हेतु ऐसे अनेक परम्परागत कुलाचार हैं, जिनका सभी सभ्य मनुष्यों को पालन करना चाहिए। ये विधि-विधान वस्तुतः मायाबद्ध जीवों के लिए ही हैं, श्रीकृष्ण के लिए नहीं। परन्तु धर्म की स्थापना के लिए अवतरित होने पर उन्होंने इन सभी नियमों का पालन किया। अन्यथा, साधारण मनुष्य भी उनका अनुकरण करते हुए कर्म का त्याग कर देते, क्योंकि वे परमप्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अपने घर में और

बाहर भी गृहस्थोचित धर्म का पूर्ण रूप से आचरण करते थे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

अनुवाद

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक नष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर का कारण बनकर सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशक बनूँ।।२४।।

तात्पर्य

वर्णसकर सामाजिक शान्ति में विघ्न उपस्थित करते है। इस सामाजिक उपद्रव के निवारणार्थ ऐसे विधि-नियमो का विधान है, जिनसे जनता स्वत शांति तथा परमार्थ के लिए व्यवस्थित हो सके। जब भगवान् श्रीकृष्ण अवतरित होते है तो इन महत्त्वपूर्ण कर्मों की गरिमा और महिमा को बनाए रखने के लिए वे स्वय भी इनका पालन करते हैं। प्रभु सब जीवो के पिता है, इसलिए यदि जीव पथभ्रान्त हो जाय तो इसका दायित्व एक प्रकार से उन्ही पर है। अतएव जब-जब समाज मे व्यापक रूप से धर्म की उपेक्षा होने लगती है, तब-तब श्रीभगवान् स्वय अवतरित होकर समाज-सुधार करते है। परन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि हमे श्रीभगवान् के चरणचिह्नों का अनुसरण ही करना है, उनका अनुकरण करने मे हम बिल्कुल असमर्थ है। 'अनुसरण' तथा अनुकरण' मे गम्भीर भेद है। भगवान् श्रीकृष्ण की गोवर्धन-धारण लीला का हम अनुकरण नहीं कर सकते। मानव के लिए यह करना असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि उनकी अतिमानवीय लीला का कदापि अनुकरण न करते हुए उनकी शिक्षा का नित्य अनुसरण करना चाहिए। श्रीमद्भागवत मे कहा है·

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्।।
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्।।

"श्रीभगवान् एवं उनके शक्ति-निक्षिप्त सेवकों की शिक्षा ही आशरणीय है। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा हमारे लिए कल्याणकारी है। अत बुद्धिमान् निस्सन्देह उसका यथारूप पालन करता है, पर उनके समान आचरण करने का प्रयत्न कभी न करे। शिव के समान विषसागर पीने का प्रयास कोई न करे।" (श्रीमद्भागवत १०.३३.३१-३२)

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जो प्रभाकर-भास्कर की गति के भी नियन्ता हैं, उन ईश्वरों की स्थिति हमसे कहीं श्रेष्ठ है। ईश्वरशक्ति के अभाव मे सर्वशक्तिमान् ईश्वरों के समान आचरण कोई नहीं कर सकता। भगवान् शिव सागर के परिमाण में विष का पान कर गए, जबकि यदि कोई साधारण मनुष्य उस विष के विन्दु-मात्र को भी पीने का प्रयत्न करे तो वह तत्क्षण मृत्यु का ग्रास हो जाय। भगवान् शिव के अनेक कपटी भक्त उनका अनुकरण करते हुए गांजा आदि मादक द्रव्यों के सेवन के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि भगवान् शिव का इस प्रकार अनुकरण करके वे स्वयं अपनी मृत्यु के कारण बन रहे हैं। इसी भाँति, भगवान् श्रीकृष्ण के भी ऐसे अनेक कपटी भक्त हैं, जो उनके समान रासलीला तो करना चाहते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि उन्ही भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन-धारण भी किया था, जो उनकी शक्ति से बाहर की बात है। अतएव ईश्वरों के आचरण का अनुकरण न करते हुए उनकी शिक्षा का अनुसरण करना ही परम श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त, पर्याप्त योग्यता के बिना उनके स्थान को ग्रहण करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिये। तथापि, वर्तमान समय में ऐसे अनेक 'भगवत्-अवतार' प्रचलित हैं, जिनमें भगवत्-शक्ति का सर्वथा अभाव है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

अनुवाद

जिस प्रकार फल में आसक्त अज्ञानी कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी भी अनासक्त भाव से लोक-शिक्षा के लिये कर्म करे।।२५।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

अनुवाद

ज्ञानी पुरुष सकाम कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, अर्थात् उन्हें कर्म से विमुख न करे; वरन् अपने आचरण से उन्हें भक्तिभाव के साथ कर्म करने में ही लगाये।।२६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

अनुवाद

सम्पूर्ण कर्म वास्तव प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पादित होते है; परन्तु गुणो से उत्पन्न अहकार से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।।२७।।

तात्पर्य

यदि एक कृष्णभावनाभावित पुरुष और एक विषयी, ये दोनों समान कर्म में प्रवृत्त हो, तो यद्यपि ऐसा लगेगा कि दोनों समान स्तर पर कार्य कर रहे है, परन्तु वास्तव मे दोनों की स्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। विषयी में मिथ्या अहंकारवश यह मान्यता रहती है कि सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता वह स्वयं है। वह यह नही जानता कि इस देह की रचना प्रकृति ने की है, जो भगवान् श्रीकृष्ण की अध्यक्षता मे कार्य करती है। विषयी इस सत्य से अनभिज्ञ रहता है कि अन्तिम रूप में वह सब प्रकार से श्रीकृष्ण के आधीन है। इस प्रकार का मिथ्या अहंकारी समझता है कि वह सब कुछ स्वय स्वतन्त्र रूप से करता है। यह अविद्या का लक्षण है। वह नही जानता कि यह स्थूल-सूक्ष्म शरीर श्रीभगवान् के निर्देशानुसार माया द्वारा रचित है और इसलिए सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक कर्मों के द्वारा उसे कृष्णभावना—कृष्णसेवा में ही तत्पर रहना चाहिए। अज्ञानी भूल जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण हृषीकेश हैं, अर्थात् देह की इन्द्रियो के अधीश्वर है। सुदीर्घ काल तक विषयभोग करने में इन्द्रियों का दुरुपयोग करने से उत्पन्न हुये अहकार द्वारा जीव मोहित हो रहा है। इसी कारण उसे श्रीकृष्ण मे अपने नित्य सम्बन्ध का विस्मरण हो जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

अनुवाद

परन्तु हे महाबाहु! जो भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म में भेद को भली प्रकार से जानता है, वह तत्त्वज्ञानी इन्द्रियों और इन्द्रियतृप्ति के परायण नही होता।।२८।।

तात्पर्य

तत्त्ववेत्ता निश्चित रूप से जानता है कि विषयसग उसके स्वरूप के प्रतिकूल है। वह जानता है कि उसका स्थान इस प्राकृत-जगत् मे नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश है। सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् के भिन्न-अश के रूप मे अपने स्वरूप के ज्ञान के साथ ही उसे यह भी अनुभूति होती है कि जिस किसी कारणवश वह देहात्मबुद्धि के बन्धन में पड़ गया है। शुद्ध स्वरूप में

उसका कार्य अपने कर्मों को श्रीकृष्ण के भक्तियोग में नियोजित करना है। अतएव वह कृष्णभावनाभावित कर्मों में ही पूर्णतया तत्पर होकर इन्द्रियतृप्ति विषयक प्रासगिक एवं अनित्य कर्म से स्वतः विरक्त हो जाता है। वह जानता है कि उसकी सांसारिक परिस्थिति परमेश्वर के नियन्त्रण मे है। इसलिए बड़े से बड़े प्राकृत दुःख से भी वह विचलित नही होता। दुःखो मे भी उसे भगवत्कृपा का दर्शन होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार, जो परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान्—इन तीनो रूपों मे जानता है, वह तत्त्ववित् है। ऐसा ज्ञानी परब्रह्म के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप को भी जानता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

अनुवाद

माया के गुणो से मोहित हुए अज्ञानी प्राकृत क्रियाओ मे पूर्ण रूप से प्रवृत्त होकर उन्ही मे आसक्त हो जाते है। परन्तु उन मन्द कर्म करने वाले अज्ञानियो को ज्ञानी चलायमान न करे।।२९।।

तात्पर्य

देह मे मिथ्या आत्मबुद्धि कर लेने के कारण अज्ञानी मनुष्य प्राकृत उपाधियो से पूर्ण रहते है। यह देह अपरा प्रकृति की देन है। इसलिए जिसकी देह मे ही गाढ आत्मबुद्धि हो रही है, उस मनुष्य को 'मन्द' अर्थात् आलसी (आत्मज्ञानविहीन) कहा जाता है। अज्ञानियो के लिए देह ही आत्मस्वरूप है, उनके लिए शारीरिक सम्बन्ध ही बन्धुत्व है। वे देह की जन्मभूमि को आराध्य समझते है, तथा कर्मकाण्ड को अपना लक्ष्य मानते है। समाज सेवा, राष्ट्रीयता तथा परोपकार आदि इन भव रोगियों के कुछ कार्य हैं। ऐसी उपाधियो के मोह में आकर वे सदा प्रपंच के क्षेत्र में ही सलग्न रहते है। उनके लिए भगवत्प्राप्ति मनोकल्पनामात्र है, जिसमे उनकी कोई रुचि नही। ऐसे मूढ अहिंसा जैसे जीवन के प्राथमिक नैतिक सिद्धान्तो तथा अन्य विषयसुखप्रदायक कार्यों में भी प्रवृत्त हो सकते हैं। परन्तु जो परमार्थ-पथ के पथिक ज्ञानी हैं, वे इन विषयासक्त मनुष्यो को चलायमान न करे। ऐसे में अधिक अच्छा हो यदि शान्तभाव से अपना परमार्थ का साधन करता रहे।

अज्ञानी मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्मों के माहात्म्य को हृदयगम नहीं कर सकता। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण का परामर्श है कि ऐसे व्यक्तियो को विचलित करने

में अमूल्य समय नष्ट करना व्यर्थ है। परन्तु भक्तजन भगवान् से भी अधिक कृपामय होते है, क्योंकि वे श्रीभगवान् के यथार्थ प्रयोजन को जानते हैं। वे जानते हैं कि कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण होना मानव के लिए परम आवश्यक है। अतएव इस शिक्षा का सम्पूर्ण विश्व में प्रसार करने के लिए महाभागवत बड़े से बड़ा संकट सहते हैं, यहाँ तक कि अज्ञानी के निकट जाकर उसे कृष्णभावनाभावित कर्म (भगवत्सेवा) में नियुक्त करने का प्रयास करते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों का मुझमे समर्पण करके, चित्त को मुझमें ही लगाकर तथा ममता, अहंता, और आलस्य से मुक्त होकर निष्काम भाव से युद्ध कर।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे भगवद्गीता का प्रयोजन स्पष्ट रूप मे प्रकट है। श्रीभगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म-पालन के लिए सैन्य-अनुशासनवत् पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाना आवश्यक है। यह आदेश अपेक्षाकृत कुछ कठिन हो सकता है। फिर भी श्रीकृष्ण की आश्रयता मे स्वधर्मपालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए, क्योंकि यह जीव का शाश्वत् स्वरूप है। जीव का नित्य स्वरूप भगवान की इच्छा के आधीन रहना है, इसलिए श्रीभगवान् के सहयोग से विमुख जीव सुखी नहीं हो सकता। अत श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आज्ञा दी, मानो वे उसके सेनानायक हों। भगवत्कृपा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सर्वस्व त्याग करने के साथ-साथ भोक्तापन से मुक्त होकर स्वधर्म का आचरण किया जाय। अर्जुन को श्रीभगवान् की आज्ञा पर विचार नहीं करना है, उसे तो तत्काल उसका पालन ही करना है। परमेश्वर श्रीकृष्ण आत्माओ के आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। अतएव जो निष्काम भाव से पूर्णतया उन्हीं के आश्रित हो, अर्थात् पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो, उसे **अध्यात्मचेतसा** कहते हैं। **निराशी** का अर्थ यह है कि गुरु-आज्ञा का निष्काम भाव से पालन करना चाहिए। कोषाध्यक्ष स्वामी के करोडो रुपयों की गणना करता है, पर अपने लिए एक पैसा भी नहीं रखता। इस प्रकार यह अनुभव करना चाहिए कि विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी एकमात्र श्रीभगवान् हैं, मनुष्य नहीं। **मयि** पद का यही तात्पर्य है। जो इस कृष्णभावना से भावित होकर कर्म करता है, वह निस्सन्देह किसी भी पदार्थ पर अपना अधिकार घोषित नहीं करता। इसे

निर्मम बुद्धि कहा जाता है, अर्थात् मेरा अपना कुछ भी नहीं है। इस दृढ़ आदेश मे देह के स्वजनादि सम्बन्धों का विचार नहीं है। अतः इसके पालन मे यदि कोई सकोच बाधा दे, तो उसका त्याग करके **विगतज्वर**—सचेत हो जाना चाहिए।गुण और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अपना विशेष कर्तव्य होता है। जैसा पूर्व में कहा गया है, इन सब कर्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्तिपथ प्रशस्त हो जायगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

अनुवाद

जो पुरुष मेरे आदेश के अनुसार स्वधर्म का आचरण करते हुए ईर्ष्या से मुक्त रहकर श्रद्धाभाव से मेरी इस शिक्षा का पालन करते हैं, वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते है।।३१।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का परम सार और सार्वभौम शाश्वत् सत्य है। जैसे वेद शाश्वत् हैं, उसी भाँति कृष्णभावना का यह सत्य भी शाश्वत् है। भगवान् की इस आज्ञा को द्वेषबुद्धि से मुक्त होकर प्रगाढ़ श्रद्धा सहित धारण करे। ऐसे अनेक दार्शनिक हैं, जो भगवद्गीता पर भाष्य रचते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में उनका कोई विश्वास नहीं है। वे कर्मबन्धन से कदापि मुक्त नही हो सकते। इसके विपरीत वह साधारण मनुष्य, जो शाश्वत् भगवत्-आज्ञा में अटूट श्रद्धा रखता है चाहे इसका पालन न भी कर सके, वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। यह सम्भव है कि कृष्णभावना के पथ पर प्रवेश करते समय श्रीभगवान् के आदेश का पूर्ण रूप से पालन न हो सके। परन्तु जो पुरुष इस सिद्धान्त का विरोध नही करता, अपितु हानि अथवा निराशा की चिन्ता किये बिना साधन में तत्पर रहता है, वह अतिशीघ्र विशुद्ध कृष्णभावनामृत के स्तर पर आरूढ हो जाता है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

अनुवाद

परन्तु जो द्वेष के कारण मेरे इस उपदेश की उपेक्षा करते हैं, अर्थात्

नित्य-निरन्तर इसका पालन नहीं करते, उन्हे सम्पूर्ण ज्ञान से शून्य, भ्रान्त तथा अज्ञान और बन्धन से भ्रष्ट हुआ जानना चाहिए।।३२।।

तात्पर्य

इस श्लोक में कृष्णभावनाभावित न होने के दोष को स्पष्ट किया गया है। राज-अवज्ञा के समान भगवत्-आज्ञा के उल्लघन का दण्ड भी अवश्यमेव भोगना होगा। अवज्ञाकारी बड़े से बडा कोई भी क्यों न हो, हृदयशून्यता के कारण उसे अपना स्वरूप और परब्रह्म, परमात्मा एवं श्रीभगवान् का तत्त्व भी अज्ञात रहता है। अतएव उसके लिए जीवन की सार्थकता की कोई आशा नही हो सकती।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

अनुवाद

ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है क्योंकि सब प्राणी अपनी प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमे बलपूर्वक निग्रह क्या करेगा?।।३३।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

अनुवाद

बद्ध जीवों को इन्द्रियविषयों मे राग-द्वेष का अनुभव होता है; परन्तु इन्द्रियों तथा इन्द्रियविषयो के वश में नहीं होना चाहिए, क्योकि वे दोनों स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग में विघ्नकारी हैं।।३४।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

अनुवाद

दूसरे के धर्म की अपेक्षा दोषयुक्त होने पर भी स्वधर्म का आचरण अधिक कल्याणकारी है। परधर्म मे प्रवृत्त होने की तुलना में स्वधर्म मे मरना भी उत्तम है, दूसरे का धर्म तो भय को देने वाला है।।३५।।

अर्जुन उवाच।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! फिर किसके द्वारा प्रेरित हुआ यह मनुष्य इच्छा न होने पर भी बलात् पापकर्म में प्रवृत्त हो जाता है?।।३६।।

तात्पर्य

जीवात्मा श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है, इसलिए अपने आद्य स्वरूप में दिव्य, शुद्ध एवं समस्त प्राकृतिक विकारों से मुक्त है। अतएव स्वभावतः वह प्राकृत-जगत् के पापकर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। किन्तु माया के संसर्ग में आने पर निस्सङ्कोच नाना प्रकार से, बहुधा मन के विरुद्ध भी, अनेक पापकर्म कर बैठता है। अतः संसार में जीवों का स्वभाव विकृत क्यों हो जाता है, इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण से अर्जुन की जिज्ञासा बहुत समीचीन है। यद्यपि कभी-कभी जीवात्मा पापकर्म करना नहीं चाहता, तथापि बलात्कार से उसमें प्रवृत्त हो जाता है। ये पापकर्म अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रेरित नहीं होते; जैसा श्रीभगवान् अगले श्लोक में कह रहे हैं, इसका एक अन्य कारण है।

श्रीभगवानुवाच।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! इसका कारण रजोगुण से उत्पन्न काम ही है, जो बाद में क्रोध का रूप धारण कर लेता है और जो इस संसार में कभी न तृप्त होने वाला महापापी शत्रु है।।३७।।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

अनुवाद

जिस प्रकार धूएँ से अग्नि, धूल से दर्पण अथवा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही जीवात्मा अलग-अलग अनुपात में इस काम के आवरण से ढका हुआ है।।३८।।

तात्पर्य

जीवात्मा की शुद्ध चेतना को धूमिल करने वाला आवरण प्रगाढ़ता के अनुपात-भेद से तीन प्रकार का होता है, जैसे अग्नि में धूम्र, दर्पण पर मल तथा गर्भ को ढकने वाला गर्भाशय। इस प्रकार विविध परिस्थितियों में अलग-अलग अनुपात में अभिव्यक्त होने वाला यह आवरण काम ही है। जब काम को धूम्र की उपमा दी जाती है तो यह समझना चाहिए कि जीवात्मा का स्वरूप कुछ-कुछ अनुभवगम्य है। प्रकारान्तर से, जब जीवात्मा कृष्णभावना का हलका-सा प्रदर्शन करता है तो उसे धूएँ से ढकी अग्नि की उपमा दी जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि जहाँ भी धूम्र हो वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है; फिर भी पहले-पहले अग्नि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। यह अवस्था कृष्णभावनामृत के प्रारम्भ जैसी है। दर्पण पर रज का उदाहरण पारमार्थिक साधनों से चित्त रूपी दर्पण के शोधन की ओर सकेत करता है। इसकी सर्वोत्तम पद्धति भगवन्नाम-कीर्तन है। जेर द्वारा आच्छादित गर्भ के उदाहरण से एक असहाय अवस्था का दृष्टान्त दिया गया है, क्योंकि गर्भ में शिशु इतनी असहाय अवस्था में रहता है कि कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता। जीवन की यह अवस्था वृक्षों के तुल्य है। वृक्ष जीवात्मा हैं, किन्तु उनमे काम की प्रबलता को देखते हुए उन्हें ऐसी योनि मिली है जो प्राय चेतनाशून्य है। धूमिल दर्पण पशु-पक्षियों के तुल्य है तथा धूम्र से आच्छादित अग्नि मनुष्य से तुलनीय है। मानव देह में ही जीवात्मा अपनी कृष्णभावना का पुन उन्मेष कर सकता है। इसके अधिक प्रगति करने पर भगवद्भक्ति रूपिणी अग्नि सम्पूर्ण मानव समाज मे प्रोज्ज्वलित की जा सकती है। यदि उस अग्नि से निकले धूम्र का भलीभाँति नियन्त्रण किया जाय तो वह प्रचण्ड हो उठेगी। इस प्रकार मानव देह जीवात्मा के लिए भवबन्धन से मोक्ष-प्राप्ति का अन्यतम अवसर है। इस मानव देह मे ही सद्गुरु के आश्रय मे कृष्णभावना का सेवन करने से कामरूपी दुर्जेय शत्रु को विजय किया जा सकता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

अनुवाद

इस प्रकार मनुष्य की शुद्ध चेतना उसके नित्य वैरी, इस काम से ढकी हुई है, जो सदा अतृप्त अग्नि के समान प्रचण्ड रहता है।।३९।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

अनुवाद

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के निवास है। इनके द्वारा यह जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान को ढक कर उसे मोहित करता है।।४०।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

अनुवाद

इसलिए हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! पहले इन्द्रियों को वश मे करके फिर ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस महापापमय काम को मार।।४१।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

अनुवाद

कर्मेन्द्रियाँ जड़ प्रकृति से श्रेष्ठ हैं; मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, बुद्धि मन से भी श्रेष्ठतर है और वह (आत्मा) बुद्धि से भी परे है।।४२।।

अनुवाद

इस प्रकार हे महाबाहु! इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे अपने दिव्य आत्मस्वरूप को जानकर और बुद्धि के द्वारा चित्त को वश में करके आत्मशक्ति से युक्त होकर इस कामरूपी कभी शान्त न होने वाले दुर्धर्ष शत्रु को मार।।४३।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता का यह तृतीय अध्याय निर्विशेष शून्यवाद को पूर्ण रूप से निरस्त करके जीव को यह ज्ञान प्रदान करता है कि वह श्रीकृष्ण का नित्य दास है और इस प्रकार उसे कृष्णभावना की दिशा में निर्णायक रूप से अग्रसर करता है। प्रापञ्चिक जीवन में जीव काम-विकार और प्रकृति पर प्रभुत्व की कामना से निश्चित रूप में युक्त रहता है। प्रभुत्व की इच्छा और इन्द्रियतृप्ति मायाबद्ध जीव के परम शत्रु है; परन्तु कृष्णभावनामृत की शक्ति के द्वारा वह इन्द्रियों, मन और बुद्धि का संयम करने में सक्षम हो जाता है। अकस्मात् कर्म और स्वधर्म का त्याग करना आवश्यक

नही है, शुद्ध स्वरूप में एकाग्र मति के द्वारा कृष्णभावना का शनै शनै विकास करने से उस शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है जो इन्द्रियो और चित्त से परे है। यह सिद्धान्त इस अध्याय का परम सार है। ससार की अपरिपक्व दशा मे ज्ञान अथवा योगासनो के अभ्यास से इन्द्रियो को वश में करने का कृत्रिम प्रयास मानव क लिये भगवत्प्राप्ति मे कभी महायक नही हो सकता। इसके लिए सद्गुरु से कृष्णभावना की शिक्षा प्राप्त करनी होगी।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये तृतीयोऽध्यायः।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः



ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

(दिव्यज्ञान)

श्रीभगवानुवाच।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अनुवाद

भगवान् ने कहा, मैंने इस अविनाशी योग का सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश किया था। विवस्वान् ने इसकी शिक्षा मानव जाति के जन्मदाता मनु को दी तथा मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा।।१।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे हमें भगवद्गीता का इतिहास प्राप्त होता है, जो उस चिरन्तन काल से अनुरेखित किया गया है जब वह सम्पूर्ण लोकों के राजाओं को प्रदान की गई थी। यह विज्ञान विशेष रूप से प्रजाजनों की रक्षा के लिए प्रयोजित है। इसलिए

राजवंश को इसे भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए, जिससे वह प्रजा का पालन और कामरूपी बन्धन से संरक्षण कर सके। मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् से अपने शाश्वत् सम्बन्ध के ज्ञान का अर्जन करना है। अतएव सब राज्यों और लोकों के अधिनायकों का यह प्रधान कर्तव्य है कि विद्या, संस्कृति और भक्ति के द्वारा जनता में इस शिक्षा का प्रसार करें। दूसरे शब्दों में, सभी राज्याध्यक्षों से यह आशा की जाती है कि वे कृष्णभावना का प्रसार करें, जिससे कि इस विज्ञान से लाभान्वित होकर जनता मानवयोनि के दुर्लभ सुअवसर का सदुपयोग करती हुई सर्वोन्मुखी निजयपथ का अनुसरण कर सके।

इस युग में सूर्य के अधिष्ठातृ-देवता विवस्वान् हैं। ये सम्पूर्ण सौरमण्डलीय लोकों के जन्मदाता और सूर्यलोक के अधिपति हैं। ब्रह्मसंहिता में उल्लेख है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

ब्रह्माजी ने कहा, 'मै भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, जो आदिपुरुष हैं और जिनकी आज्ञानुसार सम्पूर्ण लोकों का अधिपति सूर्य अशेष तेज एवं शक्ति धारण कर रहा है। यह सूर्य भगवान् गोविन्द के चक्षु के तुल्य है और उन्हीं की आज्ञानुसार अपने काल-चक्र में घूमता है।'

सूर्य सम्पूर्ण लोको का अधिपति है और सूर्यदेव (वर्तमान समय मे विवस्वान्) तेज-शक्ति की आपूर्ति करके अन्य सब लोकों का नियन्त्रण करने वाले इस सूर्य पर राज्य करते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार भ्रमण कर रहा है। आदिकाल मे भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता-विज्ञान ग्रहण करने के लिए विवस्वान् को ही अपना प्रथम शिष्य बनाया था। अतः गीता क्षुद्र लौकिक विद्वान् के लिये प्रयोजित मनोधर्मी की रचना न होकर स्मरणातीत काल से चली आ रही परम्परा के द्वारा प्राप्त प्रामाणिक ज्ञान-शास्त्र है। महाभारत (शान्तिपर्व ३४८.५१-५२) मे गीता-इतिहास के सम्बन्ध में यह उल्लेख है—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।।

"त्रेतायुग के आदि में विवस्वान् ने इस योग (भगवान् से सम्बन्ध) विषयक विज्ञान का मनु को उपदेश किया था और मनु ने, जो मानवमात्र के जन्मदाता हैं, इसे पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक एवं उस रघुवंश के

पूर्वज थे, जिसमें भगवान् श्रीराम ने अवतार ग्रहण किया। इससे प्रमाणित होता है कि भगवद्गीता मानव समाज में महाराज इक्ष्वाकु के समय से ही विद्यमान है।'

वर्तमान कलियुग के केवल ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं, जबकि इसकि पूर्णायु ४,३२,००० वर्ष है। इससे पूर्व द्वापर युग (८,००,००० वर्ष) और उससे भी पूर्व त्रेतायुग (१२,००,००० वर्ष) व्यतीत हो चुके हैं। इस प्रकार लगभग २०,०५,००० वर्ष पूर्व मनु ने अपने शिष्य और पुत्र, इस पृथ्वी के सार्वभौम सम्राट् महाराज इक्ष्वाकु के प्रति भगवद्गीता का प्रवचन किया था। वर्तमान मनु की आयु लगभग ३०,५३,००,००० वर्ष है, जिसमें से १२,०४,००,००० का व्यय हो चुका है। मनु से पूर्व श्रीभगवान् अपने शिष्य सूर्यदेव विवस्वान् के समक्ष गीतोपदेश कर चुके थे। इस अनुमान के अनुसार गीता का सर्वप्रथम प्रवचन कम से कम १२,०४,००,००० पूर्व हुआ और मानव समाज में भी लगभग २०,००,००० वर्ष से इसका प्रचलन रहा है। आज से पाँच हजार वर्ष पहले भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रोता बनाकर इसका पुन गायन किया। स्वय गीता और गीतागायक भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता के इतिहास का यह स्थूल अनुमानमात्र है। गीता सूर्यदेव विवस्वान् के प्रति कही गयी थी, क्योकि वे क्षत्रिय है, वस्तुत सम्पूर्ण सूर्यवशी क्षत्रियो के जन्मदाता हैं। स्वय भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने से भगवद्गीता वेदतुल्य अपौरुषेय ज्ञान है। वेद-वाणी को उसके मूलरूप मे वाग्चातुरी के बिना स्वीकार किया जाता है। इसलिए गीता को भी इसी प्रकार यथारूप मे अगीकार करना होगा। तार्किक अपनी उच्छृखल विधि से गीता का कुछ भी मनमाना अर्थ लगा सकते है; परन्तु भगवद्गीता का यथार्थ स्वरूप उन्हे सदा अलभ्य रहेगा। अतएव भगवद्गीता को गुरुपरम्परा के अनुसार यथारूप मे हृदयगम करना ही कल्याणकारी है। इसी सिद्धान्त की स्थापना के लिए यहाँ कहा गया है कि श्रीभगवान् ने सूर्यदेव को, सूर्यदेव ने पुत्र मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को भगवद्गीता का उपदेश किया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

अनुवाद

इस प्रकार शिष्यपरम्परा के द्वारा यह परम विज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इस विधि से जाना, किन्तु काल-क्रम से वह परम्परा खण्डित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लुप्तप्राय हो गया।।२।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

अनुवाद

वही प्राचीन योग मैने आज तेरे से कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, अतएव इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को हृदय में धारण कर सकता है।।३।।

तात्पर्य

मानव की भक्त और असुर—ये दो कोटियाँ हैं। श्रीभगवान् ने इस परमोच्च विज्ञान के श्रोता के रूप में अर्जुन का वरण किया, क्योंकि वह भगवद्भक्त था। असुरों के लिए यह उत्तम रहस्यमय विज्ञान सर्वथा दुर्बोध्य है। ज्ञान के इस अनुपमेय ग्रन्थ के अनेक सस्करण उपलब्ध है। उनमें से कुछ भक्त-विरचित भाष्य है और कुछ मे असुरों की टीकाएँ हैं। वास्तव मे भक्तो की व्याख्याएँ ही यथार्थ है। इसके विपरीत, असुरों के भाष्य सर्वथा निरर्थक हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण को साक्षात् स्वय भगवान् मानता है। अत अर्जुन के चरणचिह्नो का अनुसरण करने वाली गीता की व्याख्या ही इस परम विज्ञान की सच्ची सेवा है। दुर्भाग्यवश आसुरभावापन्न भाष्यकार श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोकल्पना कर जनता और पाठकवर्ग को श्रीकृष्ण की शिक्षा के पथ से भटका देते है। अतएव कल्याण का अभिलाषी अर्जुन की परम्परा का अनुसरण करे।

अर्जुन उवाच।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, सूर्यदेव विवस्वान् का जन्म आपसे अति पूर्व हुआ है, इसलिए मै यह कैसे समझूँ कि पहले आप्ने ही सूर्य को इस योग का उपदेश किया था।।४।।

श्रीभगवानुवाच।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म् व्यतीत हो चुके है। मुझे तो उन सबकी स्मृति है, पर हे परतप! तू उन्हें नहीं जानता।।५।।

तात्पर्य

ब्रह्मसंहिता से हमें श्रीभगवान् के नानाविध अवतारों की जानकारी मिलती है। वहाँ (ब्र० सं० ५.३३) कथन है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्ल्लभमदुर्ल्लभमात्मभक्तौ गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मै आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, जो अद्वैत, अच्युत, अनादि हैं तथा अनन्तरूप होते हुए भी आद्य, पुराणपुरुष और नित्य नवयौवन-युक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय रूपों को प्रायः वेदों के पारगामी विद्वच्चूड़ामणि जानते हैं, पर विशुद्ध अनन्य भक्तों को तो उनके दर्शन नित्य ही प्राप्त रहते हैं।'

ब्रह्मसहिता मे ही (५.३९) कहा है—

रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद्‌भुवनेषु किन्तु।।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान्यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मै भगवान् श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ, जो राम, नृसिंह आदि अवतारों और अंशावतारों मे नित्य अवस्थित रहते हुए भी कृष्णनाम से विख्यात आदिपुरुष है और जो स्वयं (अपने आद्य रूप मे) भी अवतरित होते हैं।'

वेदों मे भी कहा है कि अद्वय होते हुए भी श्रीभगवान् असंख्य रूपों मे प्रकट होते है। वे उस वैदर्यमणि के समान हैं जो अपना वर्णपरिवर्तन करने पर भी स्वरूप से निर्विकार रहती है। उन विविध भगवत्-रूपों को शुद्ध निष्काम भक्त ही जानते हैं; केवल वेदाध्ययन करने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता· **वेदेषु दुर्ल्लभमदुर्ल्लभमात्म-भक्तौ**। अर्जुन जैसे भक्त श्रीभगवान् के नित्य प्रिय सखा है। अतएव जब भी प्रभु अवतार ग्रहण करते है तो उनके सहचर भक्त भी नाना प्रकार से भगवत्सेवा करने के लिए उनके साथ अवतरित होते हैं। अर्जुन एक ऐसा ही भक्त है और इस श्लोक के अनुसार, करोड़ों वर्ष पूर्व जब श्रीकृष्ण ने सूर्यदेव को भगवद्‌गीता सुनाई थी, तो अर्जुन वहाँ भी किसी अन्य रूप में विद्यमान था। परन्तु श्रीभगवान् और अर्जुन में यह अन्तर है कि श्रीभगवान् को उस इतिहास का स्मरण बना रहा, जबकि अर्जुन को विस्मृति हो गई। भिन्न-अश जीवात्मा और परमेश्वर श्रीकृष्ण मे यही भेद है। यद्यपि अर्जुन को यहाँ शत्रुविजयी, शूरवीर सम्बोधित किया गया है, पर अपने पूर्वजन्मों का स्मरण करने मे वह असमर्थ है। अत. सांसारिक दृष्टि से जीव कितना भी बडे से बडा क्यों न हो, परन्तु श्रीभगवान् की समकक्षता कदापि नहीं कर सकता। श्रीभगवान् का नित्य सहचर निस्सन्देह जीवन्मुक्त होता है, पर वह भी उनके तुल्य नही हो सकता। 'ब्रह्मसहिता' में

श्रीभगवान् को **अच्युत** कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि प्रकृति के संग में भी उन्हें स्वरूप-विस्मरण नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि श्रीभगवान् एवं जीव सब प्रकार से समान कभी नहीं हो सकते; चाहे जीवात्मा अर्जुन के जैसे जीवमुक्त ही क्यों न हो। यद्यपि अर्जुन भगवद्भक्त है, तथापि समय-समय पर उसे भगवत्स्वरूप का विस्मरण हो जाता है। परन्तु यह अवश्य है कि भगवान् की अमोघ कृपा से भक्त को उनके अच्युतस्वरूप का तत्काल फिर बोध हो जाता है, जबकि अभक्त अथवा असुरों के लिए यह दिव्य तत्त्व सदा अज्ञात रहता है। इसी से गीता का यह विवरण आसुरीबुद्धि के लिए अगम्य है। श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सम्पादित क्रियाओं का स्मरण है; किन्तु अर्जुन को नही, यद्यपि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही का स्वरूप नित्य है। इस श्लोक से हमे यह भी बोध होता है कि देहान्तर करने पर जीवात्मा को पूर्ण विस्मृति हो जाती है, जबकि श्रीभगवान् को त्रिकाल में कभी विस्मृति नही होती, क्योंकि उनका विग्रह सच्चिदानन्दमय है। श्रीभगवान् अद्वैत हैं, उनके देह तथा स्वयं उनमे अभेद है। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक तत्त्व चिन्मयस्वरूप है, जबकि जीवात्मा अपनी प्राकृत देह से भिन्न है। भगवान् के देह और स्वयं भगवान् मे अभेद होने के कारण जब वे प्राकृत स्तर पर अवतरित होते हैं तो भी उनकी स्थिति साधारण जीवात्मा से विलक्षण रहती है। असुर श्रीभगवान् के इस परात्पर चिन्मयस्वरूप को अनुकूल भाव से अंगीकार नहीं कर सकते, जैसे अगले श्लोक मे श्रीभगवान् स्वयं कह रहे है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

अनुवाद

मै अजन्मा, सब प्राणियों का ईश्वर और सच्चिदानन्दमय अविनाशी स्वरूप होते हुए भी युग-युग में अपने आद्य चिन्मय रूप में अवतरण करता हूँ।।६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने अपने विलक्षण आविर्भाव के वैशिष्ट्य का वर्णन स्वयं श्रीमुख से किया है—साधारण मनुष्य प्रतीत होते हुए भी अपने अनेक-अनेक पूर्व 'जन्मों' की उन्हें पूर्ण स्मृति है, जबकि साधारण मनुष्य को कुछ ही घण्टे पूर्व सम्पादित कार्य तक का स्मरण नहीं रहता। यदि किसी से पूछा जाय कि एक दिन पहले ठीक उसी समय उसने क्या किया था, तो साधारण मनुष्य के लिए इसका तत्काल उत्तर देना कठिन होगा। एक दिन पूर्व उसी समय किए हुए कर्म का स्मरण करने के लिए उसे अपनी बुद्धि का आलोडन करना होगा। इतने दुर्बल होने पर भी बहुधा मनुष्य अपने को ईश्वर

अथवा श्रीकृष्ण घोषित करने का दुःसाहस कर बैठते हैं। इन निरर्थक दावों से भ्रान्त नहीं होना चाहिए। श्रीभगवान् अपनी प्रकृति अथवा रूप का आगे वर्णन करते हैं। प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' और 'स्वरूप' होता है। श्रीभगवान् का कथन है कि वे स्वयं अपनी देह में प्रकट होते हैं, साधारण जीवात्मा के समान देहान्तर नहीं करते। बद्धजीव को वर्तमान जन्म में एक प्रकार की देह प्राप्त होती है, तो पुनर्जन्म में कोई और। प्राकृत-जगत् में जीवात्मा की योनि निश्चित नहीं है, उसका देहान्तर होता रहता है, श्रीभगवान् ऐसा नहीं करते। वे जब भी प्रकट होते हैं, अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा उसी आद्य विग्रह में प्रकट होते हैं। भाव यह है कि श्रीकृष्ण इस जगत् में अपने उसी आद्य एवं शाश्वत् वेणुधारी द्विभुज रूप में प्रकट होते है, जो इस प्राकृत-जगत् के विकारों से सर्वथा मुक्त है। तथापि, उन सच्चिदानन्दमय परमेश्वर का आविर्भाव साधारण प्राणी के जन्म के समान भासता है। श्रीकृष्ण बाल्यावस्था से कौमार तथा कौमार से यौवन में तो प्रवेश करते हैं, पर यह विस्मयास्पद होते हुए भी नितान्त सत्य है कि उनकी वय यौवन से आगे कभी नहीं बढ़ती। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय वे पितामह बन चुके थे; अर्थात् लौकिक गणना के अनुसार उनकी आयु का पर्याप्त व्यय हो चुका था, फिर भी वे बीस-पच्चीस वर्षीय नवयुवक जैसे लगते थे। हमें कभी किसी ऐसे चित्र की प्राप्ति नहीं होती जिसमें श्रीकृष्ण वृद्ध दिखायी दें, क्योंकि सम्पूर्ण त्रैकालिक (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) सृष्टि के आदि, पुराण पुरुष होने पर भी श्रीकृष्ण हमारी भाँति वृद्धावस्था को कभी प्राप्त नहीं होते। साथ ही, उनकी चिन्मय देह एवं बुद्धि मे क्षय अथवा विकार नही होता। अतएव यह स्पष्ट है कि प्राकृत-जगत् में अवतरित होने पर भी वे अपनी परिवर्तनरहित दिव्य देह और बुद्धि से युक्त वही अजन्मा, नित्य, सच्चिदानन्दमय हैं। वस्तुतः उनका आविर्भाव-तिरोभाव सूर्य के उदित होने और हमारे आगे से गमन करके दृष्टि से विलुप्त हो जाने जैसा है। सूर्य के अगोचर होने पर हमें जान पड़ता है कि सूर्यास्त हो गया है-तथा उसके दृष्टिगोचर होने पर हम समझते है कि सूर्य क्षितिज पर विद्यमान है। वस्तुतः तो सूर्य अपने नियत स्थान पर निरन्तर बना रहता है, अपनी दोषपूर्ण अपर्याप्त इन्द्रियों के कारण हम ही आकाश में सूर्य के उदय-अस्त होने की कल्पना किया करते है। अतएव यह सिद्ध होता है कि किसी भी सामान्य जीवात्मा की अपेक्षा श्रीभगवान् का आविर्भाव-तिरोभाव पूर्णरूपेण विलक्षण है, वे स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति के कारण सच्चिदानन्दघन है और माया से कभी दूषित नहीं होते वेद मे भी प्रमाण है कि अजन्मा होते हुए भी श्रीभगवान् विविध दिव्य अवतार ग्रहण करते है। वेदान्त से यह भी सिद्ध है कि यद्यपि श्रीभगवान् जन्म लेते प्रतीत होते है, परन्तु वे देहान्तर नही करते। श्रीमद्भागवत मे वे जननी के सम्मुख

षडैश्वर्य समन्वित चतुर्भुज नारायण रूप से प्रकट हुए है। विश्वकोष के अनुसार स्वरूपसिद्ध आद्य नित्य विग्रह मे उनका अवतरण उनकी निरुपाधिक कृपा का ही कार्य है। श्रीभगवान् को अपने सम्पूर्ण पूर्व आविर्भाव-तिरोधानों की शाश्वत् स्मृति रहती है, जबकि जीवात्मा देहान्तर करते ही पूर्व शरीर के सम्बन्ध मे सब कुछ भूल जाता है। इसी विशिष्टता के कारण श्रीभगवान् सम्पूर्ण जीवो के परमेश्वर है और पृथ्वी पर अवतरण-काल मे अद्भुत, अतिमानवीय लीलारस-निर्यास का परिवेषण करते है। श्रीभगवान् नित्य अद्वय है, उनके देह और स्वरूप अथवा गुण और देह मे भेद नही है। इस सन्दर्भ मे चित्त मे यह जिज्ञासा हो सकती है कि इस ससार मे श्रीभगवान् के प्रादुर्भाव एव तिरोधान का वास्तव मे प्रयोजन ही क्या है? अगले श्लोक मे इसका विवरण है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

अनुवाद

हे भारत! जिस-जिस देश-काल मे धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मै अवतरित होता हूँ।।७।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे प्रयुक्त 'सृजामि' पद अति महत्त्वपूर्ण है। अवतारतन्त्र के सन्दर्भ मे 'सृजामि' का प्रयोग रचने के अर्थ मे नही हो सकता, क्योकि पूर्व श्लोक के अनुसार, भगवत्-रूप अथवा भगवत्-देह का सृजन नही होता, सभी भगवत्-रूप शाश्वत् है। अत इस सन्दर्भ मे 'सृजामि' का अर्थ श्रीभगवान् द्वारा अपने को प्रकट करना है। यद्यपि श्रीकृष्ण ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस (कल्प) मे, आठवे मनु के अट्ठाईसवे चतुर्युग के द्वापर के अन्त मे प्रकट होते है। पर इस नियम के पालन मे वे बाध्य नहीं है, वरन् स्वेच्छामय कर्म करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। अत अधर्म का प्राबल्य एव यथार्थ धर्म का लोप होने पर वे स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। धर्म का प्रतिपादन वेदो मे है। अतएव वैदिक विधान का भलीभाँति पालन करने मे हुआ प्रमाद अधर्म का कारण सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार धर्म का विधान साक्षात् श्रीभगवान् ने किया है। एकमात्र श्रीभगवान् ही किसी भी धर्म-व्यवस्था का प्रणयन कर सकते है। वेदों के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य है कि ब्रह्मा के हृदय-गह्वर मे उनका सचार श्रीभगवान् ने किया। इस दृष्टि से धर्म के विधान साक्षात् भगवदाज्ञा हैं (**धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्**)। भगवद्गीता में आद्योपान्त इस तत्त्व का विशद वर्णन हुआ है। वेदों का प्रयोजन श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार धर्म-स्थापना करना है और

गीता के अन्त में तो स्वयं श्रीभगवान् की आज्ञा है कि उनके शरणागत हो जाना ही धर्म है। वैदिक सिद्धान्त जीव को पूर्ण भगवत्-शरणागति की ओर अग्रसर करते हैं; इसलिए जब-जब असुर इनके मार्ग मे विघ्न उपस्थित करते हैं तो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत से हम जानते है कि बुद्धदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार है। उनका प्रादुर्भाव उस काल मे हुआ जब विषयपरायणता सर्वव्यापी हो गयी थी और विषयी व्यक्ति भी कपटपूर्वक वेदप्रमाण की आड ले रहे थे। यह सत्य है कि वेदो मे विशिष्ट प्रयोजन के लिए पशुबलि के कतिपय नियामक विधि-विधान है, पर उस समय आसुरी स्वभाव वाले वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध पशुबलि कर रहे थे। इस अनर्थ का निवारण करके वैदिक सिद्धान्त अहिसा को स्थापित करने के लिए बुद्ध प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक अवतार का शास्त्रसम्मत विशिष्ट प्रयोजन होता है। अतएव शास्त्र-प्रमाण के बिना किसी को भी अवतार के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। श्रीभगवान् केवल भारतभूमि पर ही प्रकट होते हों, ऐसा नहीं। वे स्वेच्छानुसार किसी भी देशकाल में अवतरण कर सकते है, परन्तु प्रत्येक अवतार मे वे धर्म का उतना ही प्रवचन करते है, जो उस देशकाल के मनुष्य हृदयगम कर सके। सबका मूल प्रयोजन यही है कि जनता मे भगवद्भावना और धर्मपरायणता का सचार किया जाय। श्रीभगवान् समय-समय पर साक्षात् स्वय प्रकट होते है, कभी-कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को पुत्र अथवा दास के रूप मे भेजते है, अथवा स्वय ही किसी गोपनीय रूप में इस धराधाम पर पधारते है।

श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन जैसे महाभागवत को ही सुनाई गयी, क्योंकि ससार के अन्य भागो के साधारण मनुष्यो की तुलना मे वह कही उत्तम था। दो और दो प्राथमिक कक्षा मे भी चार के बराबर होते है और स्नातकोत्तर कक्षा मे भी। परन्तु प्राथमिक कक्षा मे गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, जबकि उच्च कक्षा मे उच्च स्तर का गणित पढाया जाता है। इसी प्रकार सभी भगवत्-अवतारो द्वारा समान सिद्धान्तो की शिक्षा का प्रसारण किया जाता है, केवल देशकाल के भेद से वे उच्च-निम्न प्रतीत होते है। जैसा वर्णन किया जायगा, धर्म के वरेण्य सिद्धान्तो का प्रारम्भ वर्णाश्रम आचार से होता है। सब अवतारो का एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र कृष्ण भावनामृत को उद्भावित करना है। परिस्थितियो मे भेद के कारण ही इस भावना का समय-समय पर प्रकाश-अप्रकाश होता रहता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

अनुवाद

भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश और धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।।८।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

अनुवाद

हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।।९।।

तात्पर्य

भगवद्धाम से श्रीभगवान् के अवतरण का प्रतिपादन छठे श्लोक में किया जा चुका है। श्रीभगवान् के आविर्भाव तत्त्व के मर्म को जानने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। अतएव अपनी प्राकृत देह को त्यागते ही वह तत्काल भगवद्धाम को गमन करता है। मायाबन्धन से जीव की यह मुक्ति सुखसाध्य नहीं है। निर्विशेषवादी एवं योगी तीव्र क्लेशों से भरे बहुत जन्मान्तरों के बाद ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन हो पाते हैं। यह भी पूर्ण मुक्ति नहीं है, क्योंकि संसार में पुनरागमन का भय वहाँ भी बना रहता है। परन्तु भक्त श्रीभगवान् के श्रीविग्रह और लीलामृत के दिव्य स्वरूप को जानकर देह का अन्त होने पर सुगमता से भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे संसार में पुनरागमन का भय सदा-सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है कि श्रीभगवान् के असंख्य अवतार और रूप है— **अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्** । यद्यपि उनके अनेक दिव्य रूप हैं, तथापि श्रीभगवान् अद्वय है। यह सत्य, जो लौकिक विद्वानों और प्रायोगिक दर्शनवेत्ता के लिए सर्वथा अगम्य है, निष्ठापूर्वक हृदयंगम करना होगा। यथा वेदवाणी :

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा।

अद्वयदेव श्रीभगवान् नाना दिव्य रूपों में अपने अनन्य भक्तों के साथ लीला करने में नित्य अनुरक्त रहते हैं।' इस वेदवचन को स्वयं श्रीभगवान् ने गीता के इस श्लोक में प्रमाणित किया है। जो पुरुष वेद एवं श्रीभगवान् के प्रमाण के आधार पर इस सत्य को अंगीकार करके दार्शनिक मनोधर्म करने में समय नष्ट नहीं करता, वह मुक्ति की परमोच्च अवस्था प्राप्त करता है। इस सत्य को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करनेमात्र से निस्सन्देह मुक्ति हो जायगी। वैदिक वाक्य 'तत्त्वमसि' का यथार्थ तात्पर्य इसी

सन्दर्भ से है। जो श्रीकृष्ण को परमब्रह्म जानता है अथवा उनके प्रति यह निवेदन करता है कि 'भगवन्! आप परब्रह्म स्वय भगवान् हैं', वह अवश्य तत्क्षण मुक्त हो जाता है। इसीलिए यह भी निश्चित है कि उसे श्रीभगवान् के चिन्मय सान्निध्य की प्राप्ति होगी। इसमें सन्देह नही कि इस कोटि के श्रद्धालु भगवद्‌भक्त का जीवन कृतार्थ एव चरितार्थ हो जाता है। वेदवचन इसका प्रमाण है

तमेव विदित्वातिमृत्युमुपैति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

श्रीभगवान् को जानने से जन्म-मृत्यु से पूर्ण मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, मुक्ति का कोई अन्य मार्ग नही है, क्योंकि जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जानता, वह अवश्यमेव तमोगुण मे स्थित है। अतएव मधुपात्र के बाहरी चाटुकारी करने के समान लौकिक विद्या के आधार पर भगवद्‌गीता की मनमानी व्याख्या करने से मुक्ति नही हो सकेगी। यह सम्भव है कि इस श्रेणी के प्रयोगाश्रयी दार्शनिकों को जगत् मे अत्युच्च पदो की प्राप्ति हो जाय, पर यह आवश्यक नही कि उन्हें मोक्षलाभ भी हो। मिथ्या अहंकार से दृप्त हुए इन लौकिक विद्वानो को कृतार्थ होने के लिए भगवद्‌भक्त की अहैतुकी निरवधि कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अत. मनुष्यमात्र को चाहिए कि विवेक और ज्ञान सहित कृष्णभावना का अनुशीलन कर जीवन की कृतार्थता को प्राप्त करे।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

अनुवाद

राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर मुझमें तन्मय हुए और मेरे ही आश्रित हुए बहुत से मनुष्य पूर्व मे मेरे ज्ञान से पवित्र हो चुके है। इस प्रकार उन सभी को मेरे दिव्य प्रेम की प्राप्ति हुई है।।१०।।

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, विषयों में आसक्त मनुष्य के लिए परमसत्य के दिव्य पुरुषरूप को जानना बड़ा कठिन है। प्राय मनुष्यों की देह मे ही आत्मबुद्धि हो रही है, वे इतने अधिक विषयपरायण हो गये हैं कि उनके लिए यह जानना असम्भव सा हो गया है कि एक ऐसी चिन्मय देह भी है जो नित्य एव सच्चिदानन्दमय है। सांसारिक देह क्षणभंगुर अज्ञान से आवृत एव पूर्णतया दु खमय है, इसलिए जब उन्हें श्रीभगवान् के दिव्यरूप की जानकारी दी जाती है तो वे उसे भी ऐसा ही समझते है। इन विपर्यी व्यक्तियो के लिए विशालकाय प्राकृत सृष्टि ही परतत्त्व है। यही कारण है कि वे परतत्त्व को निर्विशेष मानते है। इसके अतिरिक्त, विषयो मे उनकी इतनी स्थूल

आसक्ति रहती है कि प्रकृति से मुक्ति के उपरान्त भी जीव और भगवान् अपना-अपना स्वरूप बना रहता है, यह विचार उन्हे भयभीत कर देता है। जब वे सुनते है कि मुक्त जीव का अपना स्वरूप रहता है तो उन्हे पुन स्वरूप-प्राप्ति मे भय होता है और इसलिए वे स्वभाव मे निर्विशेष शून्य मे लीन होने को अधिक उत्तम समझते है। वे जीवात्मा को सागर के उन बुद्‌बुदो की उपमा देते है जो सागर से उठते है और उसी में विलीन हो जाते है। उनकी धारणा मे यह पृथक् स्वरूप से रहित मुक्त-अस्तित्व की चरम सिद्धि है। परन्तु यथार्थ मे तो यह आत्मज्ञान से शून्य जीवन की एक भयावस्था ही है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक मनुष्य है, जो आत्मतत्त्व को लेशमात्र भी नही समझ पाते। नाना मतो एव मनोधर्मों की असगति से किंकर्तव्यविमूढ हुए वे अरुचि अथवा क्रोध के आवेश मे आकर मूर्खतावश निर्णय कर बैठते है कि ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो सब कारणो का परम कारण हो, अन्ततोगत्वा सब कुछ शून्य ही है। ऐसा कहने वाले नि सन्देह भवरोग से पीडित है। अधिकाश मनुष्य गाढ विषयासक्ति के कारण परमार्थ की उपेक्षा करते है, कुछ परतत्त्व से एक हो जाना चाहते है, तो कुछ निराश होकर सभी प्रकार की पारमार्थिकता के प्रति क्रुद्ध हो उठते है। इस अन्तिम श्रेणी के लोग किसी न किसी प्रकार के मादक पदार्थ का आश्रय लेते है और कभी-कभी तो उससे उत्पन्न मतिविभ्रम को भगवत्-दर्शन समझ लिया जाता है। परमार्थ की उपेक्षा, मुक्त हो जाने पर भी जीव-स्वरूप बना रहेगा, इस विचार से भय और निराशा को जन्म देने वाली शून्यवादी मान्यता—ये तीनों विषयासक्ति के ही रूप है, अतएव इन से मुक्त होना आवश्यक है। इन सभी दोषो से मुक्ति के लिए सद्गुरु के निर्देशानुसार सर्वतोभावेन भगवान् के शरणागत होकर वैधी भक्ति मे तत्पर हो जाना चाहिए। भक्तिमय जीवन की चरम अवस्था को भाव अथवा भगवत्प्रेम कहा जाता है।

श्रील रूपगोस्वामिचरण द्वारा प्रणीत भक्तिविज्ञान 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' के अनुसार

आदौ श्रद्धा ततः साधु संगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः।।

भक्तिपथ का प्रारम्भ स्वरूप-साक्षात्कार विषयक इच्छा से होता है। इससे मनुष्य साधु-सग के लिए प्रयत्न करता है। तदुपरान्त भगवत्प्राप्त सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण कर उनकी आज्ञानुसार साधक भक्ति का प्रारम्भ करता है। गुरु के पादपद्मो के आश्रय मे भक्ति का अनुष्ठान करने से क्रमश विषयासक्ति से मुक्त, स्वरूप-साक्षात्कार के पथ

मे निष्ठा और भगवत्कथा मे रुचि उद्भावित होती है। इस कथारुचि से कृष्णभावनामृत मे आसक्ति हो जाती है, जो भगवत्प्रेम के प्रथम सोपान—भाव मे परिपक्व होती है। वस्तुत भगवत्प्रेम मे ही जीवन की सार्थकता और चरितार्थता है। प्रेमाविष्ट भक्त रागानुगा भगवद्भक्ति मे नित्य तत्पर रहता है। इस प्रकार सद्गुरु के आश्रय मे भक्ति की क्रमिक पद्धति के द्वारा सब प्रकार की विषयासक्ति, पृथक् स्वरूप के भय तथा शून्यवादजनित निराशा से सर्वथा रहित सर्वोच्च मुक्त अवस्था प्राप्त होती है और अन्त मे भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

अनुवाद

जो जिस भाव से मेरी शरण लेते है, उसी के अनुरूप मै उन्हे फल देता हूँ। हे पार्थ! मनुष्यमात्र सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुगमन करता है।।११।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की विभिन्न अभिव्यक्तियो मे मनुष्य उन्ही का अन्वेषण कर रहा है। निर्विशेष ब्रह्मज्योति और सबके अन्तर्यामी परमात्मा रूप मे भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण अनुभव नही होता, श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण प्राप्ति तो केवल उनके शुद्धभक्तो को ही होती है। इस प्रकार से श्रीकृष्ण सभी की अनुभूति के विषय है, कोई भी प्राणी उन्हे प्राप्त करने की अपनी इच्छा के अनुपात मे सन्तोष पाता है। दिव्य वैकुण्ठ-जगत् मे भी श्रीकृष्ण शुद्धभक्तो की कामना के अनुसार दिव्य रसो मे उनके साथ प्रेम का विनिमय करते है। परमेश्वर, सखा, पुत्र, प्रियतम आदि विविध रूपो में श्रीकृष्ण की कामना करते हुए भक्तों के प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुरूप श्रीकृष्ण उन सभी को समभाव से पुरस्कृत करते हैं। प्राकृत-जगत् में भी भगवान् और भक्तो मे परस्पर इसी प्रकार रस और भाव का विनिमय होता है। शुद्धभक्तों को इस जगत् में तथा भगवद्धाम मे भी श्रीभगवान् का सान्निध्य रहता है और इस प्रकार उनकी सेवा मे निमग्न हुए वे महानुभाव भगवद्भक्ति के अलौकिक रसानन्द का आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण उन निर्विशेषवादियो की भी सहायता करते हैं जो अपने जीव-स्वरूप को समाप्त करके पारमार्थिक आत्महत्या करने को आतुर हैं। श्रीकृष्ण उन्हें अपनी ब्रह्मज्योति मे विलीन कर लेते है। ये निर्विशेषवादी सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीश्यामसुन्दर को स्वीकार नही करते। इसलिए साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा से प्राप्त दिव्य आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकते, क्योंकि वे ब्रह्मज्योति में लीन हो जाते है। उनमे से कुछ, जो निर्विशेषसत्ता मे भी स्थित नहीं हो पाते, वे अपनी सक्रियताविषयक सुप्त

कामना से प्रेरित हुए इस संसार रूपी क्रियाक्षेत्र में पुनरागमन करते हैं। उनका भगवद्धाम में गमन नहीं होता; वरन् प्राकृत लोकों में ही कर्म करने का अवसर उन्हें फिर दिया जाता है। जो सकाम कर्मी हैं, उन्हें श्रीभगवान् यज्ञेश्वर के रूप में कर्म का वाञ्छित फल देते हैं। सिद्धिकामी योगियों की भी अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार सभी प्राणी सफलता के लिए भगवत्कृपा पर आश्रित हैं। वास्तव में परमार्थ की विविध पद्धतियाँ एक ही पथ पर भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रगति करने के तुल्य हैं। अतएव कृष्णभावना रूपी चरम कृतार्थता की उपलब्धि से पूर्व सब उद्यम अपूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामुदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत्पुरुषं परम्।।

मनुष्य चाहे भक्तों के समान निष्काम हो, अथवा सम्पूर्ण कर्मफल चाहता हो या मोक्ष का अभिलाषी ही क्यों न हो, उसे पूरी सामर्थ्य से श्रीभगवान् की भक्ति ही करनी चाहिए। इससे वह परम सिद्धि प्राप्त हो जायगी, जिसका पर्यवसान कृष्णभावना है। (श्रीमद्भागवत २.३.१०)

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

अनुवाद

कर्मफल की कामना से मनुष्य इस संसार में देवताओं को यज्ञों द्वारा पूजते हैं क्योंकि इस जगत् में सकामकर्म का फल अतिशीघ्र होता है।।१२।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

अनुवाद

प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं, परन्तु इस व्यवस्था का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी को तू अकर्ता ही जान।।१३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता हैं, सब कुछ उनसे उत्पन्न है उन्हीं के द्वारा प्रतिपालित है तथा विनाश होने पर उन्हीं के आश्रय में रहता है। स्पष्टत. वे ही वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रणेता हैं। वर्णाश्रम धर्म में सर्वप्रथम बुद्धिवादियों का वर्ग है, जो

सत्त्वगुणी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय, प्रशासनिक वर्ग में रजोगुणी क्षत्रिय आते हैं। वैश्यों में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है तथा शूद्र प्रकृति के तमोगुण में स्थित हैं। मानव समाज में चतुर्वर्ण की सृष्टि करने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण इन सबसे अतीत हैं, क्योंकि वे उन बद्धजीवों के समान नहीं हैं जिनका एक अंश मानव समाज के रूप में है। मानव समाज बहुत सी दृष्टियों से पशु-समाज के सदृश है। अतः पशु स्तर से मनुष्य का उत्थान करने के लिए श्रीभगवान् ने उपरोक्त वर्णाश्रम की रचना की। इस पद्धति के द्वारा शनैः-शनैः कृष्णभावना उद्भावित हो जाती है। कर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति त्रिगुणों के उस अनुपात के अनुसार होती है, जिससे वह युक्त है। गुणो पर आधारित जीवन के उन लक्षणों का वर्णन इस ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष की कोटि ब्राह्मण से भी उत्तम है। गुणों के अनुसार ब्राह्मण को परतत्त्व का ज्ञाता होना चाहिए, परन्तु अधिकांश ब्राह्मण श्रीकृष्ण के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त कर पाते है। इसलिए जो पुरुष ब्राह्मण के सीमित ज्ञान का लघन करके भगवान् श्रीकृष्ण को जान जाता है, वही कृष्णभावनाभावित होता है, अर्थात् वैष्णव पद पाता है। कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण के राम, नृसिंह, वराह, आदि अंशों के ज्ञान का समावेश है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण मानव समाज की इस वर्णाश्रम व्यवस्था से परे हैं, उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित महापुरुष भी समाज, राष्ट्र, जाति, आदि जगत् के सब भेदों से अतीत हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

अनुवाद

मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नही होता क्योंकि मुझे कर्मफल की कामना नहीं है। मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानने वाला भी कर्मफल में लिपायमान नहीं होता। १४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

अनुवाद

प्राचीन काल के सब मुमुक्षु पुरुषों ने इसी ज्ञान के साथ कर्म करके मुक्ति-लाभ किया है। अतएव पूर्वजों की भाँति इस बुद्धियोग से युक्त होकर तू भी कर्तव्य का

आचरण कर।।१५।।

तात्पर्य

मनुष्यों की दो कोटियाँ हैं। कुछ का हृदय पूर्णतया विषय-कलुषित है, तो दूसरे विषयैषणा से मुक्त हैं। कृष्णभावनामृत इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। पूर्णतया विषय-दूषित व्यक्ति विधिभक्ति के आचरण द्वारा शनै-शनै. हृदय का परिशोधन करने के लिए कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। पहले से विशुद्ध पुरुषों को भी कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही तत्पर रहना चाहिए, जिससे उनकी आर्दश क्रियाओं का अनुकरण करके दूसरे भी कल्याण को प्राप्त हो सकें। देखा गया है कि प्राय. मूर्ख व्यक्ति अथवा कनिष्ठ साधक कृष्णभावनामृत को जाने बिना ही कर्म से विरक्त हो जाना चाहते है। रणांगण में कर्म से विरत हो जाने की अर्जुन की इच्छा को श्रीभगवान् ने स्वीकार नहीं किया। कल्याण के लिए कर्म करने की यथार्थ विधि को जानने की आवश्यकता है। कृष्णभावनाभावित कर्म को त्यागकर अलग बैठकर कृष्णभावनामृत का दम्भ करने की अपेक्षा श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्मक्षेत्र मे तत्पर रहना कहीं उत्तम है। इस श्लोक में अर्जुन को यह परामर्श दिया गया है कि वह सूर्यदेव आदि पूर्ववर्ती भगवद्भक्तों के चरणचिन्हों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनाभावित कर्म करे। भगवान् श्रीकृष्ण को उन सब कर्मों की स्मृति है जो उन्होने और उनके भक्तों (कृष्णभावनाभावित पुरुषों) ने पूर्व में किये थे। इसलिए वे सूर्यदेव के कार्य की स्तुति कर रहे हैं. जिसने करोड़ों वर्ष पूर्व उन्हीं से यह विद्या सीखी थी। भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के सब शिष्यों को यहाँ पूर्व में होने वाले मुक्तपुरुष कहा गया है, जो श्रीकृष्ण की आज्ञा रूपी कर्तव्य के पालन में तत्पर रहे। भाव यह है कि अर्जुन भी सूर्यदेव आदि महानुभावों का अनुगमन करता हुआ कृष्णभावनाभावित कर्म करे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

अनुवाद

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस प्रकार निर्णय करने में बुद्धिमान् भी मोहित हैं। इसलिए मैं तेरे लिए उस कर्मतत्त्व का वर्णन करूँगा, जिसे जान कर तू सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायगा।।१६।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

अनुवाद

कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप को भलीभाँति जानना चाहिए, क्योंकि कर्म का तत्त्व अति गहन है।।१७।।

तात्पर्य

भवबन्धन से मुक्ति के साधन में गम्भीरतापूर्वक तत्पर मनुष्य के लिए कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद को जान लेना आवश्यक है। कर्म, अकर्म एवं विकर्म के सम्बन्ध में गम्भीर स्वाध्याय अपेक्षित है, क्योंकि यह अतिशय गहन तत्त्व है। कृष्णभावनाभावित कर्म और गुणों के अनुसार किये जाने वाले कर्म में भेद को जानने के लिए श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को जानना होगा। भाव यह है कि जो पूर्ण विद्या से युक्त है, वह जानता है कि प्रत्येक जीव भगवान् का नित्यदास है और इस कारण कृष्णभावनाभावित कर्म करना जीवमात्र का कर्तव्य है। सम्पूर्ण भगवद्गीता का यही लक्ष्य है। इस भावना का विरोध करने वाले अन्य सब निष्कर्ष एवं परिणाम 'विकर्म' हैं। इस सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान के लिए कृष्णभावना के प्रामाणिक आचार्यों का सत्संग करके उनसे यह रहस्य हृदयगम करे। ऐसा करना साक्षात् श्रीभगवान् से शिक्षा ग्रहण करने जैसा कल्याणकारी है। महाभागवत के आश्रय के बिना तो बड़े से बड़ा बुद्धिमान् भी मोहित हो जाता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

अनुवाद

जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सब प्रकार के कर्मों मे प्रवृत्त होने पर भी मुक्त ही है।।१८।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला स्वभावत सम्पूर्ण कर्मबन्धनो से मुक्त रहता है। उसके सम्पूर्ण कार्य श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए हैं। इसलिए वह किसी भी प्रकार का कर्मजन्य सुख-दुःख नहीं भोगता। श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही सब कर्म करने के कारण वह मनुष्यो मे बुद्धिमान् है। 'अकर्म', अर्थात् कर्मफल से रहित। निर्विशेषवादी इस भयवश सकाम-कर्म से निवृत्त हो जाता है कि कही कर्मफल से मुक्तिपथ मे व्यवधान उपस्थित न हो जाय। भक्त को नित्य भगवत्-दास के रूप मे अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह कृष्णभावनाभावित क्रियाओ में

नित्य तत्पर रहता है। सभी कुछ श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए किया जाता है, इससे वह उस सेवा में केवल चिन्मय आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है। इस पद्धति में निष्ठ भक्त निजेन्द्रिय-तृप्ति की कामना से पूर्ण मुक्त हैं। 'मैं श्रीकृष्ण का नित्य दास हूँ', यह भाव सब कर्मफलों से मुक्त कर देता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अनुवाद

जिसके सब कर्म इन्द्रियतृप्ति की कामना से रहित हैं, उसको पूर्ण ज्ञानी समझा जाता है। उस पुरुष के कर्मफल ज्ञानरूप अग्नि में भस्म हो जाते हैं, ऐसा ऋषियों का कहना है।।१९।।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

अनुवाद

कर्मफल की आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर नित्यतृप्त और स्वतन्त्र पुरुष सब कर्म करता हुआ भी कभी कोई सकाम कर्म नहीं करता।।२०।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

अनुवाद

ऐसा ज्ञानी पुरुष, जिसने मन बुद्धि को पूर्ण रूप से वश में करके और अपनी सम्पूर्ण सामग्री में स्वामीपन के भाव को त्याग दिया है, केवल शरीरधारण के लिए कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।।२१।।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

अनुवाद

अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट, द्वन्द्वों और ईर्ष्या दोष से मुक्त तथा सिद्धि और असिद्धि को समान समझने वाला पुरुष कर्म करने पर भी नहीं बँधता।।२२।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष शरीरधारण के लिए भी विशेष उद्यम नहीं करता, स्वयंप्राप्त लाभ में ही सन्तुष्ट रहता है। वह याचना अथवा ऋण नहीं लेता, वरन् यथासामर्थ्य उद्यम करता है और सद्वृत्ति से जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसी में परितृप्त रहता है। इस प्रकार अपनी जीविका के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्र है, इसलिए किसी दूसरे की सेवा को अपने कृष्णभावनाभावित सेवा-कार्य में व्यवधान उपस्थित नहीं करने देता। दूसरी ओर, भगवत्सेवा के लिए संसार के द्वन्द्वों से प्रभावित हुए बिना वह किसी भी कर्म में प्रवृत्त हो सकता है। सांसारिक द्वन्द्वों का अनुभव शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःखादि के रूप में होता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष द्वन्द्वों से मुक्त रहता है, कारण वह श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कुछ भी कर्म करने में संकोच नहीं करता। इसीलिए सिद्धि तथा असिद्धि दोनों में वह समभाव रखता है। पूर्ण ज्ञानी में ये सब लक्षण प्रकट रहते हैं।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अनुवाद

जो पुरुष प्रकृति के गुणों में आसक्त नहीं है और पूर्णज्ञान में स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म अप्राकृत तत्त्व मे विलीन हो जाते हैं।।२३।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना।।२४।।

अनुवाद

जो कृष्णभावना में पूर्ण मग्न है, उस पुरुष के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है, वह उन ब्रह्मरूप क्रियाओं के परायण रहता है, जिनमें ब्रह्म ही अग्निरूपी गति है और अर्पित हवि भी ब्रह्ममय है।।२४।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के द्वारा अन्त मे किस प्रकार भगवद्धाम की प्राप्ति हो जाती है, यह इस श्लोक में कहा गया है। कृष्णभावनाभावित क्रियाये नाना प्रकार की हैं, जिनका अनुवर्ती श्लोकों में उल्लेख किया जायगा। उससे पूर्व, इस श्लोक में कृष्णभावनामृत के सिद्धान्त का निरूपण है। प्राकृत विकारों से युक्त बद्धजीव भव-परिवेश में कर्म किये बिना नहीं रह सकता. यह निश्चित है। अतएव भवमोचन

के लिए उसे इस परिधि से मुक्त होना है। कृष्णभावना वह पद्धति है जिसके द्वारा जीव भव-परिवेश से मुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए, दुग्ध-पदार्थों के अतिसेवन से हुई अपच एक अन्य दुग्ध-पदार्थ, दही के सेवन से ठीक हो जाती है। ऐसे ही, विषयासक्त बद्धजीव यहाँ गीता में प्रतिपादित कृष्णभावनामृत-योग के द्वारा भवरोग से मुक्त हो सकता है। साधारणतया इस पद्धति को यज्ञ अर्थात् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) की प्रसन्नता के लिए कर्म करना कहते हैं। लौकिक कार्यों को जितना अधिक कृष्ण-भावनाभावित होकर, अर्थात् श्रीविष्णु की प्रीति के लिए किया जायगा, पूर्ण तन्मयता के फलस्वरूप पर्यावरण उतना ही अधिक चिन्मय कृष्णभक्तिरस से परिप्लावित होगा। 'ब्रह्म' शब्द अप्राकृत तत्त्व का वाचक है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्दघन हैं; उनके श्रीविग्रह से निस्सृत किरणराशि ब्रह्मज्योति कहलाती है। उसी ब्रह्मज्योति में सब कुछ स्थित है। मायाच्छन्न हो जाने पर उसे प्राकृत (भौतिक) कहा जाता है। इस प्राकृत आवरण को कृष्णभावनामृत से तत्काल हटाया जा सकता है। अतएव कृष्णभावना के लिए अर्पित हवि, ग्रहणकर्ता, अर्पणक्रिया, अर्पणकर्ता और यज्ञफल —ये सभी समवेत रूप मे ब्रह्मतत्त्व है। मायाछन्न ब्रह्म ही जड़ प्रकृति कहलाता है और परब्रह्म की सेवा मे नियोजित प्रकृति फिर दिव्यता को प्राप्त हो जाती है। अतएव कृष्णभावना के अनुशीलन से मायाच्छादित चेतना अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। चित्त का कृष्णभावना मे पूर्णरूप से तन्मय हो जाना समाधि है। इस भगवन्निष्ठ मति (बुद्धियोग) से युक्त होकर जो भी कर्म किया जाता है, वह 'यज्ञस्वरूप' है। ऐसे भगवद्भाव में अर्पणकर्ता, अर्पित हवि, अर्पण-क्रिया, होता और यज्ञफल अर्थात् अन्तिम लाभ—सभी कुछ परब्रह्म में एकत्व को प्राप्त हो जाता है। यही कृष्णभावना की विधि है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥२५॥

अनुवाद

दूसरे योगी नाना यज्ञो के द्वारा देवताओं की भलीभाँति उपासना करते हैं, जबकि अन्य ज्ञानीजन परब्रह्मरूपी अग्नि में आहुति देते हैं।।२५।।

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, कृष्णभावना मे कर्तव्य का पालन करने वाला परमयोगी है। परन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं जो देवोपासना के लिए यजन करते हैं और परमेश्वर श्रीकृष्ण के निराकार तत्त्व से निमित्त यज्ञ करने वाले भी हैं। अतः विविध श्रेणियों के

अनुसार भिन्न-भिन्न यज्ञ किये जाते हैं। कर्ताभेद के अनुसार कल्पित नाना यज्ञ-श्रेणियाँ केवल बाह्यरूप से यज्ञों का वर्गीकरण करती हैं। यथार्थ यज्ञ का एकमात्र तात्पर्य तो 'यज्ञ' नामक परमेश्वर श्रीविष्णु का सन्तोष है। यज्ञों के मुख्य रूप से दो वर्ग हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ। कृष्णभावनाभावित महापुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए सर्वस्वत्याग कर देते है, जबकि क्षणिक प्राकृत सुख के अभिकाक्षी अन्य मनुष्य इन्द्र, सूर्यादि को प्रसन्न करने के लिए अपनी लौकिक सम्पत्ति का यजन करते है। इनके अतिरिक्त, निर्विशेषवादी तो निराकार ब्रह्म में विलीन होकर स्वरूप का ही यजन कर डालते हैं। देवताओं को ब्रह्माण्डीय तेज, जल, प्रकाशादि प्राकृत क्रियाओं की व्यवस्था के लिए श्रीभगवान् ने नियुक्त किया है। फिर भी भोगों के अभिलाषी वैदिक कर्मकाण्डमय यज्ञों के द्वारा देवोपासना करते हैं। इस कोटि के मनुष्य 'बहवीश्वरवादी' कहलाते हैं। दूसरी ओर, निर्विशेषवादी देव-वपुओं को अनित्य मानते हुए ब्रह्माग्नि में अपने स्वरूप का ही यजन कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ये निर्विशेषवादी ब्रह्मतत्त्व के चिन्मय स्वरूप को जानने के लिए दार्शनिक मनोधर्म के परायण रहते हैं। इस प्रकार, सकाम कर्मी इन्द्रियतृप्ति के लिए लौकिक स्वत्व का यजन करते हैं, और निर्विशेषवादी ब्रह्म में विलय के लिए अपनी प्राकृत उपाधियों का यजन करता है। निर्विशेषवादी के लिए यज्ञाग्नि ही परब्रह्म है एवं ब्रह्माग्नि में स्वरूप विलय होना यज्ञार्पण है। परन्तु अर्जुन की श्रेणी के कृष्णभावनाभावित भक्त श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए अपने सर्वस्व का अर्पण कर देते है। इस प्रकार आत्मस्वरूप सहित भक्त का सब कुछ श्रीकृष्ण की प्रीति-सम्पादन में समर्पित रहता है। अतएव भक्त परम योगी हैं; परन्तु उसका पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अनुवाद

उनमें से कुछ श्रवणादि क्रियाओं और इन्द्रियों का चित्तसयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं तो दूसरे शब्दादि इन्द्रियविषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं।।२६।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अनुवाद

दूसरे, जो मन और इन्द्रियों का संयम कर के स्वरूप-साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे सम्पूर्ण इन्द्रिय और प्राण क्रियाओं का चित्तसंयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं।।२७।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अनुवाद

दूसरे मनुष्य कठोर तप मे अपनी सम्पत्ति का त्याग करने से प्रबुद्ध होकर दृढ व्रत धारण कर के अष्टांगयोग का अभ्यास करते हैं, जबकि और दूसरे ज्ञानप्राप्ति के लिए वेद का स्वाध्याय करते हैं।।२८।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।।२९।।

अनुवाद

दूसरे मनुष्य समाधि के लिए प्राणायाम के परायण रहते है। वे अपान में प्राण का और प्राण में अपान को रोकने का अभ्यास करते हैं और अन्त में प्राण-अपान की गति को पूर्णरूप से रोककर समाधि मे स्थित हो जाते है। दूसरे सयमित भोजन करने वाले योगी प्राण का प्राण मे ही हवन किया करते है।।२९।।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।३०।।

अनुवाद

ये सभी यज्ञ करने वाले, जो यज्ञों का तात्पर्य जानते हैं, पापकर्मों से मुक्त हो जाते हैं और इन यज्ञों के प्रसादरूप अमृत का आस्वादन करके शाश्वत् परमधाम को प्राप्त करते हैं।।३०।।

तात्पर्य

द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, योगयज्ञ आदि विविध यज्ञों के पूर्व वर्णन से ज्ञात होता है कि इन सभी का उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करना है। भवरोग का मूल कारण इन्द्रियतृप्ति-परायणता है; अतएव इन्द्रियतृप्ति से ऊपर उठे बिना सच्चिदानन्द-

तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह शाश्वत् ब्रह्म-परिवेश का स्तर है। पूर्वोक्त यज्ञ प्रापञ्चिक जीवन में बनने वाले अपकर्मों से कर्ता का शोधन करते हैं। इस आत्मोन्नति के द्वारा केवल इस जीवन में ही सुख-वैभव की प्राप्ति नहीं होती, वरन् अन्त में यथायोग्य निर्विशेष ब्रह्मैक्य अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य में भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

अनुवाद

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक अथवा यह जीवन भी सुखदायक नहीं, फिर परलोक कैसे होगा?।।३१।।

तात्पर्य

जीव भवसागर की किसी भी योनि में क्यों न हो, अपना यथार्थ स्वरूप उसे अज्ञात ही रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने पिछले पापमय जीवनो के फलस्वरूप ही हमें संसार-बन्धन की प्राप्ति हुई है। पापमय जीवन का कारण अज्ञान है और जब तक जीवन पापपूर्ण रहता है, तब तक भवरोग निरन्तर बना रहता है। इस बन्धन-चक्र से मुक्ति का एकमात्र द्वार मानव शरीर है। अतएव धर्म, अर्थ, मर्यादित काम और अन्त में इस दुःखालय से पूर्ण मुक्ति का पथ प्रशस्त करके वेद हमें मोक्ष-प्राप्ति का अवसर प्रदान करते हैं। धर्मपथ से अथवा उपरोक्त नाना यज्ञो के द्वारा आर्थिक समस्याओं का अपने-आप समाधान हो जाता है। जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी यज्ञ करने से अन्न, दुग्धादि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं। शरीर के पोषण के बाद स्वभावतः इन्द्रियतृप्ति का स्थान आता है। इसलिए वेदों में संयमित इन्द्रियतृप्ति के लिए धर्मसम्मत विवाह का विधान है। इससे मनुष्य शनैः-शनैः भवबन्धन से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति की परम सिद्धि श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने में है। पूर्व कथन के अनुसार, यज्ञ से कृतकृत्यता हो जाती है। इस पर भी यदि कोई वेद के अनुसार यज्ञ नहीं करे तो वह सुखी जीवन की आशा किस प्रकार कर सकता है? विभिन्न स्वर्गीय लोकों में प्राकृत सुख के अलग-अलग स्तर हैं। अतः सभी दृष्टियों से यज्ञ करने वाले को प्रचुर सुख की उपलब्धि होती है। परन्तु मानव का सर्वोच्च सुख तो कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा भगवद्धाम को प्राप्त कर लेना है। जीवन के कृष्णभावनाभावित हो जाने से भवसागर के सम्पूर्ण दुःख दूर हो जाते हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

अनुवाद

वेदों मे वर्णित इन सभी यज्ञों को कर्म से उत्पन्न जान। इस प्रकार यज्ञतत्त्व को जान कर तू संसार से मुक्त हो जायगा।।३२।।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अनुवाद

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है, क्योंकि हे पार्थ! सब कर्मों का पर्यवसान दिव्यज्ञान ही है।।३३।।

तात्पर्य

सब यज्ञों का बस यही प्रयोजन है कि जीव को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो, जिससे वह भवरोग के दुःखों से मुक्त होकर अन्त में भक्तियोग के परायण हो जाय। तब भी ये विविध यज्ञ क्रियायें रहस्यमयी हैं। यह रहस्य मनुष्यमात्र के लिए जानने योग्य है। कर्ता की श्रद्धा के अनुपात में यज्ञों के विविध रूप हैं। जब यजनकर्ता की श्रद्धा ज्ञान के स्तर पर पहुँच जाय, तो उसे ज्ञानरहित द्रव्ययज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि ज्ञानशून्य यज्ञ प्राकृत स्तर पर हैं, वे कल्याण-प्राप्ति मे सहायक सिद्ध नहीं हो सकते। यथार्थ ज्ञान का पर्यवसान कृष्णभावना है, जो ब्रह्मविद्या की पराकाष्ठा है। ज्ञान के बिना यज्ञ लौकिक क्रियामात्र रह जाता है। परन्तु ज्ञान के साथ ऐसी सब क्रियाएँ दिव्यता प्राप्त कर लेती है। मतिभेद के आधार पर यज्ञक्रियाओ को कर्मकाण्ड (सकामकर्म) अथवा ज्ञानकाण्ड (सत्यजिज्ञास) कहा जाता है। अस्तु, वही यज्ञ श्रेष्ठ है, जिससे अन्त में ज्ञान की प्राप्ति हो जाय।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

अनुवाद

सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जान। वे तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे।।३४।।

तात्पर्य

भगवत्प्राप्ति का मार्ग निःसन्देह कठिन है। अतएव श्रीभगवान् का परामर्श है

कि उनसे प्रारम्भ हुई शिष्यपरम्परा के प्रामाणिक आचार्य की शरण ग्रहण करे। शिष्यपरम्परा के इस सिद्धान्त का उल्लंघन करने वाला यथार्थ गुरु नहीं हो सकता। श्रीभगवान् सबके आदिगुरु हैं, इसलिए उनकी परम्परा के आचार्य अपने शिष्य को यथार्थ भगवत्-तत्त्व का ज्ञान करा सकते हैं। मूर्ख पाखण्डियों की परिपाटी के अनुसार स्वनिर्मित पद्धति का अनुसरण करके कोई भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवत की प्रामाणिक उक्ति है— **धर्मं हि साक्षात्भगवत्प्रणीतम्** 'धर्मपथ का निर्णय स्वय श्रीभगवान् ने किया है। अतएव मनोधर्म अथवा शुष्क तर्क भगवत्प्राप्ति के पथ में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। ज्ञान के लिए यथार्थ सद्गुरु की शरण का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण कर दे, और मिथ्या अहकार को त्यागकर सेवक की भाँति उनकी परिचर्या में रात-दिन निष्ठ रहे। आत्मज्ञानी सद्गुरु का सतोष ही भगवत्प्राप्ति के पथ में द्रुत प्रगति करने की गुप्त कुञ्जी है। जिज्ञासा तथा आज्ञानुगमन, ये दोनों ज्ञानप्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन हैं। आज्ञापालन एव सेवाभाव के अभाव मे विद्वान् सद्गुरु से की गयी तत्त्वजिज्ञासा प्रभावोत्पादक नही होगी। शिष्य के लिए गुरु की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना आवश्यक है। जब गुरु देखते है कि शिष्य मे यथार्थ पारमार्थिक जिज्ञासा का उदय हो गया है, तो कृपापूर्वक उसके हृदय-प्रागण में यथार्थ ज्ञान का सचार कर देते है। इस श्लोक में अन्धानुकरण एवं अनर्गल जिज्ञासा, इन दोनों की निन्दा है। गुरुदेव के शरणागत होकर उनसे श्रवण ही नही करे, वरन् आज्ञानुगमन, सेवा और जिज्ञासा के द्वारा उनसे विशद ज्ञान भी प्राप्त करे। यथार्थ सद्गुरु स्निग्ध शिष्य पर स्वभावत. अतिशय कृपा का परिवर्षण किया करते है। अतएव जब शिष्य विनीत आज्ञानुवर्ती सेवा मे निरन्तर तत्पर रहता है, तो ज्ञान और जिज्ञासा का विनिमय (आदान-प्रदान) पूर्ण हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! उस ज्ञान के हो जाने पर तू फिर इस प्रकार मोह को कभी प्राप्त नहीं होगा; साथ ही यह जान जायगा कि सब जीव मेरे भिन्न-अंश हैं और मुझ में ही स्थित है।।३५।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

अनुवाद

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञानरूपी तरणी द्वारा इस दुःखसागर से अच्छी प्रकार तर जायगा।।३६।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

अनुवाद

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनो को जला डालती है।।३७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

अनुवाद

इस संसार मे ज्ञान के समान उदात्त (प्रभविष्णु) और पवित्र कुछ भी नही है। यह ज्ञान सम्पूर्ण योग का परिपक्व फल है। इसे प्राप्त मनुष्य यथासमय अपने आत्मस्वरूप का आस्वादन करता है।।३८।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

अनुवाद

जो पुरुष श्रद्धावान् है, जितेन्द्रिय है और ज्ञान मे लीन है, वह तत्काल परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।।३९।।

तात्पर्य

कृष्णभावना का ज्ञान श्रीकृष्ण में दृढ़ श्रद्धावान् को ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धावान् वही है जिसे यह विश्वास हो कि केवल कृष्णभावनाभावित कर्म करने से वह परम सिद्धि को प्राप्त हो जायगा। श्रद्धा की उद्भावना भक्तियोग एव **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** —इस महामन्त्र के कीर्तन से होती है जो सम्पूर्ण विषयवासना से चित्त का परिमार्जन कर देता है। इसके साथ, इन्द्रियसयम भी अनिवार्य है। श्रीकृष्ण में श्रद्धावान् जितेन्द्रिय पुरुष अविलम्ब कृष्णभावनारूप ज्ञान की कृतार्थता को सुगमता से प्राप्त हो जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अनुवाद

परन्तु सद्शास्त्रों में संशययुक्त, अज्ञानी और अश्रद्धालु मनुष्यों को भगवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती। संशयात्मा के लिए तो इस लोक में अथवा परलोक में भी कोई सुख नहीं है।।४०।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

अनुवाद

इसलिए हे धनंजय! जिसने कर्मफल का त्याग, अर्थात् श्रीभगवान् को अर्पण कर दिया है और विवेक द्वारा सब संशयों का नाश कर दिया है, उस आत्मपरायण पुरुष को कर्म नहीं बाँधते।।४१।।

तात्पर्य

जो मनुष्य भगवद्गीता की शिक्षा का उसी रूप में अनुसरण करता है जैसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उसका प्रवचन किया, वह दिव्य ज्ञान की कृपा से सब सशयों से मुक्त हो जाता है। पूर्ण कृष्णभावनाभावित होने के प्रभाव से उसे श्रीभगवान् के भिन्न-अंश के रूप मे अपने स्वरूप का ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतएव वह निस्सन्देह कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

अनुवाद

अतएव हे भरतवशी अर्जुन! हृदय मे अज्ञान से उत्पन्न सशय का ज्ञानरूप शस्त्र से छेदन कर डाल और फिर योग मे स्थित होकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा।।४२।।

तात्पर्य

इस अध्याय मे उपदिष्ट योगमार्ग 'सनातनयोग' अर्थात् 'जीवात्मा की नित्य क्रिया' कहलाता है। इस योग मे दो प्रकार के यज्ञकर्म किए जाते है—स्वत्व-त्यागमय द्रव्ययज्ञ एव शुद्ध आत्मज्ञानयज्ञ। यदि द्रव्ययज्ञ को भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाय तो वह प्राकृत यज्ञ बन कर रह जायगा। परन्तु यदि इन्ही यज्ञों को

आध्यात्मिक लक्ष्य से अथवा भक्तिभाव से किया जाता है तो ये सर्वांगीण पूर्ण हो जाते हैं। आध्यात्मिक क्रियाओं की भी दो कोटियाँ हैं—स्वरूप-बोध एवं भगवान् के तत्त्व का बोध। गीता के यथार्थ पथ का अनुगामी ज्ञान के इन दोनों वर्गों को बड़ी सुगमता से आत्मसात् कर लेता है। जीवात्मा श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है—इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति मे उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होती। यह ज्ञान परम कल्याणकारी है, क्योंकि इसके ज्ञाता को श्रीभगवान् की दिव्य लीला के तत्त्व का सहज में बोध हो जाता है। अध्याय के आदि मे श्रीभगवान् ने अपनी अलौकिक अतिमानवीय लीला का वर्णन किया है। जो गीतोपदेश को नहीं समझ सकता, वह अश्रद्धालु है और श्रीभगवान् से प्राप्त आंशिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर रहा है। जो मनुष्य इस शिक्षा की प्राप्ति के बाद भी श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता, वह निस्सन्देह प्रथम श्रेणी का मूढ है। कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को शनैः-शनैः स्वीकार करने से ही अज्ञान का अन्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्ययज्ञ, गृहस्थपालनरूप यज्ञ, इन्द्रिय-निग्रहयज्ञ, योगाभ्यासयज्ञ, तपयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म के पालन आदि के द्वारा जागृत होती है। 'यज्ञ' कहलाने वाली ये सभी क्रियाएँ नियत कर्मों पर आधारित है। परन्तु इन सब का सार स्वरूप-साक्षात्कार है। उसका जिज्ञासु ही भगवद्गीता का यथार्थ शिष्य है, पर श्रीकृष्ण के प्रामाण्य में संशय करने वाले का अवश्य पतन हो जाता है। अतः भगवद्गीता अथवा अन्य शास्त्रों का अध्ययन यथार्थ सद्गुरु के आश्रय में सेवामय प्रपन्नभाव से ही करना योग्य है। चिरन्तनकाल से चली आ रही शिष्यपरम्परा के पद पर आसीन गुरु ही प्रामाणिक हैं। वे श्रीभगवान् की उस शिक्षा से लेशमात्र भी च्युत नहीं होते, जिसका उपदेश उन्होने करोडो वर्ष पूर्व सूर्यदेव को किया था। सूर्य से ही 'गीतोपदेश' इस धराधाम पर अवतरित हुआ। अतएव भगवद्गीता के उसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। साथ ही, उन स्वार्थपरायण व्यक्तियों से नित्य सजग रहे जो दूसरो को सन्मार्ग से भ्रष्ट करते है। श्रीभगवान् निश्चित् रूप से परम पुरुषोत्तम है तथा उनका लीला-विलास अप्राकृत है, जो इस सत्य को हृदय में धारण कर लेता है, वह गीताध्ययन के उपक्रम से ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः।।

अथ पंचमोऽध्यायः



कर्मसंन्यासयोग

(कृष्णभावनाभावित कर्म)

अर्जुन उवाच।
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा हे कृष्ण! पहले आप मुझे कर्मों का सन्यास करने को कहते है और फिर भक्तिभावित कर्म की प्रशंसा करते है। इसलिये अब कृपापूर्वक इन दोनों मे से जो एक निश्चित किया हुआ कल्याणकारी साधन हो, वह मेरे लिये कहिये।।१।।

श्रीभगवानुवाच।
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, कर्मों का संन्यास और भक्तिभावित कर्मयोग दोनो ही कल्याणकारी हैं। परन्तु इन दोनों में भी, भक्तिभावित कर्मयोग कर्मसन्यास से श्रेष्ठ है।।२।।

तात्पर्य

इन्द्रियतृप्ति के लिए की जाने वाली सकाम क्रियाओ से भवबन्धन होता है। जब तक जीव शारीरिक सुख के लिए क्रियाओं में प्रवृत्त है, तब तक विविध योनियों में उसका देहान्तर मिट नहीं सकता। इस प्रकार भवबन्धन सदा बना रहेगा। यह श्रीमद्भागवत से भी प्रमाणित है·

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्मः यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः।।
पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः।।
एवं मनः कर्मवशं प्रयुंक्ते अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्।।

'साधारण लोग इन्द्रियतृप्ति के लिये उन्मत्त हो रहे है। वे नही जानते कि यह क्लेशमयी देह उनके पूर्वकृत सकाम कर्मों का फल है। नश्वर होने के साथ ही यह निरन्तर नाना प्रकार से कष्ट देती है। अतः इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नही है। सकाम कर्म की तत्त्वजिज्ञासा न करने वाले को जीवन में परास्त समझा जाता है, क्योंकि जब तक जीव इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहता है, तब तक उसे बारम्बार देहान्तर की प्राप्ति होती ही रहती है। मनके सकाम कर्मों में आसक्त और अज्ञानग्रस्त होने पर भी श्रीवासुदेव की भक्ति में ,प्रीतिभाव का वर्धन करता ही रहे, तभी शरीरबन्धन से मुक्ति सुलभ होगी।'' (श्रीमद्भागवत ५.५.४-६)

अत· मुक्ति के लिये केवल ज्ञान (देह से अतीत आत्मतत्त्व का बोध) पर्याप्त नहीं है। जीवात्मा के स्वरूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा भवबन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सकाम कर्म के समान नहीं होता। ज्ञानमय कर्म तो वस्तुत यथार्थ ज्ञान में प्रगति को दृढ़ करना है। कृष्णभावना के अभाव में सकाम कर्मों का संन्यास मात्र बद्धजीव के हृदय को यथार्थ रूप में स्वच्छ नहीं कर पाता और जब तक हृदयमार्जन नहीं हो जाता, तब तक सकाम कर्म बनते ही रहते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म साधक को कर्मबन्धन से स्वतः मुक्त कर देता है, जिससे उसे फिर प्राकृत स्तर पर नहीं उतरना पड़ता। अतएव

कृष्णभावनाभावित कर्म सन्यास से सदा उत्तम है, क्योंकि संन्याम में भी पतन का भय नित्य बना रहता है। कृष्णभावनाशून्य वैराग्य अपूर्ण है, जैसा श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में प्रमाणित किया है —

प्रापंचिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते।।

'मुमुक्षुओं का श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को प्रापञ्चिक समझकर त्याग देना अपूर्ण वैराग्य कहा जाता है।' वैराग्य पूर्णता को तब प्राप्त होता है जब वह इस ज्ञान से युक्त हो कि जो कुछ भी विद्यमान वस्तु है, वह श्रीभगवान की ही है, अतः जीव को किसी भी वस्तु पर अधिकार का भाव नही रखना चाहिये। यह वस्तुत समझ ले कि अपना कुछ भी नही है। इस निष्किञ्चन अवस्था में त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो यह जानता है कि सब कुछ श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, वह नित्य वैराग्यवान् है। सब कुछ श्रीकृष्ण का है, इसलिए सब वस्तुओं को श्रीकृष्णसेवा मे ही लगाना चाहिए। यह शुद्ध कृष्णभावनाभावित कर्म मायावादी सन्यासियो के उत्कट से उत्कट कृत्रिम वैराग्य से कहीं उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

अनुवाद

जो पुरुष न तो कर्मफल से द्वेष करता और न कर्मफल की इच्छा करता, उसे नित्य सन्यासी ही जानना चाहिए, क्योकि हे महाबाहु! ऐसा निर्द्वन्द्व मनुष्य सुखपूर्वक भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।।३।।

तात्पर्य

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य संन्यासी है, क्योंकि उसमे अपने कर्मफल के प्रति द्वेष अथवा कामना का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अलौकिक भक्तियोग के परायण ऐसे सन्यासी को पूर्ण ज्ञानी जानना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपने स्वरूप को जानता है। वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण अंशी हैं और वह उनका भिन्न-अंश है। यह ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि इसमें यह सत्य स्पष्ट झलकता है कि चिद्गुणों में श्रीकृष्ण और जीवो मे अभेद है और विस्तार में भेद है। श्रीकृष्ण से जीव के एक होने की धारणा भ्रान्तिमूलक है; वह अंशी के बराबर कभी नहीं हो सकता। जीव चिद्गुणों में श्रीभगवान् से अभिन्न है,

किन्तु विस्तार मे भिन्न है—इस यथार्थ ज्ञान के द्वारा आकांक्षा और शोक से मुक्त आत्मतुष्टि की प्राप्ति होती है। ऐसे ज्ञानी के चित्त में द्वन्द्वों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, क्योंकि वह जो कुछ भी करता है, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही करता है। द्वन्द्वातीत हो जाने से इस प्राकृत-जगत् में रहते हुए भी वह जीवन्मुक्त है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

अनुवाद

अज्ञानी ही भक्ति और भक्तिभावित कर्मयोग को सांख्ययोग से भिन्न कहते हैं। यथार्थ विद्वानों का तो कहना है कि इनमें से एक मार्ग का भी भलीभाँति अनुसरण करने वाला दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।।४।।

तात्पर्य

सांख्य का उद्देश्य जीवन की आत्मा को प्राप्त करना है। परमात्मा विष्णु ही प्राकृत-जगत् की आत्मा हैं। भक्तियोग का अर्थ उन्हीं परमात्मा की सेवा करना है। परमार्थ की एक पद्धति में वृक्ष के मूल का अन्वेषण किया जाता है, जबकि दूसरी मे जल से उसका अभिसिञ्चन किया जाता है। सांख्यदर्शन का यथार्थ विद्यार्थी जगत् के मूल—श्रीविष्णु को जानकर और फिर पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर उनकी सेवा में प्रवृत्त हो जाता है। सारांश में, दोनों पद्धतियों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों के आराध्य श्रीविष्णु हैं। अतएव परम लक्ष्य को न जानने वाले मनुष्य ही सांख्य तथा कर्मयोग के प्रयोजन में भेद करते हैं। यथार्थ पण्डितजन इन पृथक्-पृथक पद्धतियों के समीकृत (एकाकार) लक्ष्य को जानते हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

अनुवाद

जो यह जानता है कि संन्यास से प्राप्त होने वाला स्थान भक्तिभगवित कर्म से भी प्राप्त हो सकता है और इसलिए जो कर्मयोग तथा संन्यासपथ को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।।५।।

तात्पर्य

दार्शनिक गवेषणा का यथार्थ प्रयोजन जीवन के परम लक्ष्य को पाना है। जीवन का परम लक्ष्य स्वरूप-साक्षात्कार है; इसलिए दोनों पद्धतियों से एक ही तत्त्व की

उपलब्धि होती है। सांख्यदर्शन से यह निर्णय होता है कि जीवात्मा प्राकृत-जगत् का नहीं, वरन् अंशी श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतएव आत्मा का प्राकृत-जगत् से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, उसके कर्म श्रीभगवान् से ही सम्बद्ध होने चाहिए। जब वह कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, तो अपने यथार्थ स्वरूप में रहता है। सांख्यरूपी साधन में प्रकृति से अनासक्त होना होता है और भक्तियोग की पद्धति मे श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्मों में आसक्ति का सेवन करना है। अतः दोनों पद्धतियाँ एक ही हैं। केवल बाह्य दृष्टि से लगता है कि एक पद्धति में अनासक्ति का अभ्यास करना है और दूसरी में आसक्ति का। प्रकृति से अनासक्ति तथा श्रीकृष्ण में आसक्ति एक ही वस्तु है। जो इस दृष्टि से युक्त है, वही यथार्थ तत्त्वदर्शी है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

अनुवाद

भक्तियोग के बिना केवल कर्मसंन्यास द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु भक्तिभावित कर्म से शुद्ध हुए ऋषिजन श्रीभगवान् को अति शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं।।६।।

तात्पर्य

संन्यासी दो प्रकार के होते है—एक मायावादी, दूसरे वैष्णव। मायावादी सांख्यदर्शन के स्वाध्याय मे लगे रहते हैं तथा वैष्णव सन्यासी वेदान्तसूत्र के सच्चे भाष्य—श्रीमद्भागवत-दर्शन का अध्ययन करते हैं। मायावादी संन्यासी वेदान्तसूत्र का अध्ययन तो करते है, परन्तु वे केवल शंकराचार्य द्वारा रचित अपने सम्प्रदाय के शारीरक भाष्य को उपयोग में लाते हैं। दूसरी ओर, भागवतधर्म के अनुयायी पाँचरात्रिक की विधि के अनुसार भगवद्भक्ति मे संलग्न रहते हैं। वैष्णव सन्यासी वास्तव मे चिन्मय भगवद्भक्ति मे नाना कार्य करते है। वैष्णव सन्यासियों को सांसारिक क्रियाओं से लेशमात्र भी प्रयोजन नहीं, फिर भी भगवद्भक्ति के सम्पादन में वे विविध क्रियाएँ करते है। पर सांख्य और वेदान्त के स्वाध्याय एव मनोधर्म मे लगे हुए मायावादी सन्यासी भगवद्भक्ति का आस्वादन नहीं कर पाते। उनका अध्ययन अत्यन्त श्रमावह हो जाता है, इसलिए कभी-कभी ब्रह्मविषयक मनोधर्मी से श्रान्त, भ्रान्त एव क्लान्त होकर पर्याप्त बोध के बिना ही वे श्रीमद्भागवत का आश्रय ग्रहण कर लेते है। इस कारण उनके लिए श्रीमद्भागवत का अध्ययन भी क्लेशप्रद है। मायावादी संन्यासियों का शुष्क मनोधर्म तथा वाग्चातुर्य उनके लिए बिल्कुल

निरर्थक सिद्ध होता है। दूसरी ओर, भगवद्भक्ति-परायण वैष्णव संन्यासी अपने दिव्य कर्तव्यों के पालन में सुखानुभूति करते है और यह भी निश्चित रहता है कि अन्त में उन्हें भगवद्धाम की प्राप्ति हो जायगी। मायावादी संन्यासी तो कभी-कभी आत्मतत्त्व के मार्ग से भ्रष्ट होकर समाजसेवा, परोपकार आदि प्राकृत क्रियाओं में ही फिर प्रवृत्त हो जाते हैं। अत. सारांश मे कृष्णभावनाभावितभक्त केवल ब्रह्मपरक मनोधर्म करने वाले सन्यासियों से श्रेष्ठ हैं, यद्यपि इन्हें भी बहु जन्मान्तरों के पश्चात् कृष्णभावनामृत की प्राप्ति हो जाती है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

अनुवाद

जो शुद्ध अन्त.करण, आत्मसयमी तथा जितेन्द्रिय पुरुष भक्तिभाव से कर्म करता है, वह सब प्राणियों को प्रिय होता है उसे भी सब प्राणी प्रिय होते है। नित्य कर्म करते हुए भी वह कभी नही बँधता।।७।।

तात्पर्य

कृष्णभावना के साधन से मुक्तिपथ का पथिक प्राणीमात्र का अतिशय प्रेमपात्र है और उसे भी प्राणीमात्र प्रिय होता है। इसका कारण उसकी कृष्णभावना है। ऐसा व्यक्ति किसी भी प्राणी को श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित नहीं समझ सकता, उसी भाँति जैसे वृक्ष के पत्ते-शाखा आदि वृक्ष से अलग नही होते। वह भलीभाँति जानता है कि तरुमूल को जल द्वारा सींचने से जल सम्पूर्ण पत्तों और शाखाओं में वितरित हो जायगा, जैसे भोजन द्वारा उदरपर्ति करने से सम्पूर्ण शरीर में शक्ति का सचार हो जाता है। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला प्राणीमात्र की सेवा में निष्ठ रहता है, इसलिए सर्वप्रिय हो जाता है। वह शुद्धमति भी है, क्योंकि उसके कार्य से सभी का परितोषण होता है। शुद्धमति के प्रभाव से उसका चित्त पूर्णतया संयमित रहता है, जिसके परिणाम मे इन्द्रियाँ भी संयमित हो जाती है। उसका चित्त सदा श्रीकृष्ण पर केन्द्रित रहता है। अत. उसके लिए श्रीकृष्ण से विचलित होने की कोई सम्भावना नही और न ही उसकी इन्द्रियाँ भगवत्सेवा के अतिरिक्त अन्य विषय मे प्रवृत्त हो सकती हैं। श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित विषयों का श्रवण उसे अप्रिय होता है, वह ऐसा कोई भी पदार्थ खाना नही चाहता, जो श्रीकृष्ण को अर्पित न किया गया हो। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध बिना वह कही जाना भी नहीं चाहता। इस प्रकार उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती है। ऐसा जितेन्द्रिय पुरुष किसी का अपराध नहीं कर सकता। इस पर यह जिज्ञासा हो

सकती है कि तब अर्जुन ने (युद्ध में) शत्रु पर प्रत्याघात क्यों किया? क्या वह कृष्णभावनाभावित नहीं था? वस्तुत अर्जुन तो केवल बाह्यरूप से आक्रमण कर रहा था, क्योंकि जैसा द्वितीय अध्याय मे कहा जा चुका है, आत्मा की अवध्यता के कारण युद्धस्थल मे इकट्ठे हुए सब योद्धाओ का अपना निजी स्वरूप सदा बना रहेगा। अतएव आत्मा की दृष्टि से तो कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में किसी की भी मृत्यु नही हुई। श्रीकृष्ण के आज्ञानुसार, (जो वहाँ स्वयं विराजमान थे) केवल उनके देहरूपी परिधान को बदला गया। कुरुक्षेत्र में युद्ध करते हुए भी अर्जुन वास्तव मे युद्ध नहीं कर रहा था। उसने तो बस पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर श्रीकृष्ण की आज्ञा का केवल पालन किया। ऐसे पुरुष को कभी कर्मबन्धन नही होता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

अनुवाद

बुद्धियोग से युक्त पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, जाते, सोते तथा श्वास लेने में प्रवृत्त होते हुए भी अपने अन्तर में यही मानता है कि वास्तव में वह कुछ भी नही करता, बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, और नेत्रों को खोलते-मीचते हुए भी वह निरन्तर जानता है कि इन्द्रियाँ ही अपने विषयो मे प्रवृत्त हो रही है और वह उनसे पृथक् है।।८-९।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

अनुवाद

श्रीभगवान् मे कर्मफल का समर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर स्वधर्म का आचरण करने वाला पाप से लिपायमान नहीं होता, उसी भाँति जैसे जल में रहने पर भी कमलपत्र का जल स्पर्श नही करता।।१०।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

अनुवाद

योगीजन आसक्ति को त्यागकर शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा भी केवल आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते है।।११।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा किया गया कृष्णभावनाभावित कर्म प्राकृत विकारों से मुक्त है। कृष्णभावनाभावित पुरुष की क्रियाओं का कोई लौकिक फल नही होता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म करने पर सदाचार सुगमता से सम्पन्न हो जाता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।।

शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से निरन्तर कृष्णभावनाभावित कर्म (श्रीकृष्णसेवा) परायण महात्मा प्राकृत क्रियाओं में सलग्न प्रतीत होने पर भी वास्तव मे इस प्राकृत जगत मे भी जीवन्मुक्त है। उसमे मिथ्या अहकार नहीं रहता। वह इस प्राकृत देह में अहता-ममता नही रखता। उसे बोध हो जाता है कि स्वरूप स वह इस देह से भिन्न है और यह देह भी उसकी नही है। उसके तथा उसकी देह के श्रीकृष्ण ही एकमात्र स्वामी है। देह, मन, बुद्धि, वाणी, जीवन, धन, आदि सम्पूर्ण स्वत्व को श्रीकृष्णसेवा मे समर्पित करने पर वह तत्क्षण श्रीकृष्ण से युक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण में तन्मय पुरुष देह में आत्मबुद्धि करने वाले मिथ्या अहकार से मुक्त रहता है। यही कृष्णभावना की पूर्णावस्था है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तां निबध्यते।।१२।।

अनुवाद

निश्चल भक्त मेरे प्रति सम्पूर्ण कर्मफल का अर्पण करके अचल शान्ति को प्राप्त हा जाता है, और जो मुझ से युक्त नही है, वह कर्मफल की कामना से बँधता है।।१२।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष और देह को अपना स्वरूप समझने वाले में भेद बस इतना ही है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण मे आसक्त रहता है, जबकि शरीरबद्ध व्यक्ति अपने कर्मों के फल में आसक्त होता है। जो मनुष्य श्रीकृष्ण में

आसक्त है और श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही कर्म करता है, वह निश्चित रूप से जीवन्मुक्त है क्योंकि उसे कर्मफल की कामना नहीं है। श्रीमद्भागवत में परतत्त्व के ज्ञान के बिना अथवा द्वैत-धारणा के साथ कर्म करने को कर्मफल के लिए होने वाले उद्वेग का कारण बताया है। श्रीकृष्ण परम अद्वय तत्त्व भगवान् हैं। अतएव कृष्णभावना द्वैत से मुक्त हैं। जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ कृष्णशक्ति का कार्य है तथा श्रीकृष्ण सर्वमंगलमय हैं। अत. कृष्णभावनाभावित क्रियाएँ ब्रह्ममयी हैं; दिव्य होने के कारण उनसे बन्धन नही होता। इस कारण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर जीव शान्ति से आपूरित हो जाता है। परन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए फल का अभिलाषी उस शान्ति को प्राप्त नही कर सकता। यही कृष्णभावनामृत का रहस्य है—श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित कुछ भी सत्ता नहीं है, इस अनुभूति से परम शान्ति और अभय पद की प्राप्ति होती है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

अनुवाद

जब शरीरबद्ध जीवात्मा अपनी प्रकृति का सयम करके मन से सब कर्मों का त्याग कर देता है, तब वह नौ द्वार वाले नगर (प्राकृत देह) में कुछ भी करते अथवा करवाते बिना सुख से रहता है।।१३।।

तात्पर्य

देहबद्ध जीवात्मा नौ द्वार वाली पुरी का निवासी है। देहरूपी नगरी के कार्य प्राकृतिक गुणों द्वारा स्वयमेव होते रहते है। अपने आप देह की परिस्थितियों के आधीन हुआ जीव इच्छा होने पर इनसे मुक्त भी हो सकता है। अपने दिव्य स्वरूप की विस्मृतिवश ही वह अपने को प्राकृत देह मान बैठता है और परिणाम मे दु ख भोगता है। कृष्णभावनामृत से यथार्थ स्वरूप को फिर प्राप्त करके वह देह के बन्धन से मुक्त हो सकता है। वास्तव में कृष्णभावना धारण करते ही जीव तत्क्षण सब शारीरिक क्रियाओ से सर्वथा असंग हो जाता है। इस प्रकार के मर्यादित जीवन के प्रभाव से उसके चिन्तन में भी परिवर्तन आ जाता है जिससे वह नौ द्वार वाली पुरी मे सुखपूर्वक निवास करता है। नौ द्वार ये है—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।

'जीवात्मा की देह में निवास करने वाले श्रीभगवान् ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों

के स्वामी हैं। देह के नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो नासाछिद्र, दो कर्ण, मुख, गुदा तथा उपस्थ। बद्धावस्था में जीव अपने को देह समझता है; किन्तु जब उसे अन्तर्यामी भगवान् और अपने में सादृश्य का बोध होता है, तो देहस्थ होने पर भी वह श्रीभगवान् के समान ही मुक्त हो जाता है।' (श्वेत ३।१८)

अतएव कृष्णभावनाभावित पुरुष प्राकृत देह की बाह्य-आंतरिक, दोनों ही प्रकार की क्रियाओं से मुक्त है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

अनुवाद

देहरूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा कर्म अथवा कर्मफल को नहीं रचता और न ही किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों का ही कार्य है।।१४।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् किसी के भी पाप पुण्य को ग्रहण नही करते, जीवों के ज्ञान को अज्ञान ने ढक रखा है, इसी से वे मोह को प्राप्त हो रहे हैं।।१५।।

तात्पर्य

विभु शब्द का अर्थ परमेश्वर श्रीकृष्ण से है, जो अनन्त ज्ञान, श्री, वीर्य, यश, रूप तथा त्याग से युक्त हैं। वे सदा आत्मतृप्त हैं, पाप-पुण्य से उद्वेलित नही होते। किसी के लिए किसी विशिष्ट परिस्थिति का सृजन वे नहीं करते। अज्ञान से विमोहित जीवात्मा ही जीवन की विशिष्ट परिस्थितियो की कामना करता है, जिससे कर्म तथा कर्मफल की शृंखला चल पड़ती है। परा प्रकृति का अश होने से जीव वास्तव में ज्ञानमय है। फिर भी अल्प सामर्थ्यवश वह अज्ञानमग्न हो जाता है। श्रीभगवान् सर्वसमर्थ हैं, परन्तु जीव नहीं। श्रीभगवान् विभु हैं, जबकि जीव अणु है। जीवात्मा को इच्छा करने की स्वतन्त्रता तो प्राप्त है, परन्तु उसकी पूर्ति करना केवल सर्वसमर्थ श्रीभगवान् के हाथ में है। अतः जब इच्छाओं से जीव विमोहित हो जाता है, तो श्रीभगवान् उसे अपनी इच्छा-पूर्ति करने देते हैं; पर किसी भी अभिलाषित परिस्थिति के कर्म और कर्मफल के लिए वे स्वयं उत्तरदाता नहीं हैं। इस प्रकार मोह के वशीभूत

हुआ बद्धजीव प्रासंगिक प्राकृत देह को अपना स्वरूप समझ कर जीवन के क्षणिक दु:ख-सुख भोगता है। परमात्मा के रूप में श्रीभगवान् जीव के नित्य सहचर हैं। वे जीवात्मा की इच्छा जान सकते हैं, उसी भाँति जैसे समीपवर्ती पुष्प की सौरभ को सूंघा जा सकता है। वासना जीवात्मा के बन्धन का सूक्ष्म रूप है। श्रीभगवान् उसकी कामना को यथायोग्य पूरा करते हैं। स्वयं अपनी इच्छा को पूर्ण करने की शक्ति का जीव में अभाव है; परन्तु श्रीभगवान् सर्वसमर्थ वाञ्छाकल्पतरु हैं। प्राणीमात्र में उनका समभाव है, इसलिए अणु स्वतन्त्रता वाले जीवों की इच्छाओं में वे हस्तक्षेप नहीं करते। विशेष रूप से जब कोई स्वयं श्रीकृष्ण की इच्छा करता है तो वे विशेष ध्यान देते हैं और उसे इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं कि वह उन्हें प्राप्त हो कर शाश्वत् सुख का आस्वादन कर सके। वैदिक मन्त्रों का उद्घोष है

एष उह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते।
एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते।।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च।।

'जीव के उत्थान के लिए श्रीभगवान् उसे सत्कर्म में प्रवृत्त करते हैं और असत्कर्म में इसलिए लगाते हैं, जिससे वह नरकगामी हो। जीवात्मा अपने सुख-दु:ख में पूर्णतया परतन्त्र है। वायुप्रेरित मेघ की भाँति भगवत्-इच्छा से ही वह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।'

अस्तु, कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करने की अपनी अनादिकालीन प्रवृत्ति के कारण बद्धजीव अपने बन्धन का स्वय कारण बनता है। स्वभावत: सच्चिदानन्दमय होते हुए भी अपनी बद्ध, अल्प सत्ता के कारण वह यह भूल जाता है कि स्वरूप से वह भगवान् का दास है और परिणाम में मायाबद्ध हो जाता है। अज्ञान-आवरण के वश में ही जीव ऐसा कहता है कि उसके भवबन्धन के लिए श्रीभगवान् उत्तरदायी है। वेदान्त से यह समर्थित है

वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।

'प्रभु वास्तव मे किसी के भी प्रति घृणा अथवा आसक्तिभाव नहीं रखते।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम।।१६।।

अनुवाद

परन्तु जब जीव अज्ञान का नाश करने वाले ज्ञान से प्रबुद्ध हो जाता है, तो उसका वह ज्ञान सम्पूर्ण तत्त्व को उसी प्रकार प्रकट कर देता है, जैसे दिन मे सूर्य सब कुछ प्रकाशित करता है।।१६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण को भूल बैठने वाले अवश्य मोहित होते है। इसके विपरीत, कृष्णभावनाभावित पुरुष कभी मोहित नहीं हो सकते। भगवद्गीता (चतुर्थ अध्याय) मे उल्लेख है **सर्वं ज्ञानप्लवेन, ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि** तथा **न हि ज्ञानेन सदृशं।** ज्ञान सदा परम सम्मान्य है। उस ज्ञान का स्वरूप क्या है? पूर्ण ज्ञान श्रीकृष्ण के चरणयुगल की शरण ग्रहण करने से ही होता है, जैसा सातवे अध्याय के उन्नीसवे श्लोक में कहा है **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।** अनेक-अनेक जन्मान्तरो के उपरान्त जब पूर्ण ज्ञानी श्रीकृष्ण के शरणागत होता है अथवा कृष्णभावनाभावित बन जाता है तो उसके प्रति समग्र तत्व प्रकट हो जाते है, उसी प्रकार जैसे दिन मे सूर्य सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशित करता है। जीवात्मा कितने ही प्रकार से मोहित होता है। उदाहरणस्वरूप, जब वह धृष्टतापूर्वक अपने को भगवान् मान बैठता है तो माया के सब से भीषण पाश मे बँध जाता है। यदि जीव ईश्वर है तो वह मायामोहित कैसे हो सकता है? यदि ऐसा सम्भव है तो माया श्रीभगवान् से गुरुतर सिद्ध हुई। यथार्थ ज्ञान कृष्णभावनाभावित महापुरुष से ही प्राप्य है। अतएव ऐसे यथार्थ सद्गुरु के शरणागत होकर कृष्णभावनामृत की शिक्षा को हृदयगम करे। जिस प्रकार भुवनभास्कर सूर्य अधकार का निवारण करता है, उसी भाँति सद्गुरु सम्पूर्ण अज्ञान को दूर कर सकते है। यह हो सकता है कि देह से अतीत आत्मतत्त्व को पूर्ण रूप से जानने वाला भी आत्मा तथा परमात्मा मे भेद न कर सके, पर भगवत्प्राप्त कृष्णभावनाभावित सद्गुरु की शरणागति से वह पूर्ण तत्त्वज्ञ हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि के सान्निध्य में ही श्रीभगवान् का और श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि का उनके समान आदर किया जाता है, क्योंकि वे भगवत्-तत्त्व को जानते है, परन्तु वे स्वयं अपने को भगवान् कभी घोषित नही करते। श्रीभगवान् और जीव मे भेद का ज्ञान आवश्यक है। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय (२ १२) मे कहा है कि प्रत्येक जीव का और उन (श्रीभगवान्) का अपना-अपना स्वरूप है। पूर्वकाल मे भी उनका पृथक् स्वरूप था, वर्तमान मे भी है और भविष्य मे मुक्ति हो जाने पर भी रहेगा। रात्रि के अधकार मे सब कुछ एकरूप भासता है; किन्तु उषाकाल मे सूर्योदय

होते ही प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर हो जाती है। जीव और भगवान में अचिन्त्य-भेद-अभेद का ज्ञान ही सच्चा पारमार्थिक ज्ञान है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

अनुवाद

अपनी बुद्धि, चित्त और निष्ठा श्रीभगवान् मे केन्द्रित करके जब जीव उन्हीं के परायण हो जाता है, तब वह पूर्ण ज्ञान द्वारा पाप और सशयो से शुद्ध होकर तत्काल मुक्तिपथ पर आरूढ हो जाता है।।१७।।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

अनुवाद

यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल मे समदर्शी होते है।।१८।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

अनुवाद

जिनका चित्त समता में स्थित है, उन्होंने इसी जीवन मे जन्म-मृत्यु आदि बन्धनो पर विजय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म के समान निर्दोष होने के कारण वे सदा ब्रह्म मे ही स्थित हैं।।१९।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

अनुवाद

जो न तो प्रिय वस्तु की प्राप्ति से हर्षित होता और न अप्रिय की प्राप्ति होने पर उद्विग्न होता, जो मोहरहित स्थिरबुद्धि पुरुष भगवान् के तत्त्व को जानता है, उसे नित्य ब्रह्मतत्त्व में ही स्थित जानना चाहिए।।२०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में आत्मतत्त्व के ज्ञाता महापुरुष के लक्षणों का उल्लेख है। उसका प्रथम लक्षण यह है कि वह मिथ्या देहात्मबुद्धि से मोहित नहीं होता। अपितु, भलीभाँति

जानता है कि वह प्राकृत देह नहीं है, वरन् श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतः देह सम्बन्धी किसी भी वस्तु की प्राप्ति में उसे हर्ष नहीं होता और न ही किसी वस्तु की हानि में वह शोकाकुल होता। मन की इस समता को स्थिरबुद्धि कहते हैं। अतः स्थूल देह को आत्मा समझने का भ्रम उसे कभी नहीं होता और न ही देह को नित्य मान कर वह आत्मा की उपेक्षा करता है। यही ज्ञान उसे ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् नामक परतत्त्व के सम्पूर्ण विज्ञान में स्थित कर देता है। इस प्रकार, श्रीभगवान् से सर्वथा एक हो जाने के लिए मिथ्या प्रयत्न से मुक्त होकर वह अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से जान जाता है। यही ब्रह्मानुभूति अथवा स्वरूप-साक्षात्कार है। ऐसी स्थिरमति (चेतना) ही कृष्णभावना कहलाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

अनुवाद

ऐसा मुक्त पुरुष इन्द्रियसुख अथवा बाह्य विषयों में अनासक्त होकर अपने स्वरूप में आनन्द अनुभव करता हुआ नित्य समाधिस्थ रहता है। इस प्रकार श्रीभगवान् में एकाग्र होकर स्वरूपप्राप्त पुरुष अनन्त सुख का आस्वादन करता है।।२१।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

अनुवाद

हे अर्जुन! ये जो इन्द्रियो और विषयों से उत्पन्न होने वाले भोग है, वे केवल दुःख के कारण है और आदि-अन्त वाले हैं। इसलिए विवेकी पुरुष उनमें नही रमता।।२२।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

अनुवाद

जो मनुष्य शरीर का नाश होने से पूर्व इन्द्रियों की उत्तेजना और काम-क्रोध के वेगों को सहन कर सकता है, वह इस संसार में योगी है और वही सुखी है।।२३।।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

अनुवाद

जो आत्मा में सुख का अनुभव करता है, आत्मा में क्रियाशील है और आत्मा में ही दृष्टि वाला है, वही यथार्थ में संसिद्ध योगी है और अन्त में परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।२४।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

अनुवाद

जो द्वैत तथा संशय से मुक्त हो चुके हैं, जिनका चित्त आत्मपरायण है, जो सम्पूर्ण पापों से रहित हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण में सलग्न हैं, वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं।।२५।।

तात्पर्य

एकमात्र पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष को ही जीवमात्र के कल्याणकार्य में संलग्न कहा जा सकता है। जो मनुष्य तत्त्व से जानता है कि श्रीकृष्ण सबके आदिकारण हैं और इसी भावना से भावित होकर कर्म करता है, वह सबका कल्याण-कार्य करता है। मानवता के दुःखो का कारण यह भूल जाना है कि श्रीकृष्ण परम भोक्ता, परम ईश्वर और सबके परम सुहृद हैं। अत. पूरे मानवीय समाज में इस भावना के पुनर्जागरण के लिए कर्म करना परमोच्च कल्याणकार्य है। एक मुक्तपुरुष ही उत्तम कल्याण-कार्य कर सकता है। कृष्णभावनाभवित पुरुष को श्रीकृष्ण की परात्परता में लेशमात्र संशय नहीं रहता। पूर्ण पापमुक्त हो जाने के कारण उसमें सशय का अभाव हो जाता है। यह दिव्य भगवत्प्रेम की अवस्था है।

जो व्यक्ति मानव समाज का भौतिक कल्याण करने में ही लगा हुआ है, वह यथार्थ में किसी की भी सहायता नहीं करता। देह और चित्त को दिया गया क्षणिक सुख सन्तोषकारी नहीं कहा जा सकता। जीवन-संघर्ष में आने वाली भीषण कठिनाइयों का यथार्थ कारण तो जीव का श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को भूल जाना ही है। जिस मनुष्य को श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का बोध हो जाता है वह संसार रूपी सराय में रहता हुआ भी वास्तव में जीवन्मुक्त है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

अनुवाद

जो काम-क्रोध से मुक्त है, आत्मस्वरूप को जानते हैं, आत्मसयमी है और ससिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्हें सब ओर से परमगति प्राप्त है।।२६।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

अनुवाद

सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयों को बाहर ही त्याग कर, दृष्टि को भृकुटी के मध्य में केन्द्रित रखते हुए नासिका मे विचरने वाले प्राणापान को रोक कर चित्त, इन्द्रियों तथा बुद्धि को वश में करने वाला योगी इच्छा, भय और क्रोध से पूर्ण मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में निरन्तर रहने वाला निस्सन्देह जीवन्मुक्त है।।२७-२८।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

अनुवाद

मुझे सम्पूर्ण यज्ञ-तप का परम प्रयोजन (भोक्ता), सम्पूर्ण लोको और देवताओ का परमेश्वर तथा प्राणीमात्र का सुहृद जानकर ऋषिजन ससार के दु खो से शान्ति-लाभ करते है।।२९।।

तात्पर्य

माया के आधीन सभी बद्धजीव प्राकत-जगत् मे शान्ति के लिए आतुर है, परन्तु भगवद्गीता के इस श्लोक में वर्णित शान्ति-लाभ की यथार्थ-विधि को वे नहीं जानते। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं के भोक्ता है—यह ज्ञान परम-शान्ति का सरल मार्ग है। इसके अतिरिक्त, वे ही सम्पूर्ण लोकों तथा उनमे स्थित देवताओं के परमेश्वर हैं। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि अपना सर्वस्व उन्हीं की दिव्य सेवा में समर्पित कर दें। उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं। वे देवाधिदेव शिव-ब्रह्मा आदि से भी महान् हैं। वेदों मे परमेश्वर श्रीकृष्ण का यह वर्णन है: **तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्** माया-मोहवश जहाँ दृष्टि जाती है, जीव वही अपना

प्रभुत्व करने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु वास्तव मे वे सब भगवान् की माया के आधीन हैं। भगवान् श्रीकृष्ण माया के स्वामी है, जबकि जीव माया कठोर नियमों के परवश हैं। इस नितान्त सत्य को जाने बिना व्यक्तिगत अथवा संयुक्त रूप से भी ससार में शान्ति की उपलब्धि कभी नही हो सकती। कृष्णभावनामृत का भाव यह है भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर है, और देवताओं सहित सारे जीव उनके अनुचर है। इस पूर्ण कृष्णभावनामृत मे ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

पॉचवें अध्याय में कृष्णभावनामृत का व्यावहारिक (क्रियात्मक) निरूपण है, जेसे सामान्यत कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग मुक्तिकारक कैसे हो सकता है?—इस मनोधर्मप्रेरित प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया गया है। कृष्णभावनाभावित कर्म करना इस पूर्ण ज्ञान मे युवत होकर कर्म करना है कि श्रीकृष्ण परम ईश्वर है। ऐसे कर्म में और ज्ञान मे भेद नही है। कृष्णभावनामृत माक्षात् भवितयोग है, जबकि ज्ञानयोग भक्तियोग की प्राप्ति का केवल एक पथ है। कृष्णभावनामृत का अर्थ परमसत्य से अपने सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान के साथ कर्म करना है; इस भावना की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण रूप से जानने मे है। शुद्ध आत्मा भगवान् के भिन्न-अश के रूप मे उनका नित्य दाम है। माया पर प्रभुत्व की इच्छा के कारण ही वह माया के ससर्ग मे आता है। यही उसे प्राप्त होने वाले नाना दु खो का कारण भी है। जब तक वह प्रकृति के ससर्ग मे रहता है, तब तक प्राकृत आवश्यकता के अनुमार कर्म करने के लिए बाध्य है। किन्तु कृष्णभावनामृत की यह विशेषता है कि जड प्रकृति की परिधि में स्थित जीव को भी वह दिव्य जीवन प्रदान कर सकती है, क्योकि प्राकृत-जगत् मे भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुन उद्भावित हो जाता है। भक्ति मे उत्तरोत्तर प्रगति करने के अनुपात मे प्रकृति-बन्धन से मुक्ति होती जाती है। श्रीभगवान् किसी जीव से पक्षपात नही करते। सब कुछ इन्द्रियनिग्रह और काम-क्रोध का दमन करने के लिए किए गए व्यावहारिक कर्तव्य-पालन पर निर्भर करता है। इन विकारो को निगृहीत कर कृष्णभावनामृत को प्राप्त हो जाने वाला वास्तव मे शुद्ध सत्त्व, ब्रह्मनिर्वाण में परिनिष्ठित हो जाता है अष्टागयोग का अन्तिम लक्ष्य कृष्णभावना को प्राप्त करना ही है। अतएव साक्षात् कृष्णभावनामृत मे अष्टागयोग का अभ्यास अपने-आप हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति हो सकती है। परन्तु भक्तियोग के प्रारम्भ मे ही इन सब की सिद्धि हो जाती है। एकमात्र भक्तियोग मानव को शान्ति प्रदान कर सकता है। वास्तव मे भक्तियोग ही जीवन की परमोच्च संसिद्धि है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ।।५।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचमोऽध्यायः ।।

अथ षष्ठोऽध्यायः



ध्यानयोग

(अभ्यास)

श्रीभगवानुवाच ।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।१ ।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, जो पुरुष कर्मफल मे अनासक्त रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा सन्यासी और योगी है, अग्नि को त्यागने वाला अथवा कर्म को त्यागने वाला नही।।१।।

तात्पर्य

इस अध्याय में श्रीभगवान् ने मन-इन्द्रियो को वश मे करने के साधन के रूप में अष्टागयोग का वर्णन किया है। परन्तु सामान्य जनता के लिए, विशेषत कलियुग में, यह बड़ा कठिन है। अष्टागयोग की पद्धति का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् ने भी इस सत्य पर बल दिया है कि कृष्णभावनाभावित कर्म अर्थात् 'कर्मयोग' इससे श्रेष्ठ

है। इस संसार में मनुष्य मात्र अपने परिवार और उसकी सामग्री आदि के पालनार्थ कर्म करता है। किसी का भी कर्म स्वार्थ अथवा किसी न किसी निजी तृप्ति से पूर्णरूप में मुक्त नही है, चाहे वह अपने तक सीमित हो अथवा अधिक व्यापक ही क्यों न हो। ससिद्धि की कसौटी कृष्णभावनाभावित कर्म करना है, कर्मफल को भोगने की इच्छा से प्रेरित कर्म करना नहीं। कृष्णभावनाभावित कर्म सब जीवों का परम कर्तव्य है, क्योंकि स्वरूप से सभी श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश है। शरीर के विविध अग-प्रत्यग सम्पूर्ण शरीर के पोषण के लिए कार्य करते है, स्वार्थ के लिए नही। इसी भाँति, जो पुरुष स्वार्थ के स्थान पर परब्रह्म की तृप्ति के लिए कर्म करता है, वह पूर्ण संन्यासी और पूर्ण योगी है।

कुछ सन्यासी मिथ्या रूप से अपने को सम्पूर्ण लौकिक कर्तव्यो से मुक्त हुआ मानकर अग्निहोत्र को त्याग देते हैं। परन्तु वास्तव में वे स्वार्थी है, क्योकि उनका लक्ष्य निराकार ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त करना है। प्राकृत कामनाओ से ऊपर होने पर भी यह इच्छा स्वार्थप्रेरित ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राकृत क्रियाओ को त्याग कर अर्धमीलित नेत्रो से योगाभ्यास करने वाला भी स्वार्थ तृप्ति से प्रेरित है। कृष्णभावनाभावित भक्त ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो परमेश्वर की प्रीति के लिए निस्वार्थ भाव से कर्म करता है। अतएव उसमे स्वार्थ कामना की गन्ध तक नही रहती। श्रीकृष्ण के सन्तोष मे ही वह अपनी सफलता मानता है। इसलिए एकमात्र वह पूर्ण योगी और पूर्ण सन्यासी है। सन्यास के परम आदर्श श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की प्रार्थना है-

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।।

''हे सर्वसमर्थ प्रभो! मुझे धन-सञ्चय की कोई कामना नहीं है और न ही मै सुन्दर स्त्री अथवा बहुत से अनुयायियों का इच्छुक हूँ। जन्म-जन्मान्तर आपकी कृपामयी अहैतुकी भक्ति की ही मुझे अभिलाषा है।''

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जिसे सन्यास कहते हैं, वही योग अर्थात् परतत्त्व से युक्त होना है क्योकि इन्द्रियतृप्ति की इच्छा को त्यागे बिना कोई भी योगी नही हो सकता।।२।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

अनुवाद

अष्टांगयोग के प्रारम्भिक साधक के लिए कर्म साधन कहा जाता है और योगारूढ़ साधक के लिए प्राकृत क्रियाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग देना हेतु कहा जाता है।।३।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

अनुवाद

जो विषयवासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर फिर इन्द्रियतृप्ति अथवा सकाम कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, उस पुरुष को योगारूढ कहते हैं।।४।।

तात्पर्य

पूर्ण रूप से भक्तियोग के परायण मनुष्य आत्मतृप्त हो जाता है, अतएव इन्द्रियतृप्ति अथवा सकाम कर्म को त्याग देता है। भक्तियोग के अभाव मे वह इन्द्रियतृप्ति में अवश्य लगा रहेगा, क्योंकि कर्म किए बिना कोई नही रह सकता। कृष्णभावनामृत के बिना स्वार्थ-क्रियाओ की इच्छा बनी रहती है, चाहे वे अपने तक ही सीमित हो अथवा परिवार, राष्ट्र, विश्व आदि के विस्तारित रूपो मे हो। कृष्ण-भावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सब कुछ करता है और इस प्रकार इन्द्रियतृप्ति की ओर से पूर्ण अनासक्त बना रहता है। दूसरी ओर जिसे यह अनुभूति नही हुई है, उसको योग-नि·श्रेणी के चरम सोपान पर आरूढ होने से पूर्व विषयवासना से मुक्त होने के लिए यन्त्रवत् प्रयत्न करना होगा।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अनुवाद

मनुष्य अपने मन के द्वारा अपना उद्धार करे, अपने को दुर्गति को न पहुँचाए, क्योंकि मन ही बद्धजीव का मित्र है और मन ही उसका शत्रु है।।५।।

तात्पर्य

सन्दर्भ के अनुसार **आत्मा** शब्द का प्रयोग शरीर, मन अथवा आत्मा के अर्थ में होता है। योगपद्धति में मन का विशेष महत्त्व है। यहाँ **आत्मा** शब्द से मन कहा है, क्योंकि वह योगाभ्यास का केन्द्र है। योग का प्रयोजन मन को वश में करके इन्द्रियविषयों से खींचना है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि मन को इस

प्रकार साधना चाहिए जिससे वह अज्ञानसागर से बद्धजीव का उद्धार कर सके। भवरोग से पीड़ित प्राणी मन-इन्द्रियों के आधीन है। वास्तव में प्रकृति पर प्रभुत्व करने विषयक मन के मिथ्या अहकार के कारण ही शुद्ध जीव जड़जगत् में बँधता है। अत· मन को इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए कि वह माया की मिथ्या चमक-दमक की ओर आकृष्ट न हो और बद्धजीव का उद्धार हो सके। इन्द्रियविषयो मे आसक्त हो कर अपना अध पतन नही करना चाहिए। विषयो मे जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना ही ससार अधिक बन्धनकारी होगा। मोक्ष का सर्वोत्तम पथ यह है कि चित्त से निरन्तर कृष्णभावनामृत मे निमग्न रहे। हि पद का प्रयोग इसी बात पर बल देने के लिए किया गया है, अर्थात् ऐसा अवश्य-अवश्य करना चाहिए।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगो मुक्त्यै निर्विषयं मनः।।

'मन ही मनुष्य के बन्धन-मोक्ष का कारण है। इन्द्रियविषयो मे डूबा मन बधनकारी है और विषयों से अनासक्त होने पर वही मन मुक्ति का हेतु है।' अत निरन्तर कृष्णभावनामृत मे तन्मय मन परम मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

अनुवाद

जिसने मन को वश मे कर लिया है, उसके लिए मन सर्वश्रेष्ठ बन्धु है, और जिसने मन को वश मे नही किया है, उसका मन ही परम शत्रु है।।६।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

अनुवाद

जीते हुए मन वाले को परमात्मा नित्य प्राप्त है, क्योकि वह शान्तिलाभ कर चुका है। ऐसे पुरुष के लिए सुख-दु.ख, शीत-ताप, मान-अपमान आदि एक समान हो जाते हैं।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

अनुवाद

ज्ञान-विज्ञान से तृप्त पुरुष को आत्मज्ञानी योगी कहा जाता है। ब्रह्मतत्त्व में स्थित ऐसा जितेन्द्रिय मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि पदार्थों में समभाव रखता है।।८।।

तात्पर्य

परतत्त्व की अनुभूति से शून्य पुस्तकीय ज्ञान की कोई सार्थकता नही है। शास्त्र (पद्मपुराण) मे उल्लेख है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ।।

'सासारिक विकारमयी कुंठित इन्द्रियो के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीलादि के दिव्य स्वरूप को नहीं जाना जा सकता। परन्तु भगवत्सेवा में निमग्न हो जाने पर श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीला के चिन्मय स्वरूप की अपने-आप अनुभूति हो जाती है।'

यह श्रीमद्भगवद्गीता कृष्णभावनामृत का अनुपम विज्ञान है। केवल लौकिक विद्वत्ता से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति नही होती। इसके लिए शुद्धहृदय भक्त का सत्संग आवश्यक है। श्रीकृष्णकृपा से कृष्णभावनाभावित महात्मा को तत्त्व का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है, क्योंकि वह शुद्ध भक्तियोग से परितृप्त है। विज्ञान से कृतार्थता तथा दिव्य ज्ञान से दृढ़ निष्ठा होती है जबकि केवल पुस्तकीय ज्ञान से तो बाह्य विरोधाभासों द्वारा मोहित तथा भ्रमित हो जाना बडा सरल है। श्रीकृष्ण का शरणागत तत्त्वानुभवी जीव ही वास्तव मे आत्मसयमी है। वह माया-मुक्त हो जाता है, लौकिक विद्वत्ता से उसका कोई सम्बन्ध नही रहता। औरो के लिए लौकिक विद्वत्ता और मनोधर्मी सोने के समान उत्तम हो सकती है, परन्तु श्रीकृष्ण-भक्त के लिए तो इनका मूल्य कंकड़-पत्थर से कुछ भी अधिक नहीं है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

अनुवाद

सुहृद् , मित्र, शत्रु, उदासीन मध्यस्थ, ईर्ष्यालु, पुण्यात्मा और पापात्मा मे भी जिसकी समबुद्धि हो उसे विशेष उत्तम जानना चाहिए।।९।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

अनुवाद

योगी अपना चित्त परमात्मा विष्णु पर ही एकाग्र करने का निरन्तर प्रयत्न करे, उसे एकान्त मे रहकर सावधानीपूर्वक मन को वश मे करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार कामनाओ और सग्रह के भाव से मुक्त हो जाय।।१०।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

अनुवाद

योगाभ्यास के लिए एकान्त मे जाकर भूमि पर क्रमश कुशा, मृगछाल तथा मृदु वस्त्र बिछाए। पवित्र स्थान में स्थित ऐसा आसन न तो अधिक ऊँचा हो और न अति नीचा हो। इसके बाद उस पर दृढ़तापूर्वक बैठकर योगी मन-इन्द्रियों को वश में करके हृदय की शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता के साथ योग का अभ्यास करे।।११-१२।।

तात्पर्य

पवित्र देश शब्द तीर्थस्थानो का वाचक है। प्राय सब योगी और भक्त गृहत्याग कर प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हृषीकेश एव हरिद्वार जैसे तीर्थों मे निवास करते हुए गंगा-यमुना आदि नदियों के एकान्त तट पर योगाभ्यास करते हैं। पर आज प्रायः ऐसा करना साध्य नहीं रहा है। महानगरों के नामधारी योगसघ भोगप्राप्ति में तो सफल हो सकते हैं, परन्तु सच्ची योगसाधना के लिए वे बिल्कुल अनुपयुक्त है। उद्विग्न चित्तवाला असयमी ध्यान का अभ्यास कैसे कर सकेगा ? अत बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार वर्तमान कलिकाल में, जबकि लोग प्रायः अल्पायु है, भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे मन्द है और नित्य नाना उपद्रवों से पीड़ित रहते हैं, भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन हरे कृष्ण महामन्त्र का सकीर्तन करना है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

'कलह और दम्भाचरण के इस युग में मुक्ति का एकमात्र साधन हरेकृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करना है। कलिकाल में अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः सयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

अनुवाद

शरीर, गले और सिर को सीधा धारण करके नासिका के अग्रभाग मे दृष्टि को एकाग्र करना चाहिए। इस प्रकार, मैथुन से पूर्ण मुक्त होकर, शान्त, सयमित और भयशून्य मन से हृदय मे मेरा ध्यान करते हुए मेरे परायण हो जाय, मुझे ही जीवन का परम लक्ष्य बना ले।।१३-१४।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

अनुवाद

इस प्रकार देह, मन और क्रियाओ के सयम का निरन्तर अभ्यास करने से योगी का भवरोग शान्त हो जाता है और वह मेरे धाम को प्राप्त होता है।।१५।।

तात्पर्य

यहाँ योग के अन्तिम लक्ष्य को स्पष्ट किया गया है। योगाभ्यास का प्रयोजन किसी भोगसुविधा की उपलब्धि कराना नही है, अपितु सम्पूर्ण भवरोग की निवृत्ति ही उसका लक्ष्य है। योगाभ्यास द्वारा स्वास्थ्य-सुधार अथवा लौकिक सिद्धि का अभिलाषी भगवद्गीता के मत मे योगी नही है। साथ ही, भवरोग के शान्त होने का अर्थ कपोलकल्पित शून्य मे प्रविष्ट होना भी नही है। भगवान् की सृष्टि मे शून्य नाम की वस्तु कही नही है। भवरोग की निवृत्ति से तो परव्योम मे स्थित भगवद्धाम मे प्रवेश प्राप्त होता है। भगवद्धाम का भगवद्गीता मे स्पष्ट वर्णन है उस वैकुण्ठधाम मे सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि की कोई आवश्यकता नही है। वहाँ के सब वैकुण्ठ नामक लोक प्राकृत आकाश के सूर्य के समान ही स्वयप्रकाश है। भगवान् का राज्य सर्वव्यापक है, परन्तु परव्योम और उसमे स्थित वैकुण्ठ-लोको को ही परमधाम कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व का मर्मज्ञ पूर्णयोगी, जिसे स्वय श्रीभगवान् ने यहाँ **मच्चित्त, मत्पर, मत्स्थानम्** कहा है, सच्ची शान्तिलाभ कर अन्त मे कृष्णलोक अथवा गोलोक वृन्दावन नामक उनके परम धाम मे प्रवेश के योग्य हो जाता है। ब्रह्मसंहिता में स्पष्ट कहा है **गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः,** अर्थात्

नित्य गोलोकविहारी श्रीभगवान् आपनी पराशक्ति के प्रताप से सर्वव्यापक ब्रह्म तथा एकदेशीय परमात्मा के रूप में भी लीलायमान है। श्रीकृष्ण और उनके अंश विष्णु के पूर्णज्ञान के बिना परव्योम अथवा नित्य भगवद्धाम वैकुण्ठ या गोलोक वृन्दावन में किसी का भी प्रवेश नहीं हो सकता। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला पूर्ण योगी है, क्योंकि उसका चित्त अनुक्षण कृष्णलीलामृत-कल्लोलिनी में निमज्जित रहता है। **स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः**। वेदों में भी यही कहा है **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति** जन्म-मृत्यु के चक्र की निवृत्ति का एकमात्र साधन भगवान् श्रीकृष्ण को जान लेना है। सारांश यह है कि योगपद्धति की सफलता भवरोग से मुक्ति कराने में है, मायावी चातुर्य अथवा उछल-कूद की प्रवणता से अबोध जनता को ठगने में नहीं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! अधिक भोजन करने वाले अथवा बहुत कम खाने वाले के लिए, अधिक सोने अथवा अधिक जाग्रत रहने वाले के लिए योगी बनना सम्भव नहीं है।।१६।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

अनुवाद

जो यथायोग्य आहार, निद्रा, कर्म और विहार करता है, वही योगाभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है।।१७।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

अनुवाद

जिस काल में योगी योग के अभ्यास से चित्त को वश में करके दिव्य तत्त्व में ही भलीभाँति स्थिर हो जाता है, तब उस सम्पूर्ण कामनाओं से मुक्त पुरुष को योगयुक्त कहा जाता है।।१८।।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

अनुवाद

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, उसी भाँति सयतचित्त योगी नित्य दिव्य आत्मतत्त्व के ध्यान में एकाग्र रहता है।।१९।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।।२३।।

अनुवाद

योग की पूर्ण अवस्था को समाधि कहते है, जब योगाभ्यास के द्वारा चित्त सासारिक क्रियाओ से बिल्कुल सयमित हो जाता है और विशुद्ध चित्त के द्वारा आत्मस्वरूप का दर्शन और आस्वादन सुलभ होता है। उस आनन्दमयी स्थिति में अनन्त रसानन्द मे योगी दिव्य इन्द्रियो के द्वारा आत्मस्वरूप में रमण करता है। इस प्रकार निष्ठ योगी तत्त्व से कभी विचलित नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति होने पर वह इससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं समझता। ऐसी स्वरूप-स्थिति को प्राप्त पुरुष बडे से बडे दु.खो के मध्य मे भी इससे चलायमान नही होता। यह विषयसग से उत्पन्न सम्पूर्ण दु खो से वास्तव मे मुक्ति है।।२०-२३।।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

अनुवाद

उस योग का अभ्यास अचल दृढ़ता और श्रद्धा के साथ अवश्य करना चाहिए। मिथ्या अहकार से उत्पन्न विषय-कामनाओ को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर मन द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियो को सब ओर से वश मे कर ले।।२४।।

तात्पर्य

योगाभ्यासी निश्चय और धैर्य से युक्त होकर विचलित हुए बिना अभ्यास करे।

अन्त मे लक्ष्यसिद्धि अवश्य होगी—इस प्रकार पूर्ण आशा और महान् धैर्य के साथ इस पद्धति का अनुसरण करे। कृतार्थता मे विलम्ब होने से हतोत्साहित होना उचित नही, क्योकि अशिथिल अभ्यासी अवश्य-अवश्य सफल होता है। भक्तियोग के सम्बन्ध मे श्रील रूपगोस्वामिचरण का वचन है

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्तत्तत्कर्मप्रवर्तनात् ।
संगत्यागात्सतोवृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति ।।

"हार्दिक उत्साह, धैर्य, निश्चय, भक्तो के सग मे भक्ति के अनुकूल क्रियाओं का सम्पादन और केवल सात्विकी क्रियाएँ करने से भक्तियोग सिद्ध होता है।"

दृढ निश्चय के सम्बन्ध मे उस गौरैया का अनुसरण करना चाहिये, जिसके अण्डे सागर की तरगो में नष्ट हो गये थे। एक गौरैया ने सागर तट पर अण्डे दिये, परन्तु महासमुद्र अपनी तरगो पर उन्हे बहा ले गया। इस पर गौरैया अत्यन्त विक्षुब्ध हो गयी और समुद्र से अण्डे लौटाने को कहा। जैसा स्वाभाविक था, सागर ने उसके निवेदन पर कोई ध्यान नही दिया। इस पर गौरैया ने समुद्र को सुखा डालने का निश्चय कर लिया। अपनी नन्ही चोच से वह उसका जल उलीचने लगी। सभी उसके असम्भव से निश्चय का उपहास कर रहे थे। इतने में उसकी क्रियाओ का समाचार सर्वत्र प्रसारित हो गया। भगवान् विष्णु के दिव्य वाहन पक्षीराज गरुडजी ने भी उसका श्रवण किया। अपनी नन्ही बहन पर द्रवित होकर वे उसे देखने पधारे। गौरैया के दृढ़ निश्चय से हार्दिक प्रसन्न होकर गरुड़जी ने उसे सहायता का वचन दिया। उन्होंने तत्काल समुद्र को चेतावनी दी कि वह चिड़िया के अण्डे लौटा दे, नही तो वे स्वय उसको सुखाने लगेंगे। इससे भयभीत होकर सागर ने अण्डे लौटा दिये। इस प्रकार गरुडजी के अनुग्रह से गौरैया सुखी हो गई।

ऐसे ही योगाभ्यास, विशेष रूप से कृष्णभावनाभावित भक्तियोग पहले-पहल बड़ा कठिन लग सकता है। परन्तु जो भक्तिसिद्धान्तो का दृढ़ता से सेवन करता है उस पर श्रीगोविन्द अशेष-विशेष कृपा करते हैं। प्रसिद्ध है कि अपनी सहायता करने वालो की श्रीभगवान् भी सब प्रकार से सहायता करते हैं।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।२५।।

अनुवाद

धीरे-धीरे पूर्ण विश्वासपूर्वक बुद्धि द्वारा समाधि में स्थित हो जाय और मन से आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी चिन्तन न करे।।२५।।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

अनुवाद

चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भी विषयों में भटके, वहाँ-वहाँ से खींचकर इसे फिर आत्मा के ही वश में स्थापित करे।।२६।।

तात्पर्य

मन स्वभाव से अति चंचल और अस्थिर है। परन्तु आत्मज्ञानी योगी के लिए इसका संयम करना अनिवार्य है, उस पर मन का अधिकार होना ठीक नहीं। मन और इन्द्रियों को वश में करने वाला 'गोस्वामी' अथवा 'स्वामी' कहलाता है, जबकि मन के आधीन रहने वाला गोदास (इन्द्रियों का सेवक) है। गोस्वामी को विषयसुख की तुच्छता भलीभाँति पता रहती है। उसकी इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से चिन्मय इन्द्रिय-रसानन्द में, इन्द्रियों के अधीश्वर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में नियोजित हैं। विशुद्ध इन्द्रियों से श्रीकृष्ण का सेवन करने का नाम ही कृष्णभावनामृत है। इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करने का यह एकमात्र साधन है। इससे अधिक, योग के अभ्यास की परम सिद्धि भी यही है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

अनुवाद

मुझ में एकाग्र मन वाले योगी को निःसन्देह परम सुख की उपलब्धि होती है। वह ब्रह्मभूत होकर मुक्तिलाभ करता है, उसका चित्त शान्त रहता है, रजोगुण समाप्त हो जाता है और सम्पूर्ण पापकर्म निवृत्त हो जाते हैं।।२७।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

अनुवाद

इस प्रकार आत्मस्वरूप में दृढ़तापूर्वक स्थिर होकर सब पापों से मुक्त हुआ योगी परमचेतन की सन्निधि में परम सुख का अनुभव करता है।।२८।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

अनुवाद

सच्चा योगी सब प्राणियो मे मुझे देखता है और प्राणीमात्र को मुझ में स्थित देखता है। उस आत्मज्ञानी महापुरुष को वास्तव मे सब मे मेरा दर्शन होता है।।२९।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

अनुवाद

जो मुझे सबमें देखता है और सब कुछ मुझ में स्थित देखता है, उसके लिए म कभी अदृश्य नही होता, अर्थात् सदा प्राप्त रहता हूँ और वह भी मेरे लिए कभी अदृश्य नहीं होता।।३०।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित भक्त नि सन्देह सर्वत्र श्रीकृष्ण का दर्शन करता है और सब कुछ श्रीकृष्ण मे ही स्थित देखता है। वह भले ही माया की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियो को देखता हुआ प्रतीत हो, परन्तु सभी कुछ श्रीकृष्ण की शक्ति की अभिव्यक्ति है, इस चेतना के कारण वह नित्य-निरन्तर कृष्णभावना से ही भावित रहता है। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर है, इसलिए उनके बिना किसी वस्तु का अस्तित्त्व नहीं हो सकता। यह कृष्णभावनामृत का प्रधान सिद्धान्त है। कृष्णभावनामृत का तात्पर्य कृष्णप्रेम का विकास करना है। यह भवमुक्ति से परे की अवस्था है। यह आत्मानुभूति से लोकोत्तर वह स्थिति है, जिसमे भक्त श्रीकृष्ण से इस रूप में एक हो जाता है कि श्रीकृष्ण भक्त के प्राणाराध्य सर्वस्व बन जाते है और वह पूर्णतया कृष्णप्रेमाविष्ट हो जाता है। उस अवस्था मे भगवान् और उनके भक्त मे एक अतरग प्रेममय रस-सम्बन्ध रहता है और जीवात्मा को अपने अमृत-स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण भक्त की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होते। श्रीकृष्ण से सायुज्य को प्राप्त होना तो आत्मविनाश होगा। भक्त ऐसी भूल कभी नही करता। 'ब्रह्मसंहिता' में कहा है ·

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मै आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, भक्त जिनका दर्शन प्रेमरूपी अञ्जन से विच्छुरित नेत्रों के द्वारा निरन्तर किया करते है। भक्तो के हृदय मे अपने श्यामसुन्दर रूप मे वे नित्य दर्शनीय है।' (ब्रह्मसहिता ५ ३८)

इस प्रेमावस्था मे श्रीकृष्ण भक्तो की दृष्टि से कभी तिरोहित नही होते भक्तो

को उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। हृदय मे विराजमान परमात्मा विष्णु के रूप मे उनका दर्शन करने वाले योगी के विषय मे भी यही सत्य है। वह यथासमय शुद्धभक्त बन जाता है और क्षणमात्र के लिए भी अन्तर्यामी प्रभु का दर्शन किये बिना नही रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

अनुवाद

जो योगी मुझे और सब प्राणियो के अन्तर्यामी परमात्मा विष्णु को एक समझकर मेरा भजन करता है, वह सदा-सर्वदा मुझमे ही निवास करता है।।३१।।

तात्पर्य

परमात्मा के ध्यान के परायण योगी अपने हृदय मे श्रीकृष्ण के अश, शख, चक्र, गदा एव पद्म धारी चतुर्भुज विष्णु का दर्शन करता है। योगी को जानना चाहिए कि विष्णु श्रीकृष्ण से भिन्न नही है। परमात्मा विष्णु के रूप मे श्रीकृष्ण ही प्राणीमात्र के हृदय मे विराज रहे है। इससे अधिक, असख्य जीवो के हृदयो मे स्थित परमात्मा विष्णु के रूपो मे भेद नही है। अतएव भक्तियोग मे निमग्न कृष्णभावनाभावित भक्त और परमात्मा विष्णु का ध्यान करने वाले पूर्णयोगी मे कोई भेद नही है। ससार मे विविध क्रियाओ मे सलग्न रहने पर भी कृष्णभावनाभावित योगी नित्य श्रीकृष्ण मे स्थित रहता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' मे इसकी सम्पुष्टि है **निखिलेषु अवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।** नित्य कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण रहने वाला भगवद्भक्त स्वत मुक्त हो जाता है। 'नारद पञ्चरात्र' द्वारा यह अनुमोदित है —

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत्।।

'श्रीकृष्ण के देशकाल से अतीत सर्वव्यापक श्रीविग्रह पर ध्यान एकाग्र करने से उनके चिन्तन मे विभोरता होती है और फिर श्रीकृष्ण की दिव्य सन्निधि रूपी सुखावस्था प्राप्त हो जाती है।'

कृष्णभावनामृत योगाभ्यास द्वारा प्राप्त समाधि की परम अवस्था है। श्रीकृष्ण का परमात्मा रूप से प्राणीमात्र के हृदय मे वास है — केवल इतना जानने मात्र से योगी सब प्रकार के दोषो से मुक्त हो जाता है। वेद श्रीभगवान् की इस अचिन्त्य शक्ति का समर्थन करते है ·

एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति।
ऐश्वर्याद्रूपमेकं च सूर्यवद् बहुधेयते।।

अद्वितीय होने के साथ श्रीविष्णु निःसन्देह सर्वव्यापक भी हैं। अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा एक विग्रह से भी वे सर्वत्र विद्यमान हैं। सूर्य के समान अनेक स्थलों में एक ही काल में प्रकट हैं।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

अनुवाद

हे अर्जुन! वह योगी परमश्रेष्ठ है जो अपनी आत्मा की उपमा से सुख-दुःख की प्राप्ति में सब प्राणियों को समान देखता है।।३२।।

अर्जुन उवाच।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपने जिस योगपद्धति का संक्षेप से वर्णन किया है, वह मन की चञ्चलता और अस्थिरता के कारण मुझे अव्यावहारिक और अस्थायी दिखती है।।३३।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए **शुचौ देशे** से लेकर **योगी परमः** तक जिस योगपद्धति का वर्णन किया, अर्जुन ने यहाँ उसे अस्वीकार किया है; वह अपने को इसके योग्य नहीं समझता। इस कलियुग में साधारण मनुष्य के लिए योग-अभ्यास के लिए घर त्यागकर पर्वतीय क्षेत्र अथवा वनप्रदेश में जाना सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में अल्प आयु के लिए घोर संघर्ष चल रहा है। आजकल साधारण व्यक्ति स्वरूप-साक्षात्कार के सुगम एवं व्यावहारिक साधनों में भी गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होते। फिर ऐसी कठिन योगपद्धति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, जो जीवनविधि, आसन, स्थान और भोगों में मन की आसक्ति को संयमित करती हो। अर्जुन में इसके अभ्यास की अनेक अनुकूलताएँ थीं; फिर भी प्रवृत्ति-मार्ग का पथिक होने से उसने इस योगविधि को असाध्य बताया। अर्जुन अपने राजकुल के योग्य

गुणशील, शूरवीर तथा दीर्घायु था। इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण का वह परम अन्तरग सखा था। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को हमारी तुलना में निःसन्देह कहीं श्रेष्ठ सुविधाये उपलब्ध थी। तब भी, उसने इस योगपद्धति को अगीकार नही किया। उसने किसी समय इस पद्धति का अभ्यास किया हो, ऐसा कोई प्रमाण इतिहास मे नही मिलता। इसलिए कलियुग मे तो इस विधि को बिल्कुल असम्भव ही समझना चाहिए। कुछ दुर्लभ व्यक्तियो को छोड़कर अधिकाश साधारण मनुष्यो के लिए तो यह असाध्य ही है। यदि पाँच हजार वर्ष पूर्व यह स्थिति थी तो वर्तमान के विषय मे क्या कहना है? योग के नाममात्र के विद्यालयो और सघो मे इस योगपद्धति का अन्धानुकरण करने वाले दृष्टिहीन मनुष्य अपने अमूल्य समय का केवल अपव्यय कर रहे है। योग के सच्चे लक्ष्य के सम्बन्ध में वे पूर्ण अज्ञानी है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

अनुवाद

क्योंकि हे कृष्ण! मन बड़ा चचल, उद्वेगकारक, बलवान् और दुराग्रही है। इस कारण, मुझे मन को वश मे करना वायु को वश में करने से भी कठिन लगता है।।३४।।

तात्पर्य

मन इतना अधिक बलवान् और दुराग्रही हो गया है कि कभी-कभी तो बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है, यद्यपि उसकी स्वाभाविक स्थिति बुद्धि के अधीन रहने की है। सासारिक मनुष्य को कितनी ही प्रतिकूलताओं का सामना करना पडता है, अत मन को वश मे करना निःसन्देह बड़ा कठिन कार्य है। शत्रु-मित्र दोनो मे मन को सम करना कृत्रिम रूप मे ही सम्भव हो सकता है। वास्तव मे तो कोई भी ससारी मनुष्य ऐसा नही कर सकता, क्योंकि यह प्रचण्ड वेगवती वायु को वश में करने से भी कठिन है। वैदिक शास्त्रो में उल्लेख है:

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

'जीवात्मा प्राकृत देह रूपी रथ में सवार है। बुद्धि इसका सारथि है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियो के सग में आत्मा सुख-दु:ख

भोगता है—ऐसा मूर्धन्य मनीषियों का कहना है।'' बुद्धि को मन का नियत्रण करना चाहिये, पर मन इतना बलिष्ठ एव दुराग्रही हो गया है कि प्राय बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है। इसी कारण मन को वश मे करने के लिये योगाभ्यास का विधान है। परन्तु अर्जुन जैसे संसारी मनुष्य के लिये इस प्रकार का योगाभ्यास कभी सम्भव नह हो सकता। फिर आधुनिक मानव के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है? यहाँ वायु की उपमा बडी उपयुक्त है। वेगवती वायु को वश मे करना किसी के वश की बात नही। फिर अस्थिर मन को वश में करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। मन को वश में करने का सबसे सरल साधन श्रीमन्महाप्रभु की शिक्षा का पालन करते हुए पूर्ण दैन्य भाव से हरे कृष्ण महामन्त्र का सकीर्तन करना है। यह पद्धति इस प्रकार है— **स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः** अर्थात् मन को पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण मे ही लगा देना चाहिये। तभी चित्त मे उद्वेग करने वाला कोई दूसरा कार्य नही रहेगा।

श्रीभगवानुवाच।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे महाबाहु कुन्तीनन्दन। चचल मन का सयम करना नि सन्देह बडा कठिन है, परन्तु निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से मन वश मे हो सकता है।।३५।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

अनुवाद

जिसने मन को वश में नही किया है, उसके लिए स्वरूप-साक्षात्कार को प्राप्त होना कठिन है, परन्तु जीते हुए मन वाले के लिए उपयुक्त साधन करने पर सफलता निश्चित है। ऐसा मेरा मत है।।३६।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की घोषणा है कि जो मनुष्य सांसारिक क्रियाओं से मन को अनासक्त करने के उचित उपचार को अगीकार नहीं करता, वह स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग में कुछ भी सफल नहीं हो सकता। योगाभ्यास का प्रयत्न करते हुए भी मन से विषयभोग के परायण रहना अग्नि पर जल उडेलते हुए साथ-साथ उसे प्रज्वलित

करने के लिए प्रयत्न करने जैसा है। भाव यह है कि मन को वश मे किए बिना योगाभ्यास करना समय का अपव्यय मात्र होगा। ऐसा कपटपूर्ण योगाभ्यास विषय-भोगप्रद तो हो सकता है, परन्तु स्वरूप-साक्षात्कार की दृष्टि से उसका कोई लाभ नही। इसलिए मन को नित्य-निरन्तर श्रीगोविन्द की प्रेममयी दिव्य सेवा में लगाए रखकर उसका अवश्य सयम करना चाहिए। कृष्णभावनाभावित कर्मों में तत्पर हुए बिना मन को स्थायी रूप से सयमित नही किया जा सकता। कृष्णभावनाभावित भक्त को योगाभ्यास का फल सुगमता से प्राप्त हो जाता है, उसे इसके लिए अलग प्रयास नही करना पडता। पर दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित हुए बिना योग का साधक कभी सफल नही हो सकता।

अर्जुन उवाच।
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे माधव! उस शिथिल यत्न वाले श्रद्धावान् योगी की क्या गति होती है, जो प्रारम्भ में तो स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग ग्रहण करता है, पर फिर विषयों मे चित्त की आसक्ति के कारण योग से विचलित हो जाता है और योग की कृतार्थता को प्राप्त नही हो पाता।।३७।।

तात्पर्य

भगवद्गीता मे स्वरूप-साक्षात्कार रूप योगपथ का सर्वांग प्रतिपादन है। स्वरूप-साक्षात्कार का मूल सिद्धान्त यह है कि जीवात्मा प्राकृत देह नही है, अपितु देह मे भिन्न है और उसका नित्य सुख सच्चिदानन्दमय जीवन मे है। यह सच्चिदानन्द देह और चित्त, दोनों से परे है। स्वरूप-साक्षात्कार के लिए ज्ञान, अष्टागयोग अथवा भक्तियोग के पथ का अनुगमन किया जाता है। इनमे से प्रत्येक पद्धति मे साधक को जीव के स्वरूप का, श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का और उन क्रियाओ का बोध होना आवश्यक है जिनसे वह श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को फिर मे स्थापित कर परम प्रयोजनीय कृष्णप्रेम (कृष्णभावना) को प्राप्त कर सकता है। उपरोक्त तीनो मार्गो मे से किसी एक पर चलने से यथासमय परम लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है। द्वितीय अध्याय में श्रीभगवान् ने घोषणा की है कि परमार्थ के मार्ग मे किया गया अल्प साधन भी महाभय से बचा लेता है। इन तीनों पथों मे भक्तियोग का पथ इस युग के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि यह भगवत्प्राप्ति का सब से सीधा मार्ग है। इस

सम्बन्ध में पूर्ण आश्वस्त होने के लिए अर्जुन श्रीकृष्ण से अपने पूर्वकथित वाक्य की सम्पुष्टि करने का अनुरोध कर रहा है। इस युग में स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार करने वाले के लिए भी ज्ञान और अष्टांगयोग की पद्धतियाँ अत्यन्त कठिन हैं। अजस्र प्रयास करने पर भी अनेक कारणों से इनका साधक असफल रह सकता है। सबसे पहले तो सम्भव है, पथ का ठीक-ठीक अनुगमन ही न हो। परमार्थ के पथ पर बढ़ना माया पर आक्रमण करने जैसा है। जब भी कोई जीव मायाबन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करता है तो माया नाना प्रकार के प्रलोभन देकर उसे परास्त करने का भरपूर प्रयत्न करती है। बद्धजीव माया के तीनों गुणो से पहले ही मोहित है। इस कारण परमार्थ साधना करते हुए फिर मोहित हो जाने की पूरी सम्भावना है। इसी को **योगाच्चलित मानसः** अर्थात् योगमार्ग से भ्रष्ट होना कहते है। अर्जुन का प्रश्न है कि इस प्रकार के योगभ्रष्ट पुरुष की क्या गति होती है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

अनुवाद

हे महाबाहु श्रीकृष्ण! भगवत्प्राप्ति के पथ से भ्रष्ट हुआ ऐसा आश्रयरहित मनुष्य कहीं छिन्न मेघ की भाँति नष्ट तो नही हो जाता?।।३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

अनुवाद

हे कृष्ण! मेरे इस संशय का पूर्णरूप से निवारण करने में एकमात्र आप ही समर्थ हैं। आपके अतिरिक्त इस संशय को दूर करने वाला मिलना सम्भव नही है।।३९।।

श्रीभगवानुवाच।
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक में अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता। हे सखे! सदाचारी का कभी अमंगल नहीं हुआ करता।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

अनुवाद

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों में अनेक वर्षों तक सुख को भोगकर सदाचारी धनवानों के कुल में जन्म लेता है।।४१।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अनुवाद

अथवा (चिरकाल तक योगाभ्यास करके भ्रष्ट हुआ योगी उन लोकों में न जाकर) ज्ञानी योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म इस संसार में नि:सन्देह अति दुर्लभ है।।४२।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

अनुवाद

हे अर्जुन! उस देह मे वह जन्मान्तर के बुद्धियोग को फिर प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार योगयुक्त होकर पूर्ण सिद्धि के लिए आगे साधन करता है।।४३।।

तात्पर्य

राजा भरत, जिन्हें योगभ्रष्ट हो जाने पर तीसरा जन्म श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल मे मिला था, इस सत्य के प्रतीक हैं कि योगभ्रष्ट पुरुष का जन्म ऐसे सत्कुल मे होता है, जहाँ पूर्व शरीर का बुद्धियोग उसे फिर से प्राप्त हो जाय। भरत सम्पूर्ण विश्व के सार्व-भौम सम्राट् थे। उन्हीं के समय से यह लोक देवताओं मे भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। उनसे पूर्व इसे इलावर्त वर्ष कहा जाता था। महामहिम सम्राट् ने भगवत्प्राप्ति के लिए अल्प आयु में ही संन्यास ले लिया, परन्तु सफल नहीं हो सके। मृग बनना पड़ा। फिर अगले जन्म मे श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए। वहाँ उनका नाम जड़भरत हुआ, वे किसी से भी वार्तालाप किये बिना नित्य एकान्तसेवन किया करते थे। यथासमय राजा रहूगण को परम योगी के रूप में उनका साक्षात्कार हुआ। उनके चरित्र से सिद्ध होता है कि भगवत्प्राप्ति के लिये किया गया साधन अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नही

जाता। श्रीभगवान् के अनुग्रह से योगी को बारबार ऐसे अवसरों की प्राप्ति होती है, जिससे वह कृष्णभावना में पूर्ण सिद्धि-लाभ कर सके।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

अनुवाद

पूर्वजन्म के भगवद्भाव (बुद्धियोग) के प्रभाव से वह अपने आप योग की ओर आकृष्ट हो जाता है। योग के लिए प्रयास करने वाला ऐसा जिज्ञासु योगी भी शास्त्र के कर्मकाण्ड का उल्लघन कर जाता है।।४४।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अनुवाद

दृढ़ अभ्यास के साथ प्रयत्न करता हुआ योगी अनेक जन्मों के अभ्यास के प्रभाव से सपूर्ण पापों से शुद्ध होकर अन्त मे परम गति को प्राप्त हो जाता है।।४५।।

तात्पर्य

शुद्ध, धनवान् अथवा पवित्र कुल मे उत्पन्न पुरुष को यह बोध रहता है कि उसे योगाभ्यास के अनुकूल स्थिति की प्राप्ति हुई है। इसलिए वह दृढ़तापूर्वक अपने अपूर्ण कार्य की पूर्ति में लगता है और इस प्रकार सपूर्ण पापो से शुद्ध हो जाता है। पापों की पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर ही परमगति—कृष्णभावना की प्राप्ति होती है। कृष्णभावना पापसशुद्धि की परमोच्च अवस्था है। भगवद्गीता में अन्यत्र भी इसकी पुष्टि है—

येषां त्वन्तगतं पाप जनानां पुण्यकर्मनाम्।
ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।

'अनेक जन्मो तक पुण्यकर्मों को करने से जब कोई सम्पूर्ण पापों और मोहमय द्वन्द्वो से पूर्ण मुक्त हो जाता है, तभी वह श्रीकृष्ण की सेवा के परायण होता है।'

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

अनुवाद

योगी पुरुष सब तपस्वियों, ज्ञानियों और सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए हे अर्जुन! तू सब प्रकार से योगी हो।।४६।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

अनुवाद

सब योगियो मे भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरग रूप में युक्त है और परम श्रेष्ठ है।।४७।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **भजते** पद का गूढ आशय है। **भजते** पद 'भज' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। पूजना और भजना समानार्थक नही। पूजने का अर्थ है पूज्य का अभिवादन। परन्तु प्रेम एव श्रद्धाभावमयी सेवा का प्रयोजन विशेष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के लिए है। पूज्य मनुष्य अथवा देवता का पूजन न करने से मनुष्य को केवल यह सुनना पडता है कि वह सौजन्यशून्य है, परन्तु परमेश्वर श्रीकृष्ण की सेवा न करने वाला तो घोर अपराधी हो जाता है। जीवमात्र श्रीभगवान् का भिन्न-अश है, इसलिए भगवान् की सेवा करना उसका अपना स्वरूप ही है। इस स्वरूपधर्म के पालन मे हुआ प्रमाद अध पतन का कारण बनता है। श्रीमद्भागवत मे प्रमाण है .

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टा पतन्त्यधः।।

'जो जीवमात्र के जन्मदाता आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा रूपी परम धर्म के पालन मे प्रमाद करता है, वह अपनी सहज स्थिति से नि सन्देह गिर जाता है।'

इस श्लोक मे भी **भजन्ति** पद आया है। **भजन्ति** का प्रयोग श्रीभगवान् के सम्बन्ध मे ही किया जा सकता है, जबकि 'पूजन' शब्द देवता अथवा अन्य साधारण जीवों के लिए भी प्रयुक्त होता है। श्रीमद्भागवत के इस श्लोक का **अवजानन्ति** शब्द भगवद्गीता मे भी है . **अवजानन्ति मां मूढाः**, अर्थात् जो मूर्ख एवं मूढ़ हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं। भगवत्सेवाभाव से शून्य होते हुए भी ऐसे मूढ़ भगवद्गीता पर भाष्यों की रचना करते हैं। इसका परिणाम यह है कि वे 'भजने' और 'पूजने' में ठीक-ठीक भेद नहीं कर पाते।

भक्तियोग सम्पूर्ण योगों का अन्तिम फल है। अन्य योग तो वास्तव में भक्तियोग की प्राप्ति के साधनमात्र हैं। 'योग' का अर्थ वास्तव में 'भक्तियोग' ही है। ज्ञानादि अन्य योग भक्तियोग रूपी लक्ष्य की ओर ही अग्रसर करते हैं। स्वरूप-साक्षात्कार का विस्तृत पथ कर्मयोग से प्रारम्भ होकर भक्तियोग में समाप्त होता है। निष्काम कर्मयोग इस पथ का उपक्रम है। कर्मयोग के ज्ञान-वैराग्य में बढ़ जाने पर ज्ञानयोग में स्थिति होती है। जब विविध शारीरिक विधियों द्वारा चित्त परमात्मा विष्णु के प्रगाढ़ ध्यान में तन्मय हो जाता है, तो ज्ञानयोग ध्यानयोग में परिणत हो जाता है। अन्त में, अष्टागयोग का उल्लंघन कर भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति होने पर लक्ष्यरूप भक्तियोग की उपलब्धि होती है। यथार्थ में भक्तियोग ही परम प्रयोजनीय तत्त्व है, परन्तु भक्तियोग के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए इन अन्य योगपद्धतियो का ज्ञान आवश्यक है। अतएव इन योगों में क्रमश. उन्नति करने वाला योगी शाश्वत् सौभाग्य के सच्चे पथ पर चल रहा है। किसी एक स्तर पर स्थित रहकर आगे उन्नति न करने वाले को उस-उस स्तर के अनुसार कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी, हठयोगी आदि कहा जाता है। परन्तु यदि कोई सौभाग्यशाली भक्तियोग तक पहुँच जाय तो समझना चाहिए कि उसने अन्य सब योगों का उल्लंघन कर लिया है। इस प्रकार कृष्णभावना की प्राप्ति योग की परमोच्च अवस्था है, उसी भाँति जैसे हिमालय विश्व के सर्वोच्च पर्वत है और उनमें भी एवरेस्ट शिखर सबका पर्यवसान है।

कोई दुर्लभ भाग्यशाली ही वैदिक विधान के अनुसार स्थित होने के लिए भक्तियोग के पथ को अगीकार कर कृष्णभावनाभावित हो जाता है। आदर्श योगी श्रीश्यामसुन्दर के अनन्य ध्यान में तन्मय रहता है। श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर इसलिए कहलाते है कि उनके श्रीविग्रह का वर्ण नवोदित मेघ जैसा सौन्दर्य-सदन नीलाभ है, मुखारविन्द नित्य सूर्य के समान प्रफुल्लित है और श्रीअग में वे उज्ज्वल परिधान, अलकार एव वैजयन्ती माला धारण किए हुए है। उनके श्रीअंग से बिखरती ब्रह्मज्योति नामक सर्वैश्वर्यमयी प्रभा से सब दिशाये आलोकित हो रही हैं। राम, नृसिंह, वराह तथा स्वय कृष्ण रूप से वे अवतरित होते हैं, विशेषत यशोदानन्दन के रूप में नराका अवतार ग्रहण करते है। इस प्रकार वे कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव. आदि नामों द्वारा गीयमान है। वे पूर्ण बालक, पूर्ण पति, पूर्ण सखा और पूर्ण स्वामी के रूप मे लीला करते है और समग्र ऐश्वर्यों और दिव्य गुणो के आश्रय हैं। जो श्रीभगवान् के इन दिव्य गुणादि से पूर्ण भावित है, वह परम योगी है।

वैदिक शास्त्रों का प्रमाण है कि योग-ससिद्धि की यह चरम अवस्था भक्तियोग के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

'श्रीभगवान् और गुरुदेव मे परम श्रद्धा वाले महात्माओ के हृदय में वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य अपने-आप प्रकाशित हो जाता है।'

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैरास्येनामुष्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम् : 'भक्ति का अर्थ लौकिक अथवा पारलौकिक—सब विषय-कामनाओं से रहित भगवत्सेवा करना है। विषयैषणा से मुक्त होकर मन को पूर्णरूप से श्रीकृष्ण में तन्मय कर देना ही 'नैष्कर्म्य' का प्रयोजन है।'

ये कुछ वे साधन है, जिनसे योग की परम ससिद्धि—भक्तियोग अथवा कृष्णभावना का आचरण हो सकता है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये षष्ठोऽध्यायः।।

अथ सप्तमोऽध्यायः



ज्ञानविज्ञानयोग

(श्रीभगवान् का ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच।
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ (अर्जुन)! मेरे भक्तिभाव से युक्त होकर मुझमें आसक्त मन के द्वारा योगाभ्यास करने से तू मुझे निःसन्देह जिस प्रकार पूर्णरूप से जानेगा, उसका श्रवण कर।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के इस सातवें अध्याय में कृष्णभावनामृत के स्वरूप का पूर्ण निरूपण है। भगवान् श्रीकृष्ण में सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का परिपूर्णतम प्रकाश है। इस अध्याय में उनके द्वारा अपने ऐश्वर्य के प्रकटीकरण का वर्णन है। इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट होने वाले चार प्रकार की सुकृतियों और कभी न कृष्णोन्मुख होने वाले चार प्रकार के दुर्जनों का उल्लेख भी है।

प्रथम छः अध्यायों में जीव को अप्राकृत आत्मतत्त्व कहा गया है, जो विविध योगपद्धतियों के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार कर सकता है। छठे अध्याय के अन्त में निश्चित उल्लेख है कि श्रीकृष्ण में मन की अचल एकाग्रता, अर्थात् कृष्णभावना परमोच्च योगपद्धति है। मन को श्रीकृष्ण में एकाग्र करने से ही परतत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति तथा एकदेशीय परमात्मा विष्णु की अनुभूति परतत्त्व का पूर्ण ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्ण पूर्ण विज्ञान हैं; अतएव कृष्णभावनाभावित भक्त को सम्पूर्ण तत्त्व स्फुरित हो जाता है। पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष को यह निश्चित प्रबोध हो जाता है कि श्रीकृष्ण ज्ञान की अवधि हैं। विविध योग पद्धतियाँ तो कृष्णभावनामृत-पथ की प्रवेशिका मात्र हैं। जिसने सीधे कृष्णभावनामृत के पथ को ग्रहण कर लिया है, वह ब्रह्मज्योति एवं परमात्मा के सम्बन्ध में अपने आप सब कुछ जान जाता है। सारांश में, कृष्णभावना-योग के अभ्यास से परतत्त्व, जीवतत्त्व, मायातत्त्व और इनके द्वारा अभिव्यञ्जित अन्य सब तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

अस्तु, छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के निर्देशानुसार योग का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। नवधाभक्ति करने से मन अपने-आप भगवान् श्रीकृष्ण के अभिराम ध्यान में एकाग्र रहेगा। भक्ति की इन विधियों में श्रवण करना सर्वप्रधान है। इसीलिए श्रीभगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है **तच्छृणु** 'मुझसे सुन।' भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रमाण है। अत उनके मुखचन्द्र से निस्यन्दित वचनामृत को श्रवण करना कृष्णभावनामृत मे प्रगति करने का सर्वोत्तम सुयोग है। इस कारण भगवत्-तत्त्व की शिक्षा साक्षात् श्रीकृष्ण अथवा उनके शुद्ध भक्त से ही ग्रहण करनी चाहिए, विद्वत्ता के घमण्डी धूर्त अभक्त से नहीं।

श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय में परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण को जानने की पद्धति का वर्णन है

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवण कीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।।

'वैदिक शास्त्रों से श्रीकृष्ण की कथा सुनने अथवा भगवद्गीता के रूप में साक्षात् श्रीकृष्ण से उनकी कथा को सुनने मात्र से पुण्य होता है। प्राणीमात्र के हृदय में बैठे भगवान् श्रीकृष्ण सुहृद की भाँति कार्य करते हैं और अपनी कथा नित्य सुनने वाले भक्त को शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार भक्त का सुप्त ज्ञान अपने शुद्ध रूप में फिर से उद्भासित हो जाता है। श्रीमद्भागवत और भक्तों से कृष्णकथा को वह जितना अधिक सुनता है, उतनी ही भगवद्भक्ति मे निष्ठा हो जाती है। भक्ति की प्रगाढता होने पर रजोगुण एवं तमोगुण से मुक्ति होती है और इस प्रकार काम, लोलुपता आदि का क्षय हो जाता है। इन अशुद्धियों के दूर होने पर भक्त शुद्ध सत्त्व में स्थिर रहता है। फिर भक्तियोग से उत्पन्न आह्लाद के फलस्वरूप उसे भगवत्-तत्त्व का पूर्ण बोध हो जाता है। इस प्रकार विषयैषणा की तीक्ष्ण ग्रन्थी का भेदन कर भक्तियोग उसे तत्क्षण परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान मे **(असंशयं समग्रम्)** आरूढ कर देता है। (भागवत १ २ १७-२१)

अत श्रीकृष्ण से या कृष्णभावनाभावित भक्तो के मुख से श्रवण करने पर ही कृष्णतत्त्व जाना जा सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

अनुवाद

अब मै तेरे लिए विज्ञानसहित उस ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा, जिसको जानकर ससार मे फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता।।२।।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

अनुवाद

हजारों मनुष्यों में से कोई एक ससिद्धि के लिए यत्न करता है और उन सिद्ध हुए पुरुषों में भी कोई दुर्लभ मनुष्य ही मुझे तत्त्व से जानता है।।३।।

तात्पर्य

विभिन्न श्रेणियों के हजारों मनुष्यों में से किसी एक दुर्लभ मनुष्य की

आत्मतत्त्व, देहतत्त्व एवं परतत्त्व को जानने के लिए पारमार्थिक अनुभूति में पर्याप्त रुचि होती है। मानव-समाज साधारणतया आहार, निद्रा, मैथुन, भय आदि पशुवृत्तियों में मग्न है; दिव्यज्ञान के लिए प्रायः सभी में रुचि का अभाव है। गीता के प्रथम छः अध्याय दिव्यज्ञान के उन जिज्ञासुओं के लिए हैं, जो आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान के लिए ज्ञानयोग, ध्यानयोग, विवेक-बुद्धि आदि तत्त्व-साक्षात्कार मार्गों का अनुगमन करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के तत्त्व को तो केवल कृष्णभावनाभावित भक्त ही जान सकते हैं। अन्य योगियों को निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो सकती है, क्योंकि श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान की तुलना में यह सुगम है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान से भी परे हैं। निर्विशेषवादियों के अग्रगण्य श्रीपाद शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में श्रीकृष्ण को परमब्रह्म स्वय भगवान् स्वीकार किया है; फिर भी योगी और ज्ञानी श्रीकृष्ण को समझने के प्रयास में संभ्रमित हो रहे हैं। शंकराचार्य के अनुगामी श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते। कारण, निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो जाने पर भी श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान पाना बड़ा कठिन है।

भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष गोविन्द और सब कारणों के परम कारण हैं। '**ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्।**' अभक्तों के लिए उन्हे जानना बडा कठिन है। उन अभक्तों का कहना है कि भक्ति-मार्ग अति सुगम है, परन्तु उसका अभ्यास वे नही कर सकते। अभक्तों के कथन के अनुसार यदि भक्ति-मार्ग वास्तव में इतना सुगम है तो वे इसको त्याग कर कष्टसाध्य निर्विशेष-पथ को ही क्यों ग्रहण करते हैं? सत्य यह है कि भक्ति-मार्ग सुगम नहीं है। भक्ति के ज्ञान के बिना अप्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा आचरित नाममात्र का भक्ति-पथ सुगम हो सकता है, पर विधि-विधान के अनुसार भक्ति-पथ का अनुसरण करना मनोधर्मी विद्वानों एव दार्शनिकों के बस की बात नहीं। इसी से वे अतिशीघ्र भक्तिपथ से नीचे गिर जाते हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में श्रील रूप गोस्वामिचरण का कथन है—

श्रुति स्मृति पुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

'उपनिषद्, पुराण, नारद पञ्चरात्र आदि प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की उपेक्षापूर्वक की गयी भगवद्भक्ति समाज में व्यर्थ उत्पातकारी ही सिद्ध होती है।'

ब्रह्मवेत्ता निर्विशेषवादी अथवा परमात्मतत्त्वज्ञ योगी भगवान् श्रीकृष्ण के यशोदा-नन्दन अथवा पार्थसारथि रूप को नही जान सकते। मनुष्यों की तो बात ही क्या, महिमामय देवता भी कदाचित् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मोहित हो जाते हैं। **मुह्यन्ति**

यत्सुरयः, **मां तु वेद न कश्चन**, स्वयं श्रीभगवान् का कहना है कि उन्हें तत्त्व से कोई भी नहीं जानता। यदि कोई उनके तत्त्व में निष्णात हो तो, **स महात्मा सुदुर्लभः**, 'ऐसा महात्मा परम दुर्लभ है।' इस प्रकार भगवद्भक्ति की आश्रयता ग्रहण किये बिना उच्च विद्वान् अथवा दार्शनिक तक को श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु भक्तों के लिए श्रीकृष्ण नित्य अनुग्रहशील हैं। एकमात्र शुद्ध भक्त ही उनके सर्वकारणकारणत्व, सर्वशक्तित्व, श्री, यश, वीर्य, सौन्दर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादि अचिन्त्य चिन्मय गुणों को यत्किंचित् जानते हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मतत्त्व की पराकाष्ठा हैं। अतएव उनका तत्त्वज्ञान एकमात्र भक्तों को हो सकता है। शास्त्रवचन है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

'कुण्ठित प्राकृत इन्द्रियों से श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। भक्तों द्वारा समर्पित भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके हृदय में अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं।' (पद्मपुराण)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥४॥

अनुवाद

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ऐसे यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृति है॥४॥

तात्पर्य

भगवत्-विद्या श्रीभगवान् के स्वरूप और विविध शक्तियों का तात्त्विक विश्लेषण करती है। भौतिक शक्ति को प्रकृति अथवा श्रीभगवान् के विभिन्न पुरुष-अवतारों की शक्ति कहा जाता है, जैसा कि 'सात्वततन्त्र' में उल्लेख है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।

'प्राकृत-सृष्टि के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के अंश तीन विष्णु-रूपों में प्रकट होते हैं। सर्वप्रथम, महाविष्णु महत्तत्त्व नामक सम्पूर्ण भौतिकशक्ति का सृजन करते हैं। दूसरे पुरुषावतार गर्भोदकशायी विष्णु सब ब्रह्माण्डों मे नानाविध सृष्टि करने के लिए उनमें प्रवेश करते हैं। तीसरे, क्षीरोदकशायी विष्णु परमात्मा के रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-निकाय में सर्वव्यापक हैं। वे अणु-अणु में हैं। जो इन तीनों विष्णु-रूपो को

जानता है, वह भवबन्धन से मुक्ति के योग्य है।

यह प्राकृत-जगत् श्रीभगवान् की एक शक्ति-विशेष का क्षणिक प्रकाशमात्र है। जगत् की सम्पूर्ण क्रियायें भगवान् श्रीकृष्ण के इन तीन विष्णु-रूपों द्वारा संचालित हैं। ये तीनों पुरुषावतार कहलाते हैं। सामान्यत भगवान् कृष्ण के तत्त्व को न जानने वाले में यह धारणा रहती है कि यह जगत् जीवों के भोगने के लिए है और जीव ही प्रकृति के कारण (पुरुष), नियन्ता एव भोक्ता हैं। भगवद्गीता के अनुसार यह अनीश्वरवादी निष्कर्ष मिथ्या है। विचारणा विषयक उपरोक्त श्लोक में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण प्राकृत सृष्टि के आदिकारण हैं। श्रीमद्भागवत द्वारा भी यह प्रमाणित है। प्राकृत सृष्टि के घटक पँच-तत्त्व श्रीभगवान् की भिन्ना शक्तियाँ हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों की परमलक्ष्य 'ब्रह्मज्योति' भी परव्योम में अभिव्यक्त होने वाली एक भगवत्-शक्ति मात्र है। ब्रह्मज्योति में वैकुण्ठ लोकों के समान चिद्विलास नहीं है, पर फिर भी निर्विशेषवादी इसी को अपना परमलक्ष्य मानते हैं। परमात्मा भी क्षीरोदकशायी विष्णु का अशाश्वत् सर्वव्यापक रूप है। भगवद्धाम में परमात्मा रूप की अभिव्यक्ति नित्य नही होती। अत. परमसत्य केवल भगवान् श्रीकृष्ण है। वे समग्र शक्तिमान् पुरुष हैं और नाना प्रकार की भिन्ना (बहिरगा) और अन्तरगा शक्तियो से युक्त है।

पूर्व कथन के अनुसार, अपरा-प्रकृति (भौतिक-शक्ति) आठ प्रधानरूपों मे अभिव्यक्त होती है। इनमें से प्रथम पाँच, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाश को स्थूल सृष्टि कहा जाता है। इनकी सृष्टि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गध—ये पाँच इन्द्रियविषय अन्तर्भूत रहते हैं। प्राकृत विज्ञान इन दस तत्त्वों तक सीमित है। अन्य तीनो तत्त्व (मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार) विषयियों द्वारा उपेक्षित हैं। सबके परम उद्गम––श्रीकृष्ण को न जानने के कारण मनोधर्मी दार्शनिक पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकते। मिथ्या अहंकार (मैं-मेरा) में, जो भवरोग का मूल कारण है विषयभोग के लिए दस इन्द्रियो का समावेश है। 'बुद्धि' शब्द महत्तत्त्व का वाचक है। इस प्रकार, इन आठ शक्तियों से जगत् के चौबीस तत्त्व अभिव्यक्त होते है, जो नास्तिक सांख्य के विषय हैं। ये भिन्न तत्त्व मूल रूप में श्रीकृष्ण की शक्तियों से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु अल्पज्ञ अनीश्वरवादी साख्य दार्शनिक श्रीकृष्ण को सब कारणों का परम कारण नहीं समझते। वास्तव में श्रीकृष्ण की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति ही सांख्य दर्शन का विवेचनीय विषय है, जैसा भगवद्गीता में वर्णन है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

अनुवाद

हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़ प्रकृति) के अतिरिक्त मेरी एक जीवरूप परा (चेतन) प्रकृति भी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते हुए ब्रह्माण्ड को धारण करती है।।५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण की परा प्रकृति (उत्कृष्ट शक्ति) के अंश हैं। अपरा प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार के रूप में अभिव्यक्त जड़ तत्त्व हैं। भौतिक प्रकृति के भूमि आदि स्थूल और मन आदि सूक्ष्म, दोनों रूप अपरा शक्ति के कार्य हैं। विविध उद्देश्यों से इन अपरा शक्तियों का उपयोग कर रहे जीव परमेश्वर की परा शक्ति हैं। इसी जीव-शक्ति से सम्पूर्ण जगत् कार्यान्वित हो रहा है। जीव रूपी परा शक्ति से संचारित हुए बिना भौतिक सृष्टि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकती है। शक्तियाँ नित्य शक्तिमान् के आधीन रहती हैं, इस न्याय से जीव पर सदा श्रीभगवान् का प्रभुत्व रहता है, उनका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है। इसके अतिरिक्ति जीव भगवान् के समान शक्तिमान् भी कभी नहीं हो सकते, जैसा बुद्धिहीन मनुष्यो का मत है। श्रीमद्भागवत (१० ८७.३०) में जीवों और श्रीभगवान् में भेद का निरूपण इस प्रकार है.

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि
न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया।।

हे परम शाश्वत् विभो! यदि बद्धजीव आपके समान ही नित्य एवं सर्व-व्यापक होते तो उन पर आपका प्रभुत्व नहीं होता। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि वे आपकी शक्ति के लघु अंश है, तो वे आपके आधीन सिद्ध हो जाते है। इसलिए मुक्ति का सच्चा अर्थ जीवो का आपकी प्रभुता के शरणागत हो जाना है। ऐसी शरणागति उन्हे शाश्वत् आनन्द प्रदान करती है। वस्तुत इस स्वरूप-स्थिति मे ही वे स्वतन्त्रता को पाते हैं। अतएव जो अल्पज्ञ मनुष्य इस अद्वैतवाद का प्रचार करते हैं कि ईश्वर और जीव सब प्रकार से एक है, वे वास्तव मे अपने को और दूसरो को भ्रमित ही करते हैं।'

परमेश्वर श्रीकृष्ण एकमात्र ईश्वर हैं और सब जीव उनके आधीन हैं। ये जीव श्रीभगवान् की परा-शक्ति हैं, क्योंकि दोनों में समान चिद्गुण हैं। परन्तु जीव शक्ति मे भगवान् के तुल्य कभी नही हो सकते। जड़ प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपों का

उपभोग करते हुए पराशक्तिस्वरूप जीव को अपने यथार्थ दिव्य चित्त तथा बुद्धि का विस्मरण हो जाता है। इस विस्मृति का कारण जीवात्मा पर जड़ प्रकृति के प्रभाव का पड़ना है। परन्तु जब जीव माया के इस बन्धन से स्वतन्त्र हो जाता है तो मुक्तिलाभ करता है। माया से उत्पन्न मिथ्या अहंकार के प्रभाव में वह सोचता है, 'मैं पाँचभौतिक तत्त्व हूँ, और जड़ पदार्थ मेरे हैं।' श्रीभगवान् से एक हो जाने जैसी सब जड़ धारणाओं से मुक्त हो जाने पर ही उसे अपने स्वरूप की फिर प्राप्ति होती है। अस्तु, यह निष्कर्ष निकलता है कि गीता के अनुसार जीव श्रीकृष्ण की असंख्य शक्तियों में से एक शक्ति मात्र है और सांसारिक पाप से पूर्ण शुद्ध हो जाने पर यह शक्ति पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित, अर्थात् मुक्त हो जाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

अनुवाद

इस जगत् में जड चेतन जो कुछ भी है, वह सब इन दोनों प्रकृतियो से उत्पन्न होता है, इसलिए वास्तव में मैं ही सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय रूप हूँ।।६।।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

अनुवाद

हे धनञ्जय ! मुझ से श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नही है। सूत्र में ग्रथित मणियो की भाँति यह सब कुछ मेरे आश्रित हैं।।७।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! मै जल में रस हूँ और सूर्य एवं चन्द्रमा मे प्रभा हूँ तथा वैदिक मन्त्रों में ओंकार हूँ; आकाश में शब्द हूँ तथा मनुष्यों में पुरुषत्व हूँ।।८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में वर्णन किया गया है कि किस प्रकार अपनी विविध प्राकृत एवं चिन्मय शक्तियों के द्वारा श्रीभगवान् सर्वव्यापक हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण की प्रारम्भिक अनुभूति उनकी नाना शक्तियों के रूप में ही होती है। यह उनकी निर्विशेष

अनुभूति है। जैसे सूर्य का अधिष्ठातृ-देवता एक पुरुष-विशेष है जिसका अनुभव उसकी सर्वव्यापक शक्ति, सूर्यप्रभा के रूप मे होता है। उसी प्रकार अपने नित्य धाम मे विराजमान होते हुए भी भगवान् अपनी सर्वव्यापी शक्तियो के द्वारा अनुभवगम्य है। रस जल का धर्म है। सागर का जल पीने योग्य नही है क्योकि उसमे जल का शुद्ध स्वारस्य लवण द्वारा दूषित रहता है। जल के प्रति आकर्षण उसके रस की शुद्धता पर निर्भर करता है, यह विशुद्ध रस भी भगवान् की एक शक्ति है। निराकारवादी को जल के स्वारस्य से ईश्वर-सन्निधि का बोध होता है, जबकि साकारवादी प्यास-निवृत्ति के लिए कृपापूर्वक जल दान करने के लिए श्रीभगवान् का जयकार भी करता है। भगवत्-अनुभूति की यह पद्धति है। वस्तुत साकारवाद और निराकारवाद मे कोई मतभेद नहीं है। श्रीभगवान् के तत्त्व को जानने वाला जानता है कि निराकार एव साकार दोनो प्रत्येक पदार्थ मे एक साथ विद्यमान है। परस्पर विरोध का प्रश्न नही उठता। इसी कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु ने **अचिन्त्यभेदाभेद** नामक दिव्य सिद्धान्त को स्थापित किया है।

सूर्य तथा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना मूलरूप मे ब्रह्मज्योति, अर्थात् श्रीभगवान् की निर्विशेष प्रभा से निकली है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र के प्रारम्भ मे श्रीभगवान् के सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होने वाला **प्रणव** अथवा **ओंकार** भी उन्ही से प्रकट हुआ है। निर्विशेषवादियों को परमेश्वर श्रीकृष्ण को उनके असंख्य नामो मे से किसी से पुकारने में भय का अनुभव होता है, उन की धारणा मे 'ओंकार' अधिक उत्तम है। परन्तु वे नहीं जानते कि ओंकार श्रीकृष्ण का ही नादविग्रह है। कृष्णभावनामृत की सार्वभौम प्रभुसत्ता है; अतः जो कृष्णभावनामृत का तत्त्वज्ञ हो जाता है, वह सौभाग्यशाली है। इनके विपरीत, जो श्रीकृष्ण को नहीं जानता, वह माया के बन्धन मे है। श्रीकृष्ण का ज्ञान मुक्ति है और श्रीकृष्ण अज्ञान ही बन्धन है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

अनुवाद

मैं पृथ्वी में आद्य सौरभ हूँ और मैं ही अग्नि में तेज हूँ। मै ही सब प्राणियो मे उनका जीवन और तपस्वियों में तप हूँ।।९।।

तात्पर्य

पुण्य उसे कहते हैं जिसमें विकार नहीं होता; 'पुण्य' आद्य है। पुष्प, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जगत् की प्रत्येक वस्तु में एक विशिष्ट सौरभ रहती है।

विशुद्ध आद्य सुगन्ध, जो सर्वव्यापक है, श्रीकृष्ण का रूप है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ का अपना विशिष्ट रस होता है, जिसे रासायनिक सम्मिश्रण से यथारुचि बदला जा सकता है। अत सभी मूल पदार्थों में किसी विशिष्ट गन्ध, सुरभि और रस की प्राप्ति होती है। **विभावसौ** का अर्थ अग्नि है। अग्नि के अभाव में निर्माण, रन्धन आदि कर्म नहीं किये जा सकते। अत अग्नि भी श्रीकृष्ण का रूप है। अग्नि का ताप श्रीकृष्ण है। आयुर्वेद के अनुसार, अपच का कारण उदर में मन्दाग्नि का होना है। अतएव पाचन के लिए भी अग्नि अनिवार्य है। कृष्णभावना में हम जानते है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सब रासायनिक और भौतिक तत्त्वों के स्रोत श्रीकृष्ण हैं। मानव जीवन की अवधि भी श्रीकृष्ण द्वारा निर्धारित है। अत गोविन्द-अनुग्रह के अनुसार मनुष्य अपने जीवनकाल को बढ़ा-घटा सकता है। इस प्रकार कृष्णभावना प्रत्येक क्षेत्र में क्रियाशील है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

अनुवाद

हे पार्थ! सब प्राणियों का आदि बीज मुझे ही जान। बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मै ही हूँ।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

अनुवाद

मैं बलवानों का कामना और आसक्ति से रहित बल हूँ। और हे अर्जुन! जीवो में धर्मसम्मत काम भी मैं ही हूँ।।११।।

तात्पर्य

बलवान् अपने बल का उपयोग निर्बल की रक्षा के लिए ही करे, स्वार्थप्रेरित आक्रमण के लिए नही। इसी भाँति, धर्मसम्मत मैथुन का उद्देश्य केवल सतति करना हो, विषयसुख नहीं। अपनी सन्तान को कृष्णभावनाभावित बनाना माता-पिता का परम कर्तव्य है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

अनुवाद

जो भी सत्त्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, वे सब मेरी ही शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। एक दृष्टि से मैं सब कुछ हूँ, फिर भी माया के गुणों के आधीन न होने के कारण मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूँ।।१२।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

अनुवाद

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों प्रकार के गुणों द्वारा मोहित यह सारा संसार इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता।।१३।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण जगत् माया के त्रिविध गुणों के वशीभूत हो रहा है। इन गुणों द्वारा मोहित जीव माया से परे भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं पहचानता। त्रिविध गुणों के आधीन होने से इस जगत् में सभी विमोहित हैं।

स्वभाव-भेद के अनुसार जीवों के नाना शरीर और मानसिक एवं शारीरिक कार्य-कलाप होते हैं। मायिक गुणों के आधीन कार्य करने वाले मनुष्यों की चार कोटियाँ हैं। विशुद्ध सत्त्वगुणी मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं और रजोगुणी क्षत्रिय कोटि में आते हैं। रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण में स्थित मनुष्य वैश्य हैं और पूर्णतया तमोगुणी मनुष्य शूद्र कहलाते हैं। इनसे भी अधम जीव पशुयोनि ग्रहण करते हैं। परन्तु ये उपाधियाँ चिरस्थायी नहीं हैं। वर्तमान में मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि किसी भी वर्ग में गिना जा सकता हूँ, परन्तु कोई भी अवस्था क्यों न हो, जीवन नाशवान् है। यद्यपि जीवन क्षणभगुर है और हमें पता नहीं कि अगले जन्म में हमें कौन सी देह प्राप्त होगी, फिर भी माया से उत्पन्न देहात्मबुद्धि के कारण हम अपने को अमरीकी, भारतीय, रूसी अथवा ब्राह्मण, हिन्दू, मुस्लिम आदि मान बैठे हैं। माया के गुणों में बँध जाने से इनके ईश्वर—श्रीभगवान् की हमें विस्मृति हो गयी है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि माया के इन गुणों द्वारा मोहित मनुष्य यह नहीं जानते कि सृष्टि के पीछे मैं (परात्पर) हूँ।

जीवों की मनुष्य, देवता, पशु आदि अनेक कोटियाँ हैं। माया की आधीनता में इन सभी को भगवान् का विस्मरण हो गया है, जो माया से परे हैं। रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, यहाँ तक कि सत्त्वगुणी जीव भी परतत्त्व के निर्विशेष ब्रह्मरूप का उल्लंघन नहीं कर सकते। सम्पूर्ण श्री, ऐश्वर्य,

ज्ञान, वीर्य, यश एव वैराग्य से युक्त श्रीभगवान् के साकार रूप के सम्बन्ध में वे संमोहित से रहते हैं। जब सत्त्वगुणी जीव तक भगवान् के तत्त्व को जानने में असमर्थ है तो रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के लिए क्या आशा हो सकती है? कृष्णभावनामृत माया के इन तीनों गुणों से बिल्कुल परे है। अतएव जो यथार्थ में कृष्णभावनाभावित हैं, वे पुरुष ही वास्तव में मुक्त है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

अनुवाद

मेरी यह दैवी शक्ति, अर्थात् त्रिगुणमयी माया बडी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते है, वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं।।१४।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

अनुवाद

माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किए हुए, मनुष्यो में अधम और पापकर्म करने वाले मूढ़ मेरी शरण नही लेते ।।१५।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता मे कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाविन्द की शरण मे जाने मात्र से जीव माया के कठोर नियमो को लाँघ सकता है। इस पर एक जिज्ञासा उठती है। क्या कारण है कि विद्वान् दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यापारी, प्रशासक तथा लोगो के अन्य सब अग्रणी सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों मे नही जाते? मानवता के पथप्रदर्शक नाना प्रकार की बड़ी-बडी योजना बनाकर अनेक वर्षों और जन्मान्तरो तक अध्यवसायपूर्वक मुक्ति के लिए उद्यम करते रहते है। परन्तु जब भगवान् के चरणारविन्द में प्रपन्न होने मात्र से मुक्ति सुलभ हो सकती है, तो क्यों नही ये बुद्धिमान् और परिश्रमी लोग इस सुगम पथ को अंगीकार करते?

गीता मे इस जिज्ञासा का स्पष्ट उत्तर उपलब्ध है। समाज के सच्चे विद्वान् अग्रणी— ब्रह्मा, शिव, कपिल, कुमार, मनु, व्यास, देवल, असित, जनक, प्रह्लाद, बलि, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा अन्य श्रद्धालु दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, शिक्षक आदि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर श्रीकृष्ण के चरणकमलो

की शरण अवश्य लेते हैं। परन्तु जो वास्तव में दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षक, प्रशासक आदि नहीं हैं, केवल लौकिक लाभ के लिए ऐसी योग्यताओं से युक्त होने का कपट भर करते हैं, वे भगवत्-विधान अथवा भागवतपथ को स्वीकार नहीं कर सकते। भगवान् के सम्बन्ध में वे कुछ भी नहीं जानते, इसलिए सासारिक योजनाएँ ही बनाते रहते है। वे भवरोग की समस्याओं का उपचार तो कर नहीं पाते, अपितु उन्हें और भी अधिक जटिल बना देते हैं। शक्तिशाली मायाशक्ति इन अनीश्वरवादियों की योजनाओ का प्रतिकार कर 'योजना आयोगों' के ज्ञान को ध्वस्त कर देती है।

अनीश्वरवादी योजनाकारो को इस श्लोक में **दुष्कृतिन** अर्थात् पापात्मा कहा गया है। **कृतिन** शब्द का अर्थ पुण्यात्मा होता है। नास्तिक योजनाकार भी कभी-कभी अत्यन्त बुद्धिमान् एव श्लाध्य सिद्ध होता है, क्योंकि अच्छी-बुरी किसी भी बड़ी योजना के लिए बुद्धि चाहिए। पर परमेश्वर की योजना के विरोध में अपनी मति का दुरुपयोग करने के कारण अनीश्वरवादी योजनाकार **दुष्कृतिन** है। भाव यह है कि उसकी बुद्धि और चेष्टा उल्टी दिशा की ओर हैं।

गीता मे स्पष्ट कहा है कि माया-शक्ति पूर्णरूप से परमेश्वर श्रीकृष्ण के नियन्त्रण मे कार्य करती है, उसका कोई स्वतन्त्र प्रभुत्व नही है। जिस प्रकार छाया पदार्थ का अनुसरण करती है, माया भी वैसे ही कार्य करती है। फिर भी, माया-शक्ति अत्यन्त बलिष्ठ है। अपने अनीश्वरवादी स्वभाव के कारण नास्तिक उसकी क्रिया-विधि से अवगत नहीं हो सकता और न ही श्रीभगवान् की योजना को जान सकता। सम्मोह, रजोगुण और तमोगुण से आवृत होने के कारण उसकी सब योजनाएँ विफल हो जाती हैं, उसी प्रकार जैसे वैज्ञानिक, दार्शनिक, प्रशासक तथा शिक्षावित् होते हुए भी हिरण्यकशिपु, रावण आदि की योजनाएँ धूल में मिल गई थीं। दुष्टों के चार वर्ग हैं—

(१) **मूढ**: भारवाहक पशुओ जैसे महामूर्ख व्यक्तियों को मूढ कहा जाता है। वे अपने परिश्रम के फल को स्वयं भोगने की तृष्णा रखते हैं, इसलिए उसे श्रीभगवान् को अर्पित करना उन्हे अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार के नरपशुओं का सबसे उपयुक्त उदाहरण गधा है। इस दीन पशु से उसका स्वामी अतिश्रम कराता है। गधा नहीं जानता कि वह किसके लिए दिन-रात इतना उद्यम करता है। सूखे तिनकों से पेट भरने, स्वामी से नित्यभयभीत रहते कुछ समय विश्राम करने, और बारम्बार गधी की लात खा-खाकर भी गधा मैथुन में तृप्ति मानता है। कभी-कभी वह कविता अथवा दर्शन का भी गान करता है, परन्तु उसका खरनाद दूसरों को क्षोभ पहुँचाने में ही सफल होता है। कर्म किसके लिए करना चाहिए, इस ज्ञान से रहित मूढ सकाम कर्मी

की ठीक यही स्थिति है। वह नहीं जानता कि कर्म केवल यज्ञ (विष्णु) के लिये करना चाहिये।

स्वकल्पित कर्तव्यों के बोझ से दबे रहकर दिन-रात कठोर परिश्रम करने वाले प्राय· कहते है कि आत्मा के अमृत-स्वरूप की चर्चा सुनने के लिये उनके पास समय नहीं है। ऐसे मूढ़ो के लिए अनित्य विषय-लाभ जीवन का सर्वस्व है, हाँलाकि वे अपने परिश्रम-फल के अल्पाश का ही उपभोग कर पाते हैं। मूढ़ विषय-लाभ के लिये निद्रारहित दिन-रात बिताते हैं, उदरव्रण अथवा मन्दाग्नि से पीड़ित होने पर भी उत्तम से उत्तम भोजन से उनकी तृप्ति नहीं हो पाती। मायिक स्वामी के लिए दिन-रात अथक परिश्रम करने में वे अभिरत रहते हैं। अपने सच्चे स्वामी को न जानकर ऐसे मूढ़ कर्मी माया की सेवा में अपने अमूल्य समय का अपव्यय कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश, सब स्वामियों के परम स्वामी (भगवान्) की शरण में वे कभी नहीं जाते और न ही समय निकाल कर प्रामाणिक आचार्यमुख से उनकी कथा का श्रवण करते हैं। विष्ठा खाने वाले सुअर को चीनी और घी से बने मिष्ठान्न कभी अच्छे नहीं लग सकते। ऐसे ही, मूढ़ कर्मी जगत् को आन्दोलित करने वाली चचल प्राकृत शक्ति की इन्द्रियतृप्तिदायक वार्ताओं को ही निरन्तर सुना करता है।

(२) द्वितीय कोटि के दुष्ट **नराधम**, अर्थात् मनुष्यों में परम अधम कहलाते हैं। ८४,००,००० योनियों में ४,००,००० मानवीय योनियाँ हैं। इनमें अनेक नीच योनियों के मनुष्य प्रायः असभ्य होते हैं। जो सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विधि-विधान से युक्त हैं, वे सभ्य कहे जाते हैं। सामाजिक एव राजनैतिक दृष्टि से विकसित होने पर भी जो धर्म से शून्य हैं, वे नराधम हैं। श्रीभगवान् की धारणा से शून्य धर्म वास्तव में धर्म नहीं है, क्योंकि धर्माचरण का एकमात्र प्रयोजन परम सत्य को और उससे मनुष्य के सम्बन्ध का जानना है। गीता मे श्रीभगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है कि उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई प्रमाण नहीं है, वे ही परम सत्य हैं। सभ्य मानव-जीवन सर्वशक्तिमान् परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध की खोयी चेतना को फिर से जागृत करने के लिये है। जो इस परम दुर्लभ सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह **नराधम** है। शास्त्रों से ज्ञात है कि मातृगर्भ की परम दुःखदायी अवस्था में शिशु श्रीभगवान् से अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है और बाहर निकलते ही उनकी आराधना करने का वचन भी देता है। विपदा में श्रीभगवान् की स्तुति करना जीवमात्र के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि वास्तव में श्रीभगवान् से उसका शाश्वत् सम्बन्ध है। परन्तु प्रसव होते ही बालक गर्भ की पीड़ा को भूल जाता है और माया के प्रभाव में आकर अपने रक्षक की भी उसे विस्मृति हो जाती है।

अपने बालकों के सोए भगवत्प्रेम को फिर जागृत करना अभिभावकों का प्रधान कर्तव्य है। वर्णाश्रम-पद्धति में धर्मशास्त्र मनुस्मृति के अनुसार किए जाने वाले दस प्रकार के शुद्धि संस्कारों का उद्देश्य इस भगवत्प्रेम का पुनर्जागरण ही है। परन्तु अब किसी भी अंचल में इस पद्धति का दृढ़ता से अनुसरण नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप आज विश्व में ९९.९ प्रतिशत लोग नराधम हैं।

सम्पूर्ण जनता के नराधम हो जाने पर यह स्वाभाविक ही है कि उसकी सारी नाममात्र की शिक्षा जड़ प्रकृति की महान् शक्ति के प्रभाव से निष्फल हो जाती है। गीता के मापदण्ड के अनुसार जिसकी विद्वान् ब्राह्मण, कुत्ते, गाय, हाथी और चाण्डाल में समदृष्टि हो, वह पण्डित है। यह सच्चे भक्त की दृष्टि है। गुरुरूप भगवदवतार श्रीनित्यानन्द प्रभु ने नराधम-शिरोमणि जगाई-मधाई बन्धुओं का उद्धार कर के नराधमों पर शुद्धभक्त की अनुकम्पा के परिवर्षण का अनुपम आदर्श स्थापित किया। इस प्रकार भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा से श्रीभगवान् द्वारा दण्डित नराधम में भी भगवत्प्रेम का फिर से उदय हो सकता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भागवतधर्म का प्रवर्तन करते हुए उपदेश किया है कि लोग दैन्यभाव से भगवत्कथा का श्रवण करें। भगवद्गीता इस कथा की सार-सर्वस्व है। भागवती कथा को विनम्रता से सुनने पर नराधमों की भी मुक्ति हो सकती है। दुर्भाग्यवश, भगवत्-इच्छा के प्रति समर्पण करना तो दूर रहा, वे तो इस कथा का श्रवण तक नहीं करते। इस प्रकार ये नराधम मनुष्ययोनि के सर्वप्रधान कर्तव्य की पूर्णरूप से उपेक्षा कर रहे हैं।

(३) तीसरी श्रेणी के दुरात्मा **माययापहृत ज्ञान** कहलाते हैं, अर्थात् जिनका प्रकाण्ड ज्ञान माया शक्ति के प्रभाव से हर लिया गया है। इस श्रेणी के लोग अधिकांश में बड़े विद्वान्, दार्शनिक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि होते हैं। परन्तु माया उन्हें सत्पथ से भ्रष्ट कर देती है,—वे भी श्रीभगवान् की अवज्ञा कर बैठते हैं।

वर्तमान काल में गीता के विद्वानों में भी बहुत से **माययापहृत ज्ञान** मूढ़ हैं। गीता में सीधी सरल भाषा में बार-बार कहा गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। वे असमोर्ध्व हैं, अर्थात् उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है, क्योंकि वे सब मनुष्यों के पिता—ब्रह्मा के भी पिता हैं। ब्रह्मा के ही नहीं, वे तो सम्पूर्ण जीव-योनियों के जन्मदाता हैं। वे ही निर्विशेष ब्रह्म के आश्रय हैं, और जीवमात्र के अन्तर्यामी परमात्मा उन्हीं का अंश है। वे सबके स्रोत हैं, अतः सभी को उनके शरणागत हो जाना चाहिए। इन स्पष्ट वाक्यों के होते हुए भी **माययापहृत ज्ञान** मूढ़

श्रीभगवान् को साधारण मनुष्य समझकर उनका उपहास किया करते हैं। वे नही जानते है कि महाभाग मनुष्य-शरीर श्रीभगवान् के नित्य-चिन्मय श्रीविग्रह के अनुसार ही रचा गया है।

माययापहृत ज्ञान श्रेणी के मूढो ने परम्परा के बाहर गीता की जो भी अप्रामाणिक व्याख्याएँ की हैं, वे सब ज्ञान के पथ में बाधक सिद्ध होती हैं। मूढ़ व्याख्याकार न तो स्वय श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण लेते है और न दूमरो को ही ऐमा करने की शिक्षा देते है।

(४) अन्तिम कोटि के दुष्ट **आसुरभावाश्रित**—आसुरी स्वभाव धारी है। यह श्रेणी खुले रूप मे अनीश्वरवादी है। इस कोटि के मनुष्य रूपधारी असुरों का तर्क है कि परमेश्वर इस प्राकृत-जगत् मे कभी अवतरित नही हो सकते। परन्तु अपने इम तर्क को वे किसी ठोस प्रमाण के आधार पर सिद्ध नही कर पाते। दूसरे श्रीभगवान् को निर्विशेष ब्रह्म के आधीन कहते है, यद्यपि गीता मे इससे ठीक विपरीत वर्णन है। श्रीभगवान् से ईर्ष्यावश ये अनीश्वरवादी अनेक कपोलकल्पित झूठे अवतारों को प्रकट करते है। जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवान् की निन्दा करना है, ऐसे ये दुर्जन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण कभी नही ले सकते।

भक्तराज श्रीयामनाचार्य का उद्‌गार है, 'प्रभो! आप विलक्षण गुण, रूप, लीला से विभूषित है। सब शास्त्रो से आपका विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह प्रमाणित है और दैवी गुणशील ज्ञानी आचार्य भी आप का जय-जयकार करते हैं। फिर भी आसुरभाव रखने वाले आपको जानने मे सफल नही होते।'

अस्तु, (१) मूढ, (२) नराधम, (३) भ्रमित मनोधर्मी तथा (४) अनीश्वर-वादी—ये चारो प्रकार के पापी सब शास्त्रो एव आचार्यों की सम्मति के विरुद्ध श्रीभगवान् के चरणकमलो की शरण मे कभी नहीं आते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

अनुवाद

हे भारत (अर्जुन)! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।।१६।।

तात्पर्य

दुष्टों के विपरीत ऐसे मनुष्य भी हैं, जो शास्त्रीय विधि-विधान का परिपालन करते हैं। ये **सुकृती** कहलाते हैं। धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विधानों का

आज्ञानुसरण करने वाले ये सभी न्यूनाधिक रूप मे भगवद्भक्त है। इन मनुष्यों की भी चार कोटियाँ हैं—विपदाग्रस्त, धन के अभिलाषी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। ये सब भिन्न-भिन्न कारणों से भगवद्भक्ति करने के लिए भगवान् की शरण में आते हैं। ये शुद्ध भक्त नहीं है, क्योकि इन्हें भक्ति के बदले में कुछ न कुछ अभिलाषा है। शुद्ध भक्ति तो किसी भी अन्य अभिलाषा अथवा कामना से रहित होती है। **भक्तिरसामृत-सिन्धु** मे भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

'सकाम कर्म अथवा ज्ञान द्वारा किसी सासारिक लाभ की अभिलाषा मे मुक्त होकर अनुकूलतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक दिव्य सेवा करनी चाहिए। इसी का नाम शुद्ध भक्ति है।'

भक्तियोग के लिए श्रीभगवान् की शरण लेने और शुद्ध भक्त के सत्सग से पूर्णरूप मे पवित्र हो जाने पर ये चार प्रकार के सुकृति भी शुद्ध भक्त बन जाते है। जहाँ तक दुष्टों का सम्बन्ध है, उनके लिए भक्तियोग के परायण होना अति कठिन है, क्योंकि उनका जीवन स्वार्थमय, असंयमित और पारमार्थिक लक्ष्य मे शून्य है। परन्तु उनमे से भी कुछ जब सौभाग्यवश शुद्ध भक्त के सग मे आते है तो वे भी शुद्ध भक्त बन जाते हैं।

जो सकाम कर्म मे ही लगे रहते हैं, वे केवल सासारिक दु ख के समय भगवान् की शरण में आते है और शुद्ध भक्त के संग से भक्तियोग में लगते है। ससार से बिल्कुल निराश व्यक्तियो मे से भी कुछ कभी-कभी शुद्धभक्त का सत्सग करने आते है और इस प्रकार उनमें भी भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा का उदय हो सकता है। इसी प्रकार, ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे हार जाने पर शुष्क दार्शनिक भगवत्-ज्ञान के लिए उत्कण्ठित होकर भगवद्भक्ति करते है और परिणाम में भगवत्कृपा अथवा महाभागवतकृपा से ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान का उल्लघन करके सविशेष श्रीभगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। सक्षेप मे, जब ये चारों (आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी) सम्पूर्ण वासना से मुक्त हो जाते हैं और यह भलीभाँति हृदयगम कर लेते हैं कि लौकिक लाभ का पारमार्थिक उन्नति से कुछ भी सम्बन्ध नही है, तो ये सब शुद्ध भक्त बन जाते है। जब तक ऐसी परम शुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक भगवत्सेवी भक्तों में सकाम कर्म के दोष बने रहते है और कभी-कभी वे ज्ञानादि का अन्वेषण भी किया करते हैं। अत विशुद्ध भक्तियोग के स्तर पर आने के लिए इन

सभी बाधाओं का उल्लंघन करना आवश्यक है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

अनुवाद

इन सब मे शुद्ध भक्तियोग द्वारा मुझसे युक्त ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मै उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अतिशय प्रिय है।।१७।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

अनुवाद

निःसन्देह ये सभी भक्त उदार है, परन्तु जो मेरा तत्त्वज्ञानी है, उसे तो मै अपने में ही स्थित मानता हूँ। मेरी भक्ति के नित्य परायण रह कर वह मुझे ही प्राप्त होता है।।१८।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

अनुवाद

बहुत जन्मान्तरो के अन्त मे तत्वज्ञान को प्राप्त पुरुष मुझे सब कारणो का परम कारण और सर्वव्यापक जानकर मेरी शरण मे आता है। ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है।।१९।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

अनुवाद

कामनाओं ने जिनके ज्ञान को हर लिया है, वे ही अन्य देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुरूप उपासना के विधि-विधान का पालन करते हैं।।२०।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

अनुवाद

मैं अन्तर्यामी परमात्मा रूप से जीवमात्र के हृदय में हूँ; इसलिए जो जिस इच्छा से जिस देवरूप को श्रद्धा से पूजने की इच्छा करता है, मैं उसकी श्रद्धा को उसी देवता में स्थिर कर देता हूँ।।२१।।

तात्पर्य

ईश्वर ने सबको स्वतन्त्रता दी है। इसलिए यदि किसी को विषयभोग की इच्छा हो, जिसके लिए वह हृदय से चाहे कि अमुक देवता उसे अमुक सुविधा प्रदान करे, तो परमेश्वर श्रीकृष्ण जो परमात्मा रूप से प्राणीमात्र के अन्तर्यामी हैं, उसके मनोभाव को जान जाते हैं और उसकी अनुकूलता का विधान कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवों के परमपिता के रूप मे वे उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नही करते, अपितु, उनकी मनोरथ-सिद्धि के लिए पूर्ण सुविधा की व्यवस्था करते हैं। यह जिज्ञासा हो सकती है कि सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् जीवों को यह प्राकृत-जगत् भोगने की सुविधा दे कर मायापाश मे गिरने ही क्यो देते है। इसके उत्तर में यह उल्लेखनीय है कि यदि परमात्मा के रूप में श्रीभगवान् ऐसी सुविधा उपलब्ध नही कराते तो जीव की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रहता। इसलिए उन्होने जीवमात्र को स्वेच्छानुरूप आचरण करने की पूरी स्वतन्त्रता दी है। परन्तु 'भगवद्‌गीता' मे उनका अन्तिम आदेश यही है कि मनुष्य को अन्य सब कार्यों को त्यागकर पूर्णरूप से उनकी शरण में आ जाना चाहिए। इसी मे वह सुखी हो सकेगा।

जीवात्मा और देवता, दोनों भगवान् की इच्छा के आधीन है। जीव न तो स्वेच्छापूर्वक देवाराधन कर सकता है और न ही देवता भगवत्-इच्छा के बिना उसे कोई वरदान दे सकते है। जैसा लोकप्रसिद्ध है, भगवान् की इच्छा के बिना पत्ता भी नही हिलता। साधारणतया प्राकृत-जगत् मे विपदा का मारा मनुष्य देवोपासना करता है, जैसा वैदिक शास्त्रो मे निर्देश है। अमुक कामना के लिए अमुक देवताओ की उपासना करे, ऐसा विधान है। उदाहरणस्वरूप, रोगी को सूर्योपासना करनी चाहिए, विद्याकामी को विद्या की देवी सरस्वती का पूजन करना चाहिए, तो सुन्दरी स्त्री की अभीप्सा वाला भगवान् शिव की अर्धांगिनी उमा की आराधना करे। इस प्रकार शास्त्रो में अलग-अलग देवगणों की उपासना का विधान है। जीवमात्र अमुक-अमुक विशेष प्राकृत-सुख चाहता है। अतएव श्रीभगवान् उसे तत्सम्बन्धी देवता से उपयुक्त वरदान प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा से प्रेरित करते है। इस प्रकार वह अभीष्ट वर की प्राप्ति में सफल हो जाता है। किसी देवता में जीव के भक्तिभाव का विधान भी श्रीभगवान् करते हैं, देवता स्वय जीवों को ऐसी बन्धुता से

भावित नही कर सकते। जीवमात्र के हृदय में परमेश्वर अथवा परमात्मा रूप से बैठे श्रीकृष्ण ही जीव को देवोपासना से लिए प्रेरित करते हैं। देवता तो केवल श्रीकृष्ण के विश्वरूप के भिन्न-भिन्न अग हैं, उनमें स्वतन्त्रता का बिल्कुल अभाव है। वेद (तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रथम अनुवाक) में उल्लेख है परमात्मा रूपधारी श्रीभगवान् देवताओ के हृदय मे भी हैं। अतएव वे ही देवताओं के द्वारा जीवो की इच्छा-पूर्ति का विधान करते है। इस प्रकार देवता और जीवात्मा स्वतन्त्र नही हैं, दोनो भगवान् की इच्छा के आधीन हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

अनुवाद

वह उस श्रद्धा से उसी देवता का आराधन करके अपने इच्छित भोगों को प्राप्त करता है। परन्तु वास्तव मे इन भोगों को देने वाला मैं ही हूँ।।२२।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

अनुवाद

परन्तु उन अल्पबुद्धि मनुष्यो को देवोपासना से सीमित और क्षणभगुर फल ही होता है। देवोपासक देवलोको को जाते है, जबकि मेरे भक्त अन्त मे मेरे परम धाम को प्राप्त होते है।।२३।।

तात्पर्य

गीता के कतिपय व्याख्याकारो के अनुसार देवोपासक को भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इस श्लोक से स्पष्ट है कि देवोपासक अपनी उपासना के अनुसार भिन्न-भिन्न देवलोकों को जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, सूर्योपासक सूर्यलोक में प्रवेश करता है तथा चन्द्रोपासक को चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। तदनुरूप, इन्द्रादि देवताओ की उपासना के अभिकाक्षी को वही-वही देवलोक मिल सकता है। यह सत्य नहीं कि किसी भी देवता की आराधना करने से भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इस धारणा के निराकरण के लिए भगवान् ने यहाँ स्पष्ट किया है कि देवोपासकों को यथाधिकार प्राकृत-जगत् के भिन्न-भिन्न लोको की प्राप्ति होती है, जबकि भगवद्भक्त साक्षात् परमलोक—भगवद्धाम को जाते है।

यह तर्क किया जा सकता है कि यदि देवता श्रीभगवान् के विश्व (विराट्) रूप

के अग-प्रत्यंग हैं, तो देवताओं की उपासना से उसी लक्ष्य (श्रीभगवान्) की प्राप्ति हो जानी चाहिए। अपने इस तर्क से देवोपासक निश्चित रूप में अल्पज्ञ सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे इतना भी नहीं जानते कि शरीर के किस अग में भोजन पहुँचना चाहिए। उनमें से अधिक मूढ तो यहाँ तक कहते है कि भोजन ग्रहण करने के योग्य बहुत से अग हैं जिनमें भोजन पहुँचाने की बहुत सी विधियाँ हैं। यह कहना अधिक बुद्धिसगत नही है। क्या कोई कर्णरन्ध्रो अथवा नेत्रों के माध्यम से देह मे भोजन पहुँचा सकता है? साधारण मनुष्य नही जानते कि ये देवता श्रीभगवान् के विराट् रूप के भिन्न-भिन्न अग हैं। इस अज्ञानवश वे प्रत्येक देवता को स्वतन्त्र ईश्वर और परमेश्वर श्रीकृष्ण का प्रतिस्पर्धी मानने की भूल कर बैठते हैं।

देवता ही नहीं, साधारण जीव भी श्रीभगवान् के अंश हैं। श्रीमद्भागवत में कथन है कि ब्राह्मण विश्वरूप श्रीभगवान् के शीर्ष हैं, क्षत्रिय भुजदण्ड हैं, इत्यादि। ये सब भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। वर्ण-स्थिति चाहे कुछ भी हो, जो यह जानता है कि देवता और वह, दोनों श्रीभगवान् के भिन्न-अश हैं, उसका ज्ञान पूर्ण है। जो यह नही जानता, उसे नाना प्रकार के देवलोकों की प्राप्ति होती है। भक्त की गति इससे भिन्न है।

देवताओ के वरदान से मिलने वाले फल नश्वर हैं, क्योंकि इस प्राकृत-जगत् के लोक, देवता और उनके उपासक आदि सभी कुछ अनित्य हैं। इस श्लोक मे स्पष्ट किया गया है कि देवोपासना से उत्पन्न सब फल नश्वर हैं। अतएव इसमें सन्देह नही कि अल्पज्ञ जीव ही देवोपासना करेगा। दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित भक्तियोगी शुद्ध भक्त को सच्चिदानन्दमय जीवन मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि उसकी और साधारण देवोपासकों की उपलब्धियों में गम्भीर अन्तराल है। भगवान् श्रीकृष्ण निरवधि हैं, उनकी करुणा-कृपा की भी अवधि-परिधि नहीं है। अपने शुद्ध भक्तों पर वे नित्य-निरन्तर अशेष कृपा-सुधा-कादम्बिनी का परिवर्षण करते रहते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

अनुवाद

मुझको न जानने वाले बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि मैंने यह रूप और व्यक्तित्व धारण किया है। अपने अल्पज्ञान के कारण वे मेरे परम उत्तम अविनाशी स्वरूप को नहीं जानते।।२४।।

तात्पर्य

पूर्वी श्लोकों में देवोपासकों को अल्पज्ञ कहा गया; इसी प्रकार इस श्लोक में निर्विशेषवादियों को बुद्धिहीन कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वयंरूप में यहाँ अर्जुन को अपने वचनामृत का पान करा रहे हैं; पर फिर भी अज्ञानमोहित निर्विशेषवादी तर्क करते हैं कि अन्तिम रूप में परमेश्वर निराकार हैं। श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा के महियामय भगवद्भक्त यामुनाचार्य ने इस सन्दर्भ में दो बड़े उपयुक्त श्लोकों की रचना की है। वे कहते हैं, ''प्रभो! व्यासदेव, नारद आदि भक्त आपको पुरुषोत्तम भगवान् मानते हैं। वैदिक शास्त्रों से आपके स्वरूप-लक्षणो, रूप, लीलामृत आदि का बोध होता है और यह भी जाना जाता है कि आप स्वय भगवान् हैं। फिर भी रजोगुणी और तमोगुणी अभक्त असुर आपको नहीं समझ पाते, क्योंकि आपके तत्त्व को हृदयगम करने मे वे बिल्कुल असमर्थ हैं। ऐसे अभक्त वेदान्त, उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रो की चर्चा करने मे कितने कुशल क्यों न हो, परन्तु आप के स्वयरूप को नही जान सकते।''

'ब्रह्मसंहिता' के अनुसार वेदान्त का स्वाध्याय करने मात्र मे भगवनत्त्व का ज्ञान होना दुर्लभ है। श्रीभगवान् के निरुपाधिक अनुग्रह के प्रताप मे ही उनके स्वरूप का बोध हुआ करता है। अत· इस श्लोक मे स्पष्ट कहा है कि देवोपासकों के साथ-साथ, जो वेदान्त तथा वैदिक शास्त्रो के सम्बन्ध मे मनोधर्मी करते है, वे सच्ची कृष्णभावना से विहीन अभक्त भी अल्पज्ञ है। इस श्रेणी के व्यक्ति ईश्वर के नराकार पुरुष स्वरूप को कभी नही जान सकते। इसी से परमसत्य को निर्विशेष मानने वालो को असुर कहा है। असुर उसे कहते है जो परमसत्य के परमोच्च स्वरूप को नही जानता। श्रीमद्भागवत की वाणी है कि परमसत्य की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्मरूप से प्रारम्भ होती है, इसके आगे एकदेशीय (अन्तर्यामी) परमात्मा की अनुभूति है। परन्तु परमसत्य की सीमा तो पुरुष रूप श्रीभगवान् ही है। आधुनिक निर्विशेष-वादी तो और भी अधिक अल्पज्ञ है — वे अपने महान् पूर्वगामी शकराचार्य तक का अनुगमन नही करते। शकराचार्य ने विशेष रूप मे श्रीकृष्ण को भगवान् घोषित किया है। पर परम सत्य के तत्त्व को न जानने वाले ये निर्विशेषवादी श्रीकृष्ण को वसुदेव-देवकी का सामान्य पुत्र, राजकुमार अथवा शक्तिशाली जीव बताते हैं। भगवद्गीता में इसकी निन्दा है ''जो मूर्ख है वे मनुष्य ही मुझे साधारण व्यक्ति समझते हैं।'' वास्तव में भक्तियोग का आचरण तथा कृष्णभावनामृत का विकास किए बिना किसी को भी श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। गीता इसका प्रमाण है।

मनोधर्म के द्वारा अथवा वैदिक शास्त्रों पर वार्तालाप करने मात्र से भगवान्

श्रीकृष्ण को अथवा उनके रूप, चिद्गुण, नामादि को नही जाना जा सकता। उनका ज्ञान केवल विशुद्ध भक्तियोग से हो सकता है। **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के कीर्तन से भक्तियोग मे प्रवृत्त हो कर जो पूर्ण रूप से कृष्णभावना मे निरत हो गया है, वह पुरुष ही श्रीभगवान् को तत्त्व से जान सकता है। अभक्त निर्विशेषवादियो की धारणा मे श्रीकृष्ण का विग्रह माया-निर्मित है और उनके सब लीला-विलास, रूप आदि तत्त्व भी मायिक है। अपनी इसी मान्यता के कारण ये निर्विशेषवादी 'मायावादी' कहलाते हैं। ये परम सत्य को नही जानते।

बीसवे श्लोक मे स्पष्ट कहा है—'जो कामनाओ मे अंधे हो गए है, वे मनुष्य ही विभिन्न देवताओ की उपासना मे प्रवृत्त होते है।' यह स्वीकृत तथ्य है कि श्रीभगवान् के अतिरिक्त ऐसे बहुत से देवता है जिनके अपने-अपने लोक है (भगवद्गीता ७.२३), और श्रीभगवान् का भी अपना निज धाम है। यह भी उल्लेख्य है कि देवोपासक भिन्न-भिन्न देवलोको मे गमन करते है, जबकि कृष्णभक्त परमधाम कृष्णलोक को जाते है। इन स्पष्ट वाक्यो के होते हुए भी मूढ निर्विशेषवादियो का हठ है कि परमेश्वर निराकार है और ये सब भगवत्-रूप आरोपण मात्र है। क्या गीता के स्वाध्याय से लगता है कि देवता और उनके लोक निर्विशेष है? स्पष्ट है कि न तो देवता निराकार है और न भगवान् श्रीकृष्ण ही निराकार है। वे सभी सविशेष-साकार है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है और उनका अपना लोक है, जैसे देवताओ के भी अपने-अपने लोक है।

अस्तु, अद्वैतवादियो का यह तर्क सत्य सिद्ध नही होता कि परम सत्य निराकार है, उस पर केवल रूप का आरोपण है। इस श्लोक मे स्पष्ट है कि भगवान पर रूप का आरोपण नही है। गीता मे यह भी स्पष्ट है कि देवताओ और परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप एक साथ विद्यमान है। परन्तु भगवान श्रीकृष्ण के विग्रह मे वैशिष्ट्य है, वे सच्चिदानन्द है। वेदप्रमाण कहता है कि परतत्त्व **आनन्दमय** है, **अभ्यासात्**, अर्थात् स्वरूपत निरवधि चिन्मय गुणो का निधान है। गीता मे स्वयं श्रीभगवान् का कथन है कि अजन्मा होते हुए भी वे प्रकट होते है। पाठक इन सब तथ्यो को गीता मे भलीभाँति हृदयगम करे। श्रीभगवान् को निर्विशेष नही माना जा सकता, क्योकि गीता के वचनो से निर्विशेष अद्वैतवादियो का आरोपणवाद मिथ्या सिद्ध होता है। यह श्लोक प्रमाण है कि परतत्त्व-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का अपना विशिष्ट रूप और व्यक्तित्व है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

अनुवाद

मैं मूढ़ और अल्पज्ञ मनुष्यों के सामने कभी प्रकट नहीं होता; उनके लिए अपनी नित्य योगमाया में छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ यह जगत् मुझ अजन्मा अविनाशी अच्युत को नहीं जानता।।२५।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं स्वय भगवान् पूर्वकाल के, वर्तमान के और भविष्य के सम्पूर्ण घटना-चक्र को जानता हूँ। मैं सब जीवों को जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।।२६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में साकारता-निराकारता के विवाद की स्पष्ट विवेचना है। यदि निर्विशेषवादियो की धारणा के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण माया अर्थात् प्राकृत होते, तो जीव के समान उनका भी देहान्तर होता, जिससे उन्हें भी पिछले जीवन की पूर्ण रूप से विस्मृति हो जाती। कोई भी प्राकृत देहधारी न तो अपने पूर्व जीवन की स्मृति बनाए रख सकता और न ही अपने भावी अथवा वर्तमान जीवन के परिणाम की भविष्यवाणी कर सकता है। भाव यह है कि वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य के घटनाक्रम को नही जानता, सासारिक विकारो से मुक्त हुए बिना कोई भी त्रिकालज्ञ नही हो सकता।

साधारण मनुष्यो से विलक्षण, भगवान् श्रीकृष्ण की स्पष्ट घोषणा है कि वे पूर्ण रूप से जानते हैं कि पूर्व में क्या हुआ, वर्तमान मे क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होगा। चौथे अध्याय में हम देख चुके हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सूर्यदेव विवस्वान् को दिए उपदेश की पूर्ण स्मृति है। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवों के हृदय में परमात्मा के रूप मे हैं, इसलिए जीवमात्र से परिचित हैं। वे जीवमात्र में परमात्मा रूप से तथा इस जगत् के परे वैकुण्ठ-जगत् मे भगवत्स्वरूप मे स्थित है, परन्तु अल्पज्ञ उनको परम पुरुषोत्तम के रूप मे नही जान सकते। श्रीकृष्ण का दिव्य श्रीविग्रह निःसन्देह अविनाशी है। वे सूर्य-तुल्य है और माया ठीक मेघ के समान है। प्राकृत आकाश में सूर्य, नक्षत्र और अनेक लोक हैं। मेघ इन सबको अस्थायी रूप से ढक सकते हैं, परन्तु ऐसा हमें अपनी सीमित

दृष्टि के कारण ही लगता है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि वास्तव मे नही ढकते। ऐसे ही, माया भी श्रीकृष्ण को आवृत नहीं कर सकती। अपनी अतरगा शक्ति के द्वारा वे स्वेच्छा से अल्पज्ञों के सामने नही प्रकट होते। जैसा अध्याय के तीसरे श्लोक मे कहा है, करोडो मनुष्यो मे से कोई एक दुर्लभ व्यक्ति मानव देह की ससिद्धि के लिए प्रयास करता है और ऐसे हजारो सिद्धो मे भी कोई एक ही भगवान् श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानता है। जिसे निर्विशेष ब्रह्म अथवा एकदेशीय परमात्मा की पूर्ण अनुभूति हो गई हो, वह भी कृष्णभावनाभावित हुए बिना भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को नही जान सकता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।।२७।।

अनुवाद

हे भरतवशी अर्जुन! इच्छा-द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो के कारण सब जीव ससार मे मोह को प्राप्त हो रहे है।।२७।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

अनुवाद

परन्तु जिन्होंने पुण्य कर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये है वे द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।।२८।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे दिव्य शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति के अधिकारियो का उल्लेख है। जो पापात्मा, अनीश्वरवादी, मूढ और कपटी है, उन के लिए इच्छा द्वेष आदि द्वन्द्वो का उल्लघन करना बडा कठिन है। जिन्होंने सम्पूर्ण जीवन मे धर्म का आचरण किया है और पुण्यकर्म करते हुए पापो का नाश कर दिया है, वे पुरुष ही भक्तियोग को अगीकार करते है और इस प्रकार शनै-शनै श्रीभगवान् के शुद्ध ज्ञान को पाते हैं। फिर शनै-शनै उन्हे समाधि मे भगवान् का ध्यान होने लगता है। यह शुद्ध सत्त्व मे स्थित होने की विधि है। जीव को मोहमुक्त करने मे समर्थ शुद्ध भक्तो के सत्सग से कृष्णभावनाभावित हो जाने पर यह स्थिति बडी सुलभ हो जाती है।

श्रीमद्भागवत मे कथन है कि यदि मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो नित्य-निरतर भक्तसेवा करे। इसके विपरीत, जो विषयी जीवो का सग करता है, वह

अन्धकारमय भवसमुद्र के पथ पर अग्रसर हो रहा है। महाभागवत जन इसी प्रकार के बद्धजीवों को मायामुक्त करने के लिए वसुधा पर परिव्राजन करते हैं। निर्विशेषवादी नहीं जानते कि 'मैं भगवान् का नित्यदास हूँ,' अपने इस स्वरूप को भुला देना भगवान् के नियम की सबसे गम्भीर अवहेलना है। यह निश्चित है कि अपने स्वरूप में फिर स्थित हुए बिना भगवान् को जानना अथवा उनके भक्तियोग में निष्ठापूर्वक पूर्णरूप से सलग्न होना सम्भव नही है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

अनुवाद

जो जरा-मरण से मुक्ति के लिए यत्नशील है, वे सुधीजन मेरी भक्ति का आश्रय ग्रहण करते है। वे वास्तव में ब्रह्मभुत है, क्योकि वे अध्यात्म और सकाम कर्म के तत्त्व को सम्पूर्ण रूप से जानते है।।२९।।

तात्पर्य

जन्म, मृत्यु जरा और व्याधि आदि विकार जड़ देह को पीड़ित करते है, परन्तु दिव्य देह मे ऐसा नहीं है। दिव्य देह इन चारों विकारों के बिल्कुल मुक्त है। अत सिद्ध दिव्य देह को प्राप्त होकर जो जीव भगवान् का पार्षद बन जाता है और शाश्वत् भक्तियोग का आचरण करता है, वह यथार्थ मे मुक्त है। **अहं ब्रह्मास्मि**:. 'मैं आत्मतत्त्व हूँ।' शास्त्रों का निर्देश है कि अपने को ब्रह्म, अर्थात् आत्मतत्त्व समझे। यह ब्राह्मी धारणा भी भक्तियोग है, जैसा इस श्लोक मे कहा गया है। शुद्धभक्त ब्रह्मभुत हो जाते है, उन्हें प्राकृत-अप्राकृत क्रियाओ का पूर्णज्ञान रहता है।

भगवत्सेवा-परायण चारों प्रकार के अशुद्ध भक्तों की अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है और अहैतुकी भगवत्कृपा से पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर वे भी भगवान् के सग का आस्वादन करते हैं। परन्तु देवोपासकों को परम धाम में श्रीभगवान् का सग कभी नहीं मिलता। अल्पज्ञ ब्रह्मज्ञानी भी श्रीकृष्ण के परम धाम गोलोक-वृन्दावन मे प्रवेश के अधिकारी नही है। एकमात्र कृष्णभावनाभावित क्रिया करने वालो **(माम् आश्रित्य)** को ही यथार्थ में 'ब्रह्म' कहा जा सकता है, क्योंकि श्रीकृष्णलोक की प्राप्ति के लिए वास्तव में वे ही यत्नशील है। इन भक्तों को श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कोई सन्देह नही रहता। अत वे वस्तुतः **ब्रह्म** हैं।

बन्धन-मुक्ति के लिए जो भगवत्-अर्चा-भक्ति अथवा भगवत् ध्यान करते है,

वे श्रीभगवान् के अनुग्रह से ब्रह्म, अधिभूत आदि के तत्त्व को जान जाते हैं। अगले अध्याय में श्रीभगवान् ने यह सब वर्णन किया है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अनुवाद

जो परमेश्वर, अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के रूप में मेरे तत्त्व को जानते है, वे स्थिरचित्त से अन्तकाल में भी मुझ को जान सकते हैं।।३०।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले पुरुष भगवान् के तत्त्वज्ञान के पथ से पूर्ण रूप से कभी नहीं भटक सकते। कृष्णभावनामृत के अलौकिक सत्सग मे यह बोध हो जाता है कि श्रीभगवान् ही अधिभूत एवं अधिदैव हैं। ऐसे दिव्य समागम मे शनै-शनै भगवान् मे विश्वास बढ़ता जाता है। इसलिए कृष्णभावनाभावित पुरुष अन्तकाल मे भी श्रीकृष्ण को नही भूलता। अतएव वह सहज ही भगवद्धाम गोलोक-वृन्दावन में प्रविष्ट हो जाता है।

इस सातवे अध्याय में पूर्ण कृष्णभावनाभावित होने की विधि का विशेष रूप मे प्रतिपादन है। कृष्णभावना का उन्मेष कृष्णभावनाभावित भक्तों के सत्सग से होता है। ऐसा भागवत-सत्सग साक्षात् श्रीभगवान् का सग देने वाला है। फिर भगवत्कृपा से श्रीकृष्ण की परम-ईश्वरता को बोध हो जाता है। साथ ही, यह ज्ञान भी होता है कि जीव वास्तव मे स्वरूप से श्रीकृष्ण का दास है, पर किसी कारणवश श्रीकृष्ण को भूल बैठता है और परिणाम में प्राकृत क्रियाओं के बन्धन में पड़ जाता है। सत्सग द्वारा कृष्णभावना का उत्तरोत्तर विकास करने पर जीव समझता है कि श्रीकृष्ण को भूल बैठने से ही वह माया के नियमो मे बँध गया है। तब वह यह भी समझ सकता है कि यह मनुष्य-शरीर एक ऐसा सुयोग है, जिसके द्वारा कृष्णभावना को फिर उद्भावित किया जा सकता है, अत अहैतुकी भगवत्कृपाकल्लोलिनी मे निमज्जन के लिए इसका पूरा सदुपयोग करना चाहिए।

अध्याय में अनेक तत्त्वों का निरूपण हुआ है—आर्त भक्त, जिज्ञासु भक्त, अर्थार्थी भक्त, ज्ञानीभक्त, ब्रह्मज्ञान, परमात्मज्ञान, जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्ति एव भगवद्भक्ति आदि का यहाँ विवेचन किया गया। परन्तु जो वास्तव में कृष्णभावनाभावित हो गया है, उस पुरुष को अन्य पद्धतियों की अपेक्षा नही रहती। वह पूर्ण रूप से साक्षात् कृष्णभावनाभावित क्रियाओ के परायण होकर श्रीकृष्ण के नित्यदास

के रूप मे अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में वह भगवत्कथा के श्रवण तथा कीर्तन मे ही निरन्तर शुद्धभक्ति का आस्वादन करता है। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि केवल इतना करने से उसकी सर्वाभीष्ट सिद्धि हो जायगी। इस निश्चयात्मिका श्रद्धा को **दृढव्रत** कहा जाता है और यही भक्तियोग का प्रारम्भ है—ऐसा सम्पूर्ण शास्त्रो का निर्णय है। गीता का सातवाँ अध्याय इसी निश्चय का मूर्त सार-सर्वस्व है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये सप्तमोऽध्यायः।।



अक्षरब्रह्मयोग

(भगवत्प्राप्ति)

अर्जुन उवाच।
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने जिज्ञासा की, हे देव! हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म का क्या स्वरूप है? यह भौतिक सृष्टि क्या है? तथा अधिदैव क्या है? कृपया कहिये।।१।।

तात्पर्य

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के **किं तद्ब्रह्म** ? आदि प्रश्नों का समाधान किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने कर्म, भक्ति, योगविधि और विशुद्ध भक्तियोग का भी वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीन रूपों में जाना जाता है। इसके अतिरिक्त, जीवात्मा

को भी ब्रह्म कहते हैं। अर्जुन ने 'आत्मा' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है। वैदिक शब्दकोष के अनुसार 'आत्मा' शब्द प्रसंगानुसार मन, आत्मा, देह तथा इन्द्रियों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को **पुरुषोत्तम** कहा, क्योंकि वह उन्हें केवल अपना सखा समझ कर नहीं, अपितु निर्णायक उत्तर देने मे समर्थ परम प्रमाण पुरुषोत्तम जानकर जिज्ञासा कर रहा है।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

अनुवाद

हे मधुसूदन! यज्ञपुरुष इस शरीर में कैसे है और किस अंग के निवासी है? तथा भक्तियोगी अन्तकाल मे आपको कैसे जान सकते है?।।२।।

तात्पर्य

यज्ञाधिपति (अधियज्ञ) का अर्थ विष्णु भी हो सकता है और इन्द्र भी। श्रीविष्णु ब्रह्मा-शिवादि सब देवों के आदिदेव है तथा इन्द्र प्रधान देवता हैं। इन्द्र और विष्णु, दोनों की यज्ञों द्वारा आराधना की जाती है। यहाँ अर्जुन की जिज्ञासा है कि वास्तव मे **अधियज्ञ** कौन है तथा जीव की देह मे किस प्रकार से है।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को **मधुसूदन** सम्बोधित किया है, यह स्मरण कराने के लिए कि एक समय उन्होंने मधु दैत्य का संहार किया था। वास्तव मे अर्जुन के चित्त मे इन सब संदेहात्मक प्रश्नों को नहीं उठना चाहिए था, क्योंकि वह कृष्णभावनाभावित है। इसलिये ये सन्देह असुरो के समान है और श्रीकृष्ण असुर संहार मे अति कुशल है। अर्जुन ने उन्हें यहाँ **मधुसूदन** कहकर पुकारा, जिससे वे उसके चित्त के सन्देह रूपी असुरों को नष्ट कर दे।

इस श्लोक मे **प्रयाणकाले** पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम जीवनभर जो कुछ भी करते है, उसकी अन्तकाल मे परीक्षा होती है। अर्जुन को भय है कि जो कृष्णभावनाभावित है, वे भी मृत्यु-समय श्रीभगवान् को भूल सकते है। कारण, उस काल मे देह के सब कार्य रुक जाते हैं और मन भयरूप मोह मे अति व्याकुल हो उठता है। इसी कारण महाभागवत कुलशेखर महाराज की प्रार्थना है, 'प्रभो! इस स्वस्थ अवस्था मे ही मेरी तुरन्त मृत्यु हो जाय, जिससे मेरा मन रूपी राजहंस सुगमता से आपके चरणारविन्द की कर्णिका मे प्रवेश कर सके।'' यहाँ राजहंस के रूपक का उल्लेख इसलिये है कि प्रायः कमलकर्णिका मे प्रवेश करके हंस आनन्दित होता है। शुद्ध भक्त का चित्त भी श्रीभगवान् के चरणारविन्द मे प्रवेश करने को सदा

आतुर रहता है । महाराज कुलशेखर को भय है कि अन्त समय मे उनका कण्ठ कफ और वात से इतना अधिक स्तंभित हो जायगा कि वे भगवन्नाम का कीर्तन भी नही कर सकेंगे। इसलिए इस समय जबकि शरीर सब प्रकार से स्वस्थ है, देह को त्याग देना श्रेयस्कर होगा। अर्जुन की जिज्ञासा है कि ऐसे अवसरो पर किस साधन से मन कृष्णचरणाम्बुज में निश्चल रह सकता है।

श्रीभगवानुवाच ।
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३ ।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, अविनाशी जीवात्मा को ब्रह्म कहते है, उसका नित्य स्वभाव अध्यात्म है और इन प्राकृत देहो की सृष्टिरूप कार्य कर्म कहलाता है।।३।।

तात्पर्य

ब्रह्म का स्वरूप अविनाशी, नित्य और अव्यय (अविकारी) है। परन्तु इस ब्रह्म से परे परब्रह्म भी है। **ब्रह्म** शब्द से जीवात्मा निर्दिष्ट है, जबकि **परब्रह्म** शब्द स्वय भगवान् का वाचक है । जीव का स्वरूप उस स्थिति से भिन्न है जो उसने जगत् मे ग्रहण कर रखी है । मोहावस्था मे वह प्रकृति पर प्रभुत्व करने का प्रयास करता है, परन्तु दिव्य कृष्णभावना से भावित हो जाने पर केवल भगवत्सेवा करना चाहता है। मायामोहित जीव संसार मे विभिन्न देह धारण करने को बाध्य है। इसी का नाम **कर्म** अथवा मोहमयी विषयैषणा से उत्पन्न होने वाली नानाविध सृष्टि है।

वैदिक शास्त्रो मे जीवात्मा को ब्रह्म कहा है, उसके लिए **परब्रह्म** सज्ञा का प्रयोग कही नही है । जीवात्मा नाना स्थितियाँ ग्रहण करता है—कभी माया के अन्धकारमय अवगाह मे निमज्जित होकर जड-तत्त्व को अपना स्वरूप मान बैठता है तो कभी पराशक्ति को । इसी कारण उसे श्रीभगवान् की 'तटस्था शक्ति' कहा गया है । अपरा अथवा परा प्रकृति मे स्थिति के अनुसार उसे क्रमश पांचभौतिक अथवा अप्राकृत देह मिलती है । अपरा प्रकृति मे ८४,००,००० योनियो मे से कोई देह मिल सकती है, जबकि परा प्रकृति मे एक ही प्रकार का दिव्य शरीर मिलता है। अपरा प्रकृति मे वह कर्मानुसार देव, पशु पक्षी आदि किसी एक शरीर मे जाता है। प्राकृत स्वर्गादि लोकों में पहुँचकर उनमे उपलब्ध विषयसुख के उपभोग के लिए वह कभी-कभी यज्ञ करता है, पर पुण्य के क्षीण हो जाने पर मानव योनि मे पृथ्वी पर फिर से लौटना पडता है।

यज्ञपद्धति मे जीवात्मा अभीष्ट लोक की प्राप्ति के लिए विशिष्ट यज्ञ करता है और फलस्वरूप अपने इच्छित लोक में पहुँच जाता है। फिर यज्ञजन्य पुण्य के समाप्त हो जाने पर वह वर्षा के रूप में पृथ्वी पर उतर कर अन्न का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य उस अन्न को खा कर वीर्य में परिणत कर देता है, जिससे स्त्री में गर्भाधान होता है। इस प्रकार, जीवात्मा फिर मनुष्य-शरीर धारण कर यज्ञ करता है। यह चक्र इसी प्रकार चल रहा है। परिणामस्वरूप जीव जन्म-मृत्यु रूप भवबन्धन में ही भटकता रहता है। परन्तु जो कृष्णभावनाभावित है, वह ऐसे यज्ञों को नहीं करता, वह सीधे-सीधे कृष्णभावना का अंगीकार कर लेता है और इस विधि मे भगवद्धाम को फिर लौटने के लिए कटिबद्ध रहता है।

गीता के निर्विशेषवादी व्याख्याकारो का अयुक्तियुक्त पूर्वाग्रह है कि प्राकृत-जगत् में परब्रह्म ने जीवत्व धारण कर लिया है। इसको प्रमाणित करने के लिए वे गीता के पन्द्रहवे अध्याय के सातवे श्लोक को उद्धृत करते है। परन्तु इस श्लोक में भी जीव को **ममैवांशो**, अर्थात् **श्रीभगवान का नित्य भिन्न-अंश** कहा गया है। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश जीव संसार मे गिर सकता है, पर अच्युत कहलाने वाले परमेश्वर श्रीकृष्ण का पतन कभी नही होता। अतः इस धारणा को स्वीकार नही किया जा सकता कि परब्रह्म जीवरूप ग्रहण करते है। स्मरणीय है कि वैदिक शास्त्रो में ब्रह्म (जीवात्मा) और परब्रह्म (परमेश्वर श्रीभगवान्) में स्पष्ट भेद है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

अनुवाद

नित्य परिवर्तनशील प्रकृति अधिभूत है, विराट् पुरुष अधिदैव है और हे देहधारियो मे श्रेष्ठ अर्जुन! जीवमात्र के हृदय में रहने वाला मै ही अधियज्ञ हूँ।।४।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

अनुवाद

जो कोई अन्तकाल मे मेरा स्मरण करता हुआ देह को त्यागता है, वह तत्काल मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।।५।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

अनुवाद

जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए जीव देह को त्यागता है, उस उसको ही निःसन्देह प्राप्त होता है, क्योंकि वह जीवन में सदा उसी भाव से भावित रहा है।।६।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।७।।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! तू मेरे कृष्णरूप का निरन्तर चिन्तन कर और साथ-साथ युद्धरूपी स्वधर्म का आचरण भी कर। इस प्रकार अपनी क्रियाओं को मेरे अर्पण करके मन-बुद्धि को मुझमें एकाग्र करने से तू निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा।।७।।

तात्पर्य

अर्जुन को भगवान् का यह उपदेश सभी लौकिक कर्मपरायण मनुष्यों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीभगवान् ने स्वधर्म-त्याग का आदेश नहीं दिया है। कर्तव्य-पालन किया जा सकता है, परन्तु साथ ही **हरेकृष्ण** महामन्त्र का जप करते हुए श्रीकृष्ण का स्मरण रखना चाहिए। इससे सांसारिक दोषों से मुक्ति हो जायगी और मन-बुद्धि श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो जायेंगे। कृष्णनाम-सकीर्तन करने से निःसन्देह परमधाम कृष्णलोक की प्राप्ति हो जाती है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

अनुवाद

हे पार्थ (अर्जुन)! जो पुरुष अनन्य चित्त से निरन्तर परम पुरुष के स्मरण का अभ्यास करता है, वह निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होता है।।८।।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

अनुवाद

उन परम पुरुषोत्तम का ध्यान करे जो सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता और शिक्षक, अणु से भी सूक्ष्म, सर्वपालक, जगत् से परे अचिन्त्य पुरुष हैं। वे सूर्य के समान तेजोमय और

दिव्यस्वरूप है—इस भौतिक प्रकृति से परे है।।९।।

तात्पर्य

यहाँ अनन्य भगवच्चिन्तन करने की पद्धति का प्रतिपादन है। सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि परमेश्वर निर्विशेष अथवा शून्य नहीं है। निर्विशेष अथवा शून्य वस्तु कभी ध्यान का विषय नहीं हो सकती। निर्विशेष अथवा शून्य का ध्यान करना बहुत कठिन होगा। परन्तु श्रीकृष्ण का स्मरण अतिशय सुगम है, जैसा इस श्लोक में स्पष्ट कहा है। इसलिए सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि भगवान् राम-कृष्ण आदि रूपों में दिव्य पुरुष हैं। उन्हें **कविम्** कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे त्रिकालज्ञ हैं। सबके आदि होने के कारण **पुराण** हैं, प्रत्येक वस्तु का उद्भव उन से हुआ है। वे ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता हैं और मानवता के परिपालक तथा उपदेष्टा भी हैं। वे अणु से भी सूक्ष्मतर हैं। जीवात्मा केश की नोक के १०,०००वें भाग के बराबर है, परन्तु प्रभु की सूक्ष्मता इतनी अचिन्त्य है कि वे इस जीवाणु के हृदय में भी प्रविष्ट रहते हैं। अतः उन्हें **अणोरणीयासम्** कहा गया है। इतने सूक्ष्म होने पर भी वे सर्वव्यापक एवं सर्वपालक हैं और सब लोकों को धारण करते हैं। हमें प्रायः आश्चर्य होता है कि ये बृहत्काय लोक अन्तरिक्ष में किस प्रकार स्थिर हैं। यहाँ उल्लेख है कि अपनी अचिन्त्य-शक्ति द्वारा श्रीभगवान् इन भीमकाय लोकों तथा नक्षत्रों को धारण कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में **अचिन्त्य** शब्द महत्त्वपूर्ण है। हमारी धारणा तथा चिन्तन-परिधि से परे होने के कारण भगवत्-शक्ति को **अचिन्त्य** कहा जाता है। इस सन्दर्भ में कोई तर्क क्या करेगा? प्राकृत-जगत् में व्याप्त होने पर भी प्रभु इससे सर्वथा परे हैं। हमारे लिए तो यह पूरा जगत् भी, जो भगवद्धाम् की तुलना में नगण्य है, बुद्धिगम्य नहीं, फिर इससे परे का तत्त्व क्योंकर तर्क का विषय होगा? **अचिन्त्य** शब्द उस तत्त्व का वाचक है, जिसका हमारे तर्क, न्याय-युक्ति तथा दार्शनिक मनोधर्म आदि स्पर्श तक नहीं कर सकते। अतः सुधीजनों को चाहिए कि निरर्थक तर्क और मनोधर्म करने के स्थान पर वेद, गीता, श्रीमद्भागवत, आदि शास्त्रों के कथन को प्रमाण मानकर उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण करें। इस साधन से ज्ञानप्राप्ति हो जायगी।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

अनुवाद

जो पुरुष अन्तकाल में अपने प्राणों को भृकुटी के मध्य में स्थापित करके पूर्ण भक्तिभाव से भगवत्स्मरण करता है, वह निःसन्देह श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है।।१०।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

अनुवाद

ओकार का उच्चारण करने वाले वेदवादी विद्वान और अनासक्त महर्षि जिस ब्रह्म मे प्रवेश करते है, जिस ससिद्धि के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का सेवन किया जाता है, तेरे लिए अब मै उसी मुक्तिपथ का वर्णन करूँगा।।११।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

अनुवाद

इन्द्रियक्रियाओ की निवृत्ति को योगधारणा कहा जाता है। सम्पूर्ण इन्द्रियद्वारो को विषयो से हटाकर जो मन को हृदय मे तथा प्राणवायु को मस्तक में स्थापित करता है वह मेरे ध्यानरूप योग में स्थित हो जाता है।।१२।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

अनुवाद

इस योगधारणा मे स्थित होकर अक्षरब्रह्म पवित्र ओंकार के उच्चारण के साथ जो मेरा स्मरण करते हुए देह त्यागता है, वह निःसन्देह भगवद्धाम को प्राप्त होता है।।१३।।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

अनुवाद

जो नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा स्मरण करता है, उस के लिए हे अर्जुन ! मै सुलभ हूँ, क्योंकि वह नित्य मेरे भक्तियोग के परायण रहता है।।१४।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

अनुवाद

मुझ को प्राप्त हुए भक्तियोगी महात्माजनों का इस दुःखों से भरे अनित्य जगत्

में फिर जन्म नहीं होता, क्योंकि वे परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।।१५।।

तात्पर्य

यह अनित्य प्राकृत-जगत् जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिरूप दुःखों से पूर्ण है। इसलिए यह स्वाभाविक सा है कि जो पुरुष परम संसिद्धि-लाभ करके परमधाम कृष्णलोक, गोलोक वृन्दावन को प्राप्त हो गया है, वह वहाँ लौटने की इच्छा नहीं करता। वैदिक शास्त्रों के अनुसार परमधाम हमारी प्राकृत धारणा से अति परे है, वही परम लक्ष्य है। महात्माजन भगवत्प्राप्त भक्तों के मुखारविन्द से निस्यन्दित भगवत्-कथामृत को कर्णपुटों से पीकर क्रमशः कृष्णभावनाभावित भक्तियोग का विकास करते हैं। इस प्रकार वे भगवत्सेवा में इतने निमग्न रहते हैं कि किसी उच्च लोक अथवा परव्योम में जाने की इच्छा उनके मन में कभी नहीं उठती। उन्हें नित्य श्रीकृष्ण के सान्निध्य की ही अभिलाषा रहती है; वे और कुछ नहीं चाहते। इस कोटि के कृष्णभावनाभावित महात्मा जीवन की परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव वे परम श्रेष्ठ हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! प्राकृत जगत् में सबसे ऊपर ब्रह्मलोक से लेकर नीचे तक सब के सब लोक बारम्बार जन्म-मृत्यु रूपी क्लेश से पूर्ण हैं। परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता।।१६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश करके संसार में कभी न लौटना पड़े, इसके लिए कर्म, ज्ञान हठ आदि अन्य सब योगों का अभ्यास करने वालों को भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत की परम संसिद्धि को प्राप्त करना आवश्यक है। परमोच्च प्राकृत लोक अथवा देवलोकों में प्रवेश करने वाले भी जन्म-मृत्यु के चक्र के आधीन बने रहते हैं; उससे मुक्त नहीं हो पाते। जिस प्रकार पृथ्वीवासी उच्च लोकों को जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म, चन्द्र, इन्द्र आदि उच्च लोकों के निवासियों का इस लोक में पतन होता है। 'कठोपनिषद्' मे उल्लिखित 'पञ्चाग्नि विद्या' द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है; परन्तु यदि ब्रह्मलोक में कृष्णभावनामृत का अनुशीलन नहीं किया जाय तो कुछ काल बाद पृथ्वी पर फिर लौटना होगा। जो उच्च लोको में कृष्णभावनामृत का आचरण करते है, वे उत्तरोत्तर उच्चलोकों को जाते हैं और फिर महाप्रलय होने पर नित्य

भगवद्धाम पहुँचते हैं। इसी प्रकार प्राकृत-जगत् में प्रलय हो जाने पर ब्रह्मा और उनके भक्त, जो निरन्तर कृष्णभावना-परायण हैं, परव्योम में पहुँचकर इच्छानुसार वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश करते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

अनुवाद

मानवीय गणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन की अवधि एक हजार चतुर्युग है और इतनी ही बड़ी उसकी रात्रि है॥१७॥

तात्पर्य

प्राकृत ब्रह्माण्ड की अवधि परिमित है। इसका प्राकट्य कल्पचक्र में होता है। ब्रह्मा का एक दिन 'कल्प' कहलाता है। इस एक कल्प में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चारों युग एक हजार बार व्यतीत हो जाते है। सत्ययुग के लक्षण हैं सदाचार, बुद्धिमानी और धर्म, अज्ञान और पाप का अत्यन्त अभाव। यह युग १७,२८,००० वर्ष तक रहता है। त्रेता में पापकर्म होने लगता है। इस युग की अवधि १२,९६,००० वर्ष है। द्वापर में धर्म का ह्रास बढ़ जाता है और अधर्म का अभ्युत्थान हुआ करता है। इस युग की अवधि ८,६४,००० वर्ष है। सबके अन्त में कलियुग (जिसका हम पिछले ५,००० वर्ष से अनुभव कर रहे हैं) आता है। इसमें कलह, अज्ञान, अधर्म और पापाचार का प्राबल्य रहता है तथा यथार्थ धर्माचरण प्राय लुप्त हो जाता है। इस युग का काल ४,३२,००० वर्ष है। कलियुग मे अधर्म इतना अधिक बढ़ता है कि युग के अन्त में श्रीभगवान् स्वयं कल्कि अवतार ग्रहण कर दैत्यों का मर्दन और निज भक्तों का परित्राण करके नये सत्ययुग का सूत्रपात करते हैं। स्रष्टा ब्रह्मा के एक दिन में ये चारों युग एक-एक हजार बार व्यतीत हो जाते हैं। ब्रह्मा की रात्रि भी इतनी ही बड़ी है। इतने बड़े दिन-रात वाले सौ वर्ष तक जीवन-धारण करके ब्रह्मा का निधन हो जाता है। ये 'सौ वर्ष' पृथ्वी के ३१,१०,००,०४,००,००,००० वर्षों के तुल्य हैं। इस गणना के अनुसार, ब्रह्मा की आयु विलक्षण और कभी न समाप्त होने वाली प्रतीत हो सकती है; पर नित्यता की दृष्टि से तो वह बिजली के कौंधने के समान ही है। आन्ध्र महासागर के बुद्बुदों के समान कारण-समुद्र में असंख्य ब्रह्माओं का नित्य उदय-विलय होता रहता है। प्राकृत-जगत् के अंश —ब्रह्मा और उसकी सृष्टि नित्य परिवर्तनशील हैं।

प्राकृत-जगत् मे ब्रह्मा तक जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के चक्र से मुक्त नहीं

है। फिर भी, इस जगत् की व्यवस्था के रूप में साक्षात् भगवत्सेवा करने से ब्रह्मा की सद्योमुक्ति हो जाती है। उच्च संन्यासी ब्रह्मा के उस विशिष्ट ब्रह्मलोक को जाते हैं, जो प्राकृत-जगत् में सर्वोच्च है और जो अन्य स्वर्गीय लोकों का विनाश हो जाने पर शेष रहता है। परन्तु भौतिक प्रकृति के नियमानुसार, ब्रह्मा और ब्रह्मलोक के सारे निवासियों की भी यथासमय मृत्यु हो जाती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके।।१८।।

अनुवाद

ब्रह्मा के दिन के आने पर यह जीव-समूह अव्यक्त से प्रकट होता है और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर फिर उसी में लय हो जाता है।।१८।।

तात्पर्य

अल्पज्ञ जीव इसी संसार में रहने के लिये यत्न किया करते हैं; फलस्वरूप नाना लोकों में उनका क्रमशः उत्थान-पतन होता रहता है। वे ब्रह्मा के दिन में अपने कार्य-कलापों को प्रकट करते हैं और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर पुनः अव्यक्त में उनका विलय हो जाता है। ब्रह्मा के दिन में उन्हें विविध कलेवरों की प्राप्ति होती है और रात्रि होने पर ये कलेवर नष्ट हो जाते हैं। इस समय जीव श्रीविष्णु के वपु में रहते हैं। ब्रह्मा के दिवस की आवृत्ति के साथ वे फिर अभिव्यक्त हुआ करते हैं। ब्रह्मा के जीवन-काल की समाप्ति होने पर वे सभी विलीन होकर करोड़ों वर्ष तक अव्यक्त रहते हैं। फिर अगले युग में ब्रह्मा का पुनर्जन्म होता है और वे भी फिर से व्यक्त होते हैं। इस प्रकार जीव प्राकृत-जगत् में बद्ध बना रहता है। परन्तु जो सुधीजन कृष्णभावनामृत को अंगीकार कर भक्तियोग के साथ हरे कृष्ण हरे राम कीर्तन करते हैं, वे इसी जीवन में श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश करके पुनर्जन्म से रहित सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त कर लेते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

अनुवाद

वही यह जीव-समुदाय प्रकट हो-होकर रात्रि के आने पर लय होता है और दिन के आने पर कर्म के वश हुआ फिर व्यक्त होता है।।१९।।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

अनुवाद

इस व्यक्त-अव्यक्त होने वाली जड़ प्रकृति से परे एक अन्य सनातन प्रकृति भी है, जो परा और अविनाशी है। इस संसार के नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता।।२०।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

अनुवाद

वह परमधाम अव्यक्त अक्षर कहलाता है और वही परम गति है। जहाँ जाने वाला संसार में फिर नहीं आता, वही मेरा परमधाम है।।२१।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम को 'ब्रह्मसंहिता' में **चिन्तामणिधाम** कहा गया है, जहाँ सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। गोलोक-वृन्दावन नामक श्रीकृष्ण का परमधाम चिन्तामणि से रचित प्रासादों से परिपूर्ण है। वहाँ के वृक्ष कल्पतरु हैं, जो इच्छा करने मात्र से कोई भी पदार्थ दे सकते हैं, वहाँ की 'सुरभि' गायें अपरिमित मात्रा में दुग्धामृत प्रदान करती हैं। इस धाम में प्रभु सहस्रों लक्ष्मियों द्वारा सेवित हैं। वे सब कारणों के कारण आदिपुरुष 'गोविन्द' नाम से जाने जाते हैं। श्रीकृष्ण विदग्ध वेणुवादन-निरत हैं (**वेणुं क्वणन्तम्**)। उनका दिव्य श्रीविग्रह त्रिभुवन में परमाकर्षक है—नयन कमलदल के तुल्य है और विग्रह का वर्ण है नवोदित घनश्याम। उनकी सुरम्यागता कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्प-दलन है। वे शरीर पर पीताम्बर, कण्ठ में वैजयन्ती माला एवं केशराशि में मोरमुकुट धारण किए हुए हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने परव्योम के परमलोक—अपने निजधाम (गोलोक-वृन्दावन) का दिग्दर्शन मात्र कराया है। परन्तु 'ब्रह्मसंहिता' में उसका विशद वर्णन है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार भगवद्धाम से उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है, इसलिए वही परमगति है। उसमें प्रविष्ट प्राणी प्राकृत-जगत् में फिर कभी नहीं आता। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के परमधाम में भेद नहीं है, दोनों समान दिव्यगुणों से युक्त हैं। इस पृथ्वी पर, दिल्ली से नब्बे मील दक्षिण-पूर्व में स्थित वृन्दावन परव्योम के उसी गोलोक-वृन्दावन का प्रतिरूप है। श्रीकृष्ण ने धराधाम पर अवतरित होकर इस वृन्दावन धाम में दिव्य लीलारस का परिवेषण किया था।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

अनुवाद

वे परम पुरुष भगवान् अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं। अपने परमधाम में विराजमान होते हुए भी वे सर्वत्र व्याप्त है और सभी कुछ उन मे स्थित है।।२२।।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

अनुवाद

हे भारत! अब मैं तेरे लिए उन दोनों कालों का वर्णन करूँगा जिनमें से एक में तो ससार से प्रयाण करने पर ससार में फिर आना होता है और दूसरे में जाने पर ससार में फिर जन्म नहीं होता।।२३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् के पूर्ण शरणागत अनन्यभक्तो को यह चिन्ता नही सताती कि उनका देह-त्याग किस समय होगा अथवा किस प्रकार से होगा। वे सब कुछ श्रीकृष्ण की इच्छा पर छोड़ देते हैं और इस प्रकार सुखपूर्वक भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु जो अनन्य भक्त नहीं हैं, जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग आदि अन्य साधनों पर निर्भर हैं, उनके लिए आवश्यक है कि किसी उपयुक्त काल में देहत्याग करे, जिससे उन्हे यह निश्चय रहे कि जन्म-मृत्युमय संसार मे उन्हें फिर नहीं आना पड़ेगा।

सिद्ध योगी इच्छा के अनुसार ससार से जाने के देश-काल को चुन सकता है। परन्तु जो सिद्ध नहीं हुआ है, उसे प्रकृति के इच्छानुसार देह-त्याग करना होगा। श्रीभगवान् ने इस प्रकरण मे उस काल का वर्णन किया है, जो आवागमन से मुक्ति के लिए सब से उपयुक्त है। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के अनुसार यहाँ प्रयुक्त काल शब्द कालाभिमानी देवता का वाचक है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

अनुवाद

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि का अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में देह को त्याग कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।।२४।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

अनुवाद

और जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि का अभिमानी देवता है, कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः मासों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में गया योगी चन्द्रलोक को प्राप्त होकर संसार में फिर आता है।।२५।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

अनुवाद

वेदो के मत में इस जगत् से प्रयाण करने के—शुक्ल (प्रकाश) और कृष्ण (अन्धकार), यही दो मार्ग हैं। शुक्ल-गति से गए हुए का पुनरागमन नही होता और अन्धकारमय गति से प्रयाण करने वाला संसार में फिर आता है।।२६।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

अनुवाद

इन दोनो मार्गों के तत्त्व को जानकर भक्त कभी मोहित नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन! तू सदा भक्तियोग से युक्त हो।।२७।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अर्जुन को परामर्श देते हैं कि वह इस बात से चिन्तित न हो कि प्राकृत-जगत् को त्याग कर जाता हुआ जीवात्मा इनमें से किसी भी मार्ग को ग्रहण कर सकता है। भगवद्भक्त को यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि संसार से उसका प्रयाण उसकी अपनी इच्छा के अनुसार होगा अथवा दैवयोग से होगा । उसे तो बस सदा कृष्णभावना मे दृढ़तापूर्वक निष्ठ रहकर **हरे कृष्ण** जप-कीर्तन करते रहना चाहिए। वह यह जान ले कि इनमें से किस मार्ग की प्राप्ति होगी, यह चिन्ता केवल दुःख का कारण है। कृष्णभावनाभावित होने का सर्वोत्तम साधन भगवत्सेवामृत में तन्मय हो जाना है। इससे भगवद्धाम-प्राप्ति का पथ निरापद, निश्चित और प्रत्यक्ष हो जायगा। श्लोक में आया **योगयुक्त** पद विशेष रूप से सारगर्भित है। जो योग में दृढ़ है, उसकी सब क्रियायें कृष्णभावनाभावित होती हैं। श्रील रूप गोस्वामिचरण का सदुपदेश है कि जगत् में अनासक्त रहे, और सम्पूर्ण कार्य-कलाप कृष्णभावनाभावित हों। इस रीति से

परमसिद्धि सुलभ हो जाती है। अतएव इस सब विवरण से भक्त कभी चिन्तित नहीं होता। वह जानता है कि भक्तियोग के प्रताप से भगवद्धाम में उसका प्रवेश निश्चित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

अनुवाद

भक्तियोगी वेद-स्वाध्याय, तप, यज्ञ, दान तथा दार्शनिक-सकाम क्रियाओं के सम्पूर्ण पुण्यफल का उल्लंघन कर अन्त में मेरे अनादि परम धाम को प्राप्त हो जाता है।।२८।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये अष्टमोऽध्यायः।।

अथ नवमोऽध्यायः



राजविद्याराजगुह्ययोग

(परम गोपनीय ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच ।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तुझ ईर्ष्यारहित शुद्धभक्त के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार के क्लेशों से मुक्त हो जायगा।।१।।

तात्पर्य

भक्त भगवान् की कथा को जितना अधिक सुनता है, उतना ही प्रबुद्ध होता जाता है। इस श्रवण-पद्धति की महिमा का श्रीमद्भागवत में गान है, 'श्रीभगवान् की कथा दिव्य शक्तियों से पूर्ण है, जिनकी अनुभूति भक्तों की गोष्ठी में उत्सुकतापूर्वक भगवत्कथा का श्रवण-कीर्तन करने से होती है। मनोधर्मियों अथवा लौकिक विद्वानों के

संग से इस विज्ञान को नहीं जाना जा सकता।'

भगवद्भक्त नित्य-निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। कृष्णभावना-परायण जीव के मनोभाव और निष्कपटता को जानने वाले श्रीभगवान् उसे वह बुद्धि देते हैं, जिससे वह भक्तों के संग में उनके तत्त्व को हृदयंगम कर ले। श्रीकृष्ण-विषयक चर्चा में अलौकिक शक्ति है। यदि किसी सौभाग्यशाली को ऐसा सत्संग सुलभ है और वह इस ज्ञान के लिए प्रयत्नशील है, तो भगवत्प्राप्ति के पथ में उसकी प्रगति निश्चित है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी सर्वसमर्थ सेवा के उत्तरोत्तर उत्तम स्तर को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस नौवें अध्याय में उस रहस्य का वर्णन किया है, जो सम्पूर्ण पूर्व विषय से अधिक गोपनीय है।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रन्थ का उपोद्घात है। दूसरे और तीसरे अध्याय में आये मोक्षोपयोगी ज्ञान को **गुह्य** (गोपनीय) कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय का विषय विशेष रूप से भक्तियोग से सम्बन्धित है। कृष्णभावनामृत का प्रकाशक होने से यह प्रकरण **गुह्यतर** (अधिक गोपनीय) है। परन्तु नौवें अध्याय में तो केवल शुद्धभक्ति का वर्णन है। इसलिए यह अध्याय **परम गुह्यतम्** (परम गोपनीय) है। श्रीकृष्ण के परम गोपनीय ज्ञान से युक्त महानुभाव निस्सन्देह प्रकृति से परे हो जाता है; प्राकृत जगत् में रहते हुए भी उसे कोई सांसारिक दु:ख नहीं सताता। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कथन है कि जो पुरुष वास्तव में सदा श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा के लिए उत्कण्ठित रहता है, वह संसार-बन्धन में प्रतीत होने पर भी वास्तव में मुक्त है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि जो इस प्रकार भक्तियोग के परायण है, वह पुरुष जीवन्मुक्त है।

इस प्रथम श्लोक का विशेष महत्त्व है। **इदं ज्ञानम्** का अभिप्राय शुद्ध भक्तियोग से है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और सर्वात्म-समर्पण—भक्तियोग के इन नौ अंगों के आचरण से कृष्णभावनामृत प्राप्त होती है। हृदय-शुद्धि हो जाने पर ही इस कृष्णविज्ञान को जाना जा सकता है। केवल यह जानना पर्याप्त नहीं कि जीवात्मा अप्राकृत है। यह तो भगवत्प्राप्ति के पथ का केवल प्रथम चरण है। वास्तव में जीव के लिए शारीरिक क्रियाओं और अप्राकृत क्रियाओं के भेद को जानना आवश्यक है; इससे यह जागृति होती है कि 'मैं देह नहीं हूँ।'

सातवें अध्याय में श्रीभगवान् की ऐश्वर्यशालिनी सामर्थ्य, परा-अपरा आदि नाना शक्तियों और इस प्राकृत सृष्टि का वर्णन हुआ । सम्प्रति, नौवें और दसवें

अध्याय में भगवान् की कीर्ति का गान है।

अनसूयवे पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः उच्च विद्वान् होने पर भी गीता के प्रायः सभी व्याख्याकार भगवान् श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। बड़े से बड़े विद्वान् तक भगवद्गीता की बिल्कुल अशुद्ध व्याख्या कर बैठते हैं। उनके भाष्य बिल्कुल निरर्थक हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हैं। भगवद्भक्तों द्वारा रचित टीकायें ही प्रामाणिक मान्य हैं। जो श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करता है, वह न तो भगवद्गीता का वर्णन कर सकता है और न श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान ही दे सकता है। जो श्रीकृष्ण के तत्त्व को न जानते हुए उनके चरित्र पर आक्षेप करता है, वह मूढ़ है। अतः ऐसे भाष्यों को बड़ी सावधानी से त्याग देना चाहिए। जो पुरुष जानता है कि श्रीकृष्ण शुद्ध दिव्य पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं, उसके लिए ये अध्याय परम कल्याणकारी हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

अनुवाद

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सम्पूर्ण गोपनीय रहस्यों का राजा, परम शुद्ध और स्वरूप-साक्षात्कार कराने वाला परम धर्म है। यह अविनाशी है और साधन करने में बड़ा सुगम है।।२।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

अनुवाद

हे शत्रुविजयी अर्जुन! जो इस भक्तियोग के पथ में श्रद्धाहीन हैं, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस मृत्युरूप संसार में ही बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।३।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

अनुवाद

मेरे प्राकृत इन्द्रियों से अतीत अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ।।४।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को कुंठित जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह सिद्धान्त है कि भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, यश, लीला-विलास आदि को जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो प्रामाणिक आचार्य के आश्रय में शुद्ध भक्तियोग के परायण है, उस भक्त के हृदय में ही वे प्रकट होते हैं। 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है, **प्रेमाञ्जनच्छुरित**—भगवान् गोविन्द के प्रति अनुरागमय प्रेमभाव का सेवन करने से अन्तर में और बाहर भी उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। अत· जनसाधारण के लिए वे अगोचर हैं। यहाँ उल्लेख है कि यद्यपि वे सर्वव्यापक हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं, पर जड़ इन्द्रियों से उनकी अनुभूति नहीं होती। परन्तु चाहे हम उन्हें देख नहीं सकते, फिर भी सब कुछ वस्तुतः उन्हीं के आश्रय में स्थित है। सातवें अध्याय के अनुसार, सम्पूर्ण विश्वीय सृष्टि उनकी परा-अपरा नामक शक्तियों का समुच्चयमात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूर्यकिरणराशि के विस्तार के समान भगवत्-शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में विस्तीर्ण हो रही है; सब कुछ उसी के आश्रय में है।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि श्रीभगवान् सर्वव्याप्त हैं, इसलिए उनका अपना निजी स्वरूप समाप्त हो गया है। इस कुतर्क का निराकरण करने के लिए श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं सर्वव्यापक हूँ और सब कुछ मेरे आश्रित है, फिर भी इस सम्पूर्ण सृष्टि से मैं असंग हूँ।' उदाहरणस्वरूप, राजा अपने प्रशासन का अधीश्वर होता है, प्रशासन उसकी शक्तियों का एक प्रकाशमात्र है। विविध प्रशासकीय विभाग राजा की विभिन्न शक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक विभाग राजा की सामर्थ्य पर आश्रित है। परन्तु राजा से यह आशा नही की जाती कि वह प्रत्येक विभाग में स्वय उपस्थित रहेगा। यह एक स्थूल उदाहरण है। इसी प्रकार हम जो कुछ भी देखते हैं, प्राकृत-अप्राकृत जितनी सृष्टि है, वह सब श्रीभगवान् की शक्ति पर आश्रित है। उनकी विभिन्न शक्तियों के प्रसारण से सृष्टि होती है और जैसा भगवद्गीता में कहा है, अपनी शक्तियो के प्रसारण और स्वाश-प्रकाश के रूप में वे सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

अनुवाद

और यह सृष्टि भी मुझमें स्थित नहीं है। मेरे इस योगैश्वर्य को देख! सम्पूर्ण जीवों को धारण-पोषण और उत्पन्न करने वाला होने पर भी मेरा आत्मा उनमें स्थित नहीं है।।५।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

अनुवाद

जैसे सब ओर विचरणशील वायु नित्य आकाश में स्थित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को मुझ में स्थित जान।।६।।

तात्पर्य

जनसाधारण के लिए यह सत्य प्रायः अचिन्त्य है कि महान् प्राकृत सृष्टि किस प्रकार भगवान् के आश्रित है। अतएव इस सत्य को लोकबुद्धि मे प्रवेश कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आकाश का दृष्टान्त दे रहे हैं। इस सृष्टि में हमारी कल्पना-शक्ति के लिए आकाश सबसे बड़ा है। सम्पूर्ण सृष्टि आकाश पर अवलम्बित है। इस आकाश में अणु से लेकर सूर्य, चन्द्र आदि बड़े से बड़े ग्रह परिभ्रमण कर सकते हैं। महान् वायु भी आकाश में स्थित है; वह आकाश से अतीत नहीं है।

इसी प्रकार, सम्पूर्ण आश्चर्यमयी सृष्टि श्रीभगवान् के संकल्प के आधार पर स्थित है और पूर्ण रूप से उसी के आधीन है। जैसा लोकप्रसिद्ध है, भगवत्-इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार सब कुछ उन्हीं के संकल्प के अनुसार हो रहा है। उनके संकल्प से सारी सृष्टि होती है, सबका पालन होता है और अन्त में नाश होता है। फिर भी, वे सबसे असंग हैं, उसी भाँति जैसे गगन वायुमण्डल से सदा असंग है। उपनिषद्-वाणी है. श्रीभगवान् के भय से ही वायु विचरता है।' **गर्गोपनिषद्** में कहा है, 'श्रीभगवान् की आज्ञा की आधीनता में चन्द्र, सूर्य आदि भीमकाय ग्रह घूम कर रहे हैं।' ब्रह्मसंहिता में भी इसका उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि तेज और प्रकाश के विस्तार की अनन्त शक्तिवाला सूर्य श्रीभगवान् का एक चक्षु है। श्रीगोविन्द की आज्ञा और सकल्प के अनुसार वह अपनी निश्चित कक्षा में घूम रहा है। इस प्रकार, वैदिक साहित्य से प्रमाणित होता है कि अति अद्भुत एवं महान् प्रतिभासित होने वाली यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के नियन्त्रण में है। अगले श्लोकों में इस तथ्य का अधिक विशद वर्णन है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है

और नए कल्प के आरम्भ में अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे फिर रचता हूँ।।७।।

तात्पर्य

इस प्राकृत सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के परम संकल्प पर निर्भर करता है। कल्पक्षय का अर्थ ब्रह्मा की मृत्यु से है। ब्रह्मा के जीवन की अवधि सौ वर्ष है, जिसका एक दिन पृथ्वी के ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। उसकी रात्रि की भी यही परिधि है। इस परिमाण के तीस दिवा-रात्रि से उसका एक मास बनता है और बारह मास का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों के बाद ब्रह्मा का देह शान्त होने पर प्रलय हो जाती है। इसका अर्थ है कि श्रीभगवान् द्वारा अभिव्यक्त की गई शक्ति पुनः उन्हीं में लय हो जाती है। समय आने पर उनकी इच्छानुसार फिर सृष्टि-प्रकाश होता है। वैदिक सूक्ति है, 'एक होने पर मैं बहुरूप धारण करूँगा।' इस संकल्प से वे माया शक्ति में अपना प्रकाश करते हैं और सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि फिर प्रकट हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

अनुवाद

सम्पूर्ण सृष्टि मेरे आधीन है। मेरे सकल्प से ही यह बारंबार प्रकट होती है और मेरे ही सकल्प से अन्त में इसका नाश होता है।।८।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अनुवाद

हे धनंजय! यह सब कार्य मेरे लिए बन्धनकारी नहीं हो सकता, क्योंकि मैं इसमें उदासीन के समान अनासक्तभाव से स्थित हूँ।।९।।

तात्पर्य

इस सन्दर्भ में यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीभगवान् निष्क्रिय हैं। अपने वैकुण्ठ-जगत् में वे नित्य क्रीड़ारत हैं। ब्रह्मसंहिता में उल्लेख है : 'प्राकृत क्रियाओं से सर्वथा असंग होते हुए भी वे अपनी आनन्दचिन्मयरसात्मिका लीला में नित्य तत्पर हैं।' प्राकृत क्रियाएँ उनकी विविध शक्तियों द्वारा घटती हैं; श्रीभगवान् स्वयं सृष्ट जगत् की संपूर्ण प्राकृत क्रियाओं से नित्य उदासीन रहते हैं। यहाँ उनकी इस उदासीनता का वर्णन है। जड़ प्रकृति पूर्णरूप से उनके आधीन है, फिर भी वे उदासीन के सदृश बैठे हैं। इस सन्दर्भ में न्यायाधीश का दृष्टान्त उल्लेखनीय है। वह स्वयं अपने

आसन पर बैठा रहता है, परन्तु उसकी आज्ञा से कितनी ही घटनायें घटित होती हैं—किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, किसी को कारावास तो किसी को विपुल लक्ष्मी; परन्तु इस सबसे वह स्वयं सर्वथा असंग है। उस हानि-लाभ से उसे कोई प्रयोजन नहीं। ऐसे ही, यद्यपि प्रभु का हाथ हर कार्यक्षेत्र में रहता है, फिर भी वे सबसे असंग हैं। 'वेदान्तसूत्र' में उल्लेख है कि वे इस जगत् के द्वन्द्वों से अतीत हैं। इस ससार के सृजन-संहार में भी उनकी आसक्ति नहीं है। जीव पूर्वकर्म के अनुसार नाना योनियों को ग्रहण करते हैं, श्रीभगवान् इसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत् का बारम्बार सृजन और संहार होता है।।१०।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

अनुवाद

मेरे नराकार में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वरूप को नहीं जानते।।११।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

अनुवाद

जो इस प्रकार संमोहित हैं, वे आसुरी तथा अनीश्वरवादी स्वभाव को धारण किये रहते है। उस मोहमयी अवस्था में उनकी मुक्ति की आशा, उनके सकाम कर्म और उनके द्वारा अर्जित ज्ञान आदि सभी कुछ निष्फल हो जाता है।।१२।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

अनुवाद

परन्तु हे पार्थ ! मोहमुक्त महात्माजन तो मेरी दिव्य प्रकृति के आश्रित होकर और मुझे अविनाशी आदिपुरुष जानकर अनन्य चित्त से मेरी भक्ति के ही परायण रहते हैं।।१३।।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि महात्मा वास्तव में कौन है। सच्चे महात्मा का प्रथम लक्षण यह है कि वह दिव्य प्रकृति में स्थित रहता है; माया के आधीन नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त करने की विधि का निर्देश सातवें अध्याय में है। जो भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होता है, वह अविलम्ब मायामुक्त हो जाता है। इस पथ के लिए यही पात्रता है। भगवान् के चरणकमलों में सर्वात्मसमर्पण करते ही तत्क्षण मायाबन्धन से मुक्ति हो जाती है। मुक्ति का बस यही ऐकान्तिक उपाय है। जीव श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति है; अतः जैसे ही वह माया से मुक्त होता है, वैसे ही दैवी प्रकृति के आश्रय में आ जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् के चरणारविन्द की शरण लेकर जीव महात्मा पद पर आरूढ़ हो सकता है।

महात्मा का ध्यान श्रीकृष्ण से अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं जाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं और सब कारणों के परम कारण हैं। उसे इसमें कुछ संदेह नहीं रहता। ऐसे महात्मा का उदय अन्य महात्माओं अथवा शुद्धभक्तों के संग से होता है। देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शुद्ध भक्त तो श्रीकृष्ण के चतुर्भुज महाविष्णु आदि अन्य रूपों की ओर तक आकृष्ट नहीं होते। वे तो बस श्रीकृष्ण के वेणुवादननिरत द्विभुज रूप में ही नित्य अनुरक्त रहते हैं। वे किसी देवरूप अथवा मनुष्य से कोई अपेक्षा नहीं रखते; उनका ध्यान कृष्णभावना में केवल श्रीकृष्ण पर एकाग्र रहता है। ऐसे कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण के ध्यान और अचल भगवत्सेवा में ही नित्य निमग्न रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

अनुवाद

ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ निश्चयपूर्वक चेष्टा करते हुए तथा प्रणाम करते हुए भक्तिभाव से निरन्तर मेरी आराधना करते हैं।।१४।।

तात्पर्य

कोई साधारण व्यक्ति नाममात्र देने से महात्मा नहीं बन जाता। सच्चे महात्मा

के स्वरूप लक्षणों का यहाँ वर्णन है। महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के कीर्तन में तन्मय रहता है। नित्य-निरन्तर भगवत्-कीर्तन करने के अतिरिक्त उसे कोई और काम नहीं होता। दूसरे शब्दों में, महात्मा निर्विशेषवादी नहीं हो सकता। सच्चा महात्मा वही है, जो भगवद्धाम, भगवन्नाम, भगवत्-रूप, भगवद्गुण तथा अद्भुत भगवच्चरित्र की स्तुति के रूप में श्रीभगवान् का कीर्तन करे। ये सब भगवत्-तत्त्व सदा कीर्तनीय हैं। अतः सच्चा महात्मा श्रीभगवान् में ही अनुरक्त रहता है।

जो श्रीभगवान् के निर्विशेषरूप—ब्रह्मज्योति में आसक्त है, उसे श्रीमद्भगवद्-गीता में महात्मा नहीं कहा गया है। उसका अगले श्लोक में पृथक् रूप से उल्लेख है। महात्मा किसी देवता अथवा मानव को नहीं पूजता; वह स्वयं श्रीविष्णु के श्रवण, कीर्तन, आदि भक्तियोग के साधनों में तत्पर रहता है, जैसा श्रीमद्भागवत में वर्णन है। उस भक्ति का स्वरूप यह है : **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम्...**। यथार्थ महात्मा में पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय रहता है। तत्सम्बन्धी सफलता के लिए वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं से भगवत्सेवानिष्ठ हो जाता है। इसी का नाम पूर्ण कृष्णभावना है।

भक्तियोग में कुछ क्रियाएँ अनिवार्य हैं, जैसे एकादशी, अवतारजयन्ती, आदि उपवासव्रतों का पालन इत्यादि। ये विधि-विधान महान् आचार्यों द्वारा उन्हीं के लिए कहे गये हैं, जो भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त करने के सच्चे अभिलाषी हैं। महात्माजन इन विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं; अतएव उनके लिए अभिलाषित लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है।

जैसा अध्याय के द्वितीय श्लोक में वर्णन है, यह भक्तियोग सुगम होने के साथ ही आह्लादपूर्वक सम्पादित किया जा सकता है। इसके लिए किसी कठोर तप-त्याग की अपेक्षा नहीं है। विदग्ध सद्गुरु के आश्रय में गृहस्थी, संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी-किसी भी स्थिति में, विश्व के किसी भी स्थान में, भक्तिभावित जीवन व्यतीत करने वाला कोई भी मनुष्य इस भगवद्भक्तियोग के द्वारा वास्तव में महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

अनुवाद

दूसरे जो ज्ञान के अनुशीलन में तत्पर हैं, वे मुझे परमेश्वर को अद्वय-रूप में, विविध रूपों में और विश्वरूप में भी उपासते हैं।।१५।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

अनुवाद

क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्तकर्म मैं हूँ, पितृतर्पण मैं हूँ, औषधि और मन्त्र भी मैं हूँ तथा मैं ही घी, अग्नि और हवनरूप क्रिया हूँ।।१६।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च।।१७।।

अनुवाद

मैं इस जगत् का पिता, माता, पोषण करने वाला और पितामह हूँ। मैं ही जानने योग्य परम पावन ओंकार हूँ तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।।१७।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

अनुवाद

प्राप्त होने योग्य गति, सब का पालन करने वाला, परम ईश्वर, शुभ-अशुभ का साक्षी, परमधाम, शरण लेने योग्य, जीवमात्र का सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, विश्राम-स्थल और अविनाशी बीज भी मैं हूँ।।१८।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं ही सूर्यरूप से जगत् को तपाता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और फिर उसे बरसाता हूँ। मैं मूर्तिमान् अमृत और मृत्युरूप हूँ तथा मैं ही सत् और असत् हूँ।।१९।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

अनुवाद

तीनों वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित मनुष्य स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञों द्वारा मेरी अप्रत्यक्ष रूप से आराधना करते हैं। वे

अपने पुण्य से स्वर्गलोक को प्राप्त होकर देवताओं के भोगों को भोगते हैं।।२०।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

अनुवाद

वे उस स्वर्गीय विषयसुख को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर फिर इस मृत्युलोक में गिरते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड से उन्हें क्षणभंगुर सुख की ही प्राप्ति होती है—वे जन्म-मृत्यु रूप चक्र में पड़े रहते हैं।।२१।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अनुवाद

परन्तु जो मनुष्य अनन्य-मन से मेरे दिव्य रूप का चिन्तन करते हुए भक्तिभाव सहित मेरा भजन करते हैं, उनके योगक्षेम का मैं स्वयं वहन करता हूँ।।२२।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! जो सकाम भक्त श्रद्धासहित अन्य देवताओं को यज्ञ द्वारा उपासते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; परन्तु उनकी वह आराधना अविधिपूर्वक है, अर्थात् यथार्थ ज्ञान से युक्त नहीं है।।२३।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

अनुवाद

वास्तव में एकमात्र मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी (लक्ष्य) हूँ। परन्तु वे मेरे इस यथार्थ दिव्य स्वरूप को तत्त्व से नहीं जानते, इसीलिए गिरते हैं, अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं।।२४।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अनुवाद

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं; भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त मुझ को ही प्राप्त होते हैं।।२५।।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।

अनुवाद

भक्त प्रेमभक्ति के साथ पत्र, पुष्प, फल, जल आदि जो कुछ भी मेरे अर्पण करता है, उसे मैं प्रीतिसहित खाता हूँ।।२६।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ववर्ती श्लोकों में स्थापित कर चुके हैं कि वे यज्ञों के एकमात्र भोक्ता, परमेश्वर और यथार्थ प्रयोजन हैं। इस श्लोक में उन्होंने बताया है कि कौन-कौन सा समर्पण उन्हें प्रिय है। यदि कोई अन्तःकरण की शुद्धि और जीवन के परम प्रयोजन—प्रेममयी भगवत्सेवा की प्राप्ति के लिए भक्तियोग में तत्पर होने का अभिलाषी हो, तो उसे यह जानना चाहिए कि श्रीभगवान् उससे क्या चाहते हैं। श्रीकृष्ण का प्रेमी उनके लिये उन्हीं पदार्थों का अर्पण करेगा, जो उनके मन के अनुकूल हों; अवाञ्छित अथवा प्रतिकूल वस्तु का अर्पण वह कभी नहीं करेगा। अस्तु, माँस, मछली और अण्डे श्रीकृष्ण के भोग के योग्य नहीं हैं। यदि श्रीकृष्ण इन पदार्थों का अर्पण चाहते, तो वे ऐसा कह देते। इसके विपरीत, उन्होंने स्पष्ट किया है कि उनके लिए पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि पदार्थों का ही अर्पण किया जाय। इस प्रकार के भोग के सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'मैं उसे स्वीकार करूँगा।' अतः यह समझना चाहिए कि वे माँस, मछली और अण्डे स्वीकार नहीं करते। शाक, अन्न, फल, दुग्ध और जल मनुष्य के योग्य आहार हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इनका विधान किया है। इन सात्त्विक पदार्थों के अतिरिक्त हम जो कुछ भी खायेंगे, वह श्रीकृष्ण को भोग नहीं लगाया जा सकता क्योंकि वे उसे स्वीकार नहीं करते। अतएव यदि हम माँस आदि निषिद्ध पदार्थों का अर्पण करेंगे तो यह प्रेममयी भक्ति के प्रतिकूल होगा।

तीसरे अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है कि एकमात्र यज्ञ से शेष बचा अन्न ही शुद्ध होता है। अतएव जो जीवन में अभ्युदय और मायाबन्धन से मुक्ति के अभिलाषी हैं उनके लिए केवल यही अन्न खाने योग्य है। जो अपने अन्न का अर्पण नहीं करते, उनको भगवान् ने उसी श्लोक में पाप खाने वाला कहा है। भाव यह है कि उनके द्वारा खाए अन्न का एक-एक ग्रास उनके लिए मायाजाल में अधिक बन्धनकारी सिद्ध होता है। दूसरी ओर, स्वादु शाकाहारी व्यंजन बनाने और श्रीकृष्ण के चित्र अथवा अर्चा-विग्रह को अर्पित करके वन्दनापूर्वक तुच्छ भेंट को स्वीकार करने के लिए उनसे निवेदन करना जीवन की निरन्तर उन्नति, देह की शुद्धि और शुद्ध चिन्तन के योग्य सूक्ष्म बौद्धिक कोशिकाओं के गठन में सहायक है। सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि भोग प्रेमपूर्वक लगाया जाय। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के एकमात्र स्वामी हैं; अतएव उन्हें भोजन की कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी, जो उन्हें इस रीति से प्रसन्न करना चाहता है, उस मनुष्य के नैवेद्य-अर्पण को वे अंगीकार कर लेते हैं। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम का भाव ही भोग को बनाने और अर्पण करने की क्रिया का सार है।

निर्विशेषवादी दार्शनिक परमसत्य को हठपूर्वक इन्द्रियशून्य कहते हैं; इसलिए उनके लिए भगवद्गीता का यह श्लोक बुद्धिगम्य नहीं है। उनके लिये यह एक अलंकार-मात्र है अथवा यही सिद्ध करता है कि गीतागायक श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य हैं। सत्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य इन्द्रियों से युक्त हैं। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियों का कार्य कर सकती है। श्रीकृष्ण को अद्वय परतत्त्व इसी अर्थ में कहा जाता है। इन्द्रियों के बिना वे सब ऐश्वर्यों में पूर्ण नहीं कहलाते। सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वे अपरा प्रकृति में सम्पूर्ण जीव-समूह का गर्भाधान करते हैं; ऐसा प्रकृति पर उनके दृष्टिपात से होता है। अतएव इस संदर्भ में श्रीकृष्ण का भोग अर्पण करते हुए भक्त की प्रेममयी प्रार्थना को सुनना भोग को आरोगना ही है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वे परतत्त्व हैं, अतएव उनके सुनने, भोजन करने और चखने में कोई भेद नहीं है। जो भक्त श्रीकृष्ण को ठीक उसी प्रकार मानता है, जैसा श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने विषय में वर्णन किया है, अर्थात् जो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोधर्मी नहीं करता है, वही यह समझ सकता है कि अद्वय परतत्त्व श्रीकृष्ण अर्पित भोजन को खाते हैं और इससे उन्हें आनन्द की अनुभूति भी होती है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अनुवाद

इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।।२७।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

अनुवाद

इस प्रकार तू सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मफलों से छूट जायगा और फिर इस संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।।२८।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

अनुवाद

मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ; जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका प्रेमी हूँ, उनमें हूँ।।२९।।

तात्पर्य

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि श्रीकृष्ण का जीवमात्र में समभाव है और कोई भी उनका विशेष प्रिय नहीं है, तो फिर वे अपनी भक्ति में निरन्तर तत्पर रहने वाले भक्तों का विशेष ध्यान क्यों रखते हैं? वास्तव में यह भेदभाव नहीं है; यह तो स्वाभाविक ही है। कोई मनुष्य महादानी हो सकता है, परन्तु वह भी अपनी सन्तान में विशेष रुचि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं कि जीवमात्र, चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो, उनका पुत्र है और इसीलिए वे सम्पूर्ण प्राणियों की आवश्यकताओं की उदारता से पूर्ति करते हैं। वे उस मेघ जैसे हैं जो पाषाण, थल अथवा जल में भेद किये बिना सर्वत्र समान रूप से वर्षा करता है। परन्तु भक्त अवश्य उनके विशेष कृपापात्र हैं, अर्थात् श्रीभगवान् विशेषरूप से भक्तवत्सल हैं। उन भक्तों का यहाँ वर्णन है—ये नित्य-निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहते हैं; इसलिए इनकी सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण में दिव्य स्थिति है। 'कृष्णभावना' शब्द से ही प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार भावित मति मनुष्य श्रीभगवान् में स्थित जीवन्मुक्त योगी हैं। श्रीकृष्ण ने यहाँ स्पष्ट कहा है : **मयि ते**—'वे मुझ में हैं।' अतएव यह स्वाभाविक है कि भगवान् श्रीकृष्ण की भी उनमें स्थिति है। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इससे श्रीभगवान् के

इन शब्दों का तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है: अस्ति न प्रियः, ये भजन्तिः। 'जीव जिस अनुपात में मेरी शरण लेता है, उसी के अनुसार मैं उसका ध्यान रखता हूँ।' श्रीभगवान् एवं भक्त—दोनों चेतन हैं; इसी से यह चिन्मय रस-विनिमय होता है। इसे स्वर्णमणि न्याय से समझा जा सकता है। मुद्रिका में जड़ित मणि अधिक सुन्दर लगती है। एक साथ होने पर वास्तव में दोनों स्वर्ण और मणि की शोभा बढ़ जाती है। श्रीभगवान् और जीव में शाश्वत् प्रभा है। भगवत्सेवा के उन्मुख जीव स्वर्ण की सी शोभा पाता है; श्रीभगवान् मणि हैं ही। इस प्रकार यह जोड़ी बड़ी अभिराम है। शुद्धान्तःकरण जीव भक्त कहलाते हैं। श्रीभगवान् भी अपने भक्त के भक्त बन जाते हैं। भक्त और भगवान् में इस विनिमय-सम्बन्ध के बिना भागवत-दर्शन (सविशेषवाद) तो सिद्ध ही नहीं हो सकता। निर्विशेषवाद में परतत्त्व और जीव में परस्पर कोई रस-विनिमय नहीं है; सविशेषवाद में ऐसा अवश्य है।

यह अति प्रसिद्ध है कि श्रीभगवान् कल्पवृक्ष हैं। सामान्य रूप से माना जाता है कि कल्पवृक्ष की भाँति भगवान् सबकी इच्छापूर्ति करते हैं। परन्तु यहाँ इस तत्त्व का विशेष विवेचन है। यहाँ श्रीभगवान् को अपने भक्तों का पक्षपाती कहा गया है, जो केवल उनकी विशिष्ट भक्तवत्सलता को प्रकट करता है। भक्तों के साथ श्रीभगवान् के रस-विनिमय को कर्म-सिद्धान्त के आधीन नहीं समझना चाहिए। वह तो उस दिव्य राज्य की वस्तु है, जिसमें श्रीभगवान् एवं उनके भक्त क्रियाशील हैं। भगवद्भक्ति इस प्राकृत-जगत् की क्रिया नहीं है; वह उस वैकुण्ठ-जगत् की वस्तु है, जहाँ सच्चिदानन्द का अधिकार है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

अनुवाद

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरी अनन्यभक्ति के परायण हो जाय, तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह मेरी एकान्त निष्ठारूपी श्रेष्ठ निश्चय वाला है।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में सुदुराचारः शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है; इसके अर्थ को भलीभाँति समझना चाहिए। बद्धजीव की क्रियाएँ दो प्रकार की हैं—एक सांसारिक और दूसरी स्वरूपभूता। देह-धारण अथवा समाज और राष्ट्र के विधान के पालन में भिन्न-भिन्न सांसारिक क्रियाएँ होती हैं। बद्धजीवन में भक्तों के लिये भी ये कर्तव्य हैं।

इन बद्ध क्रियाओं के अतिरिक्त, जो जीव अपने दिव्य स्वरूप को पूर्ण रूप से जानकर भक्तियोग अथवा कृष्णभावना के परायण हो गया है, वह दिव्य क्रियाओं का सम्पादन भी करता है। इन स्वरूपभूता क्रियाओं को ही भक्तियोग कहते हैं। बद्धावस्था में सामान्यतः भक्तियोगमयी सेवा और देहसम्बन्धी सेवा समानान्तर रूप में एक साथ सम्पादित होती रहती हैं। परन्तु कभी-कभी इन दोनों कार्यों में परस्पर विरोध भी उत्पन्न हो सकता है। भक्त यथासम्भव पूरा ध्यान रखता है कि वह कोई ऐसा कार्य न कर बैठे जिससे उसकी हितावह अवस्था में बाधा आए। वह जानता है कि कृष्णभावना की शनैः-शनैः उत्तरोत्तर अनुभूति पर ही उसकी सम्पूर्ण क्रियाओं की सफलता निर्भर करती है। ऐसा होने पर भी, कदाचित् देखा जाता है कि कृष्णभावनाभावित मनुष्य कोई ऐसा कर्म कर बैठता है, जो समाज अथवा राज की दृष्टि से अति विगर्हित है। परन्तु इस प्रकार के क्षणिक पतन से वह भक्ति के अयोग्य नहीं हो जाता है। 'श्रीमद्भागवत' में कहा है कि जो अनन्यभाव से भगवद्भक्ति के परायण है, वह यदि गिर भी जाय, तो अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरि उसका परिष्कार करके पाप से मुक्त कर देते हैं। माया इतनी प्रबल है कि पूर्ण भगवद्भक्तिनिष्ठ योगी भी कदाचित् उससे ग्रस्त हो जाता है। परन्तु कृष्णभावना अधिक शक्तिसम्पन्न है, जिससे इस प्रकार के प्रासगिक स्खलन-पतन का तत्काल शोधन हो जाता है। इस प्रकार, भक्तिमार्ग की सफलता नित्यसिद्ध है। यदि भक्त अकस्मात् आदर्श भागवत पथ से कभी गिर जाय, तो भी कोई उसका उपहास न करे। जैसा अगले श्लोक में स्पष्ट है, उसके पूर्ण कृष्णभावनाभावित होते ही ऐसे आकस्मिक पतन समाप्त हो जायेंगे।

अतएव जो पुरुष कृष्णभावना में स्थित है और निश्चयपूर्वक **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का जप करता है, वह यदि प्रसंगवश अथवा अकस्मात् दुर्घटना के कारण अपनी स्थिति से गिर जाय, तो भी उसे महात्मा ही समझना चाहिए। इस संदर्भ में **साधुरेव** (वह महात्मा) शब्द अति निश्चयात्मक है। इससे अभक्तों को चेतावनी दी गयी है कि वे आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास न करें; उसे साधु ही मानें। **मन्तव्यः** शब्द तो और भी अधिक बलपूर्ण है। इस श्लोक के विधान को न मानकर आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास करना भगवान् के आदेश की अवहेलना होगी। भक्त में केवल इतनी योग्यता होनी चाहिए कि भक्तियोग में उसकी अनन्य-अचल निष्ठा हो।

चन्द्रमा पर दिखायी देने वाले कलंक से चन्द्रिका प्रतिहत नहीं होती। इसी प्रकार साधुपथ से भक्त का प्रसंगवश गिर जाना उसे पापात्मा नहीं बना देता। परन्तु साथ

ही, इस भ्रम में न रहे कि भगवत्-परायण भक्त सब प्रकार के निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त हो सकता है। इस श्लोक का तात्पर्य केवल विषय संसर्ग की प्रबलता के कारण घटित हुई दुर्घटना से है। भगवद्भक्ति करना वस्तुत: माया पर आक्रमण करना है। जब तक भक्त माया से लड़ने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो जाता, तब तक इस प्रकार की दुर्घटनाओं के घटित होने की सम्भावना रहेगी। परन्तु जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, पूर्ण सशक्त हो जाने पर उसका फिर कभी पतन नहीं होता। इस श्लोक की आड़ में पापाचरण करते हुए कोई यह न समझे कि वह तब भी भक्त है। यदि भगवद्भक्ति के साधन से उसका चरित्र शुद्ध नहीं होता तो समझना चाहिए कि वह श्रेष्ठ भक्त नहीं है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अनुवाद

वह शीघ्र धर्मात्मा होकर सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! निश्चयपूर्वक घोषणा कर कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।।३१।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

अनुवाद

हे पार्थ! मेरी शरण होकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।।३२।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

अनुवाद

फिर क्या कहना है कि मेरी प्रेमसेवा के परायण पुण्यात्मा ब्रह्मण और राजर्षि परमगति को पाते हैं। इसलिए इस क्षणभंगुर और दुःखमय संसार को प्राप्त होकर मेरा ही भजन कर।।३३।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

अनुवाद

मन से नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा चिन्तन कर, मेरा भक्त बन, मेरा ही पूजन कर और अतिशय प्रेम सहित मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार पूर्ण रूप से मुझमें तन्मय हुआ तू मुझ को ही प्राप्त होगा।।३४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में निर्णय है कि इस दूषित प्राकृत-जगत् के बन्धनों से मुक्ति का एकमात्र साधन कृष्णभावना है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण भक्तियोग के लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं; परन्तु दुर्भाग्यवश, असाधु व्याख्याकार इस अति स्पष्ट तथ्य को तोड़-मरोड़ कर पाठक का चित्त बिल्कुल असाध्य कुपथ में मोड़ देते हैं। ये व्याख्याकार नहीं जानते हैं कि श्रीकृष्ण के चित्त और स्वयं श्रीकृष्ण में भेद नहीं है। श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं; वे परतत्त्व पुरुषोत्तम हैं। उनके देह, चित्त और स्वयं वे एकतत्त्व हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत, आदिलीला, अध्याय पाँच, श्लोक ४१-४८ पर अपने अनुभाष्य में श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ने 'कूर्म पुराण' में यह प्रमाण उद्धृत किया है: **देह देहि विभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्**, अर्थात् परमेश्वर श्रीकृष्ण में और उनके देह में कोई भेद नहीं है। इस कृष्णतत्त्व को न जानने वाले व्याख्याता शब्दों की चातुरी से श्रीकृष्ण को छिपाते हुए कहते हैं कि श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप उनके देह और मन से अलग है। ऐसा कहना कृष्णतत्त्व के नितान्त अज्ञान का प्रतीक है, पर कुछ मनुष्य तो इस प्रकार जनता को पथभ्रष्ट करके ही बड़ा भारी धन अर्जित कर लेते हैं।

कुछ आसुरीभाव वाले मनुष्य हैं। वे भी श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं, परन्तु उनका वह चिन्तन कंस की भाँति द्वेषपूर्वक होता है। कंस वैरी-रूप में श्रीकृष्ण के चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहता था। उसे सदा यही चिन्ता बनी रहती थी कि कहीं श्रीकृष्ण इसी क्षण उसे मारने न आ जायें। इस प्रकार के प्रतिकूल चिन्तन से लाभ नहीं हो सकता। अतएव श्रीकृष्ण का चिन्तन प्रेमभाव से करे; इसी का नाम 'भक्ति' है। श्रीकृष्णतत्त्व का नित्य अनुकूल अनुशीलन (सेवन) करते रहना चाहिए। प्रामाणिक गुरु के आश्रय में शिक्षा ग्रहण करना ही श्रीकृष्णतत्त्व का अनुकूल अनुशीलन (सेवन) है। हम बहुधा विवेचन कर चुके हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनका विग्रह प्राकृत नहीं है, सच्चिदानन्दघन है। इस प्रकार की वार्ता भक्त बनने में सहायक है। दूसरी ओर, अवाँछित व्यक्तियों से श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझना निरर्थक है।

अस्तु, चित्त को श्रीकृष्ण के नीलोत्पलश्यामल सर्वगुणनिलय माधुर्य-सार-सर्वस्व, आद्य, नित्य श्रीविग्रह में ही निवेशित रखे और श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं—इस

हार्दिक विश्वास के साथ उनकी पूजा में तत्पर रहे। इस भक्तियोग का एक अंग श्रीकृष्ण को प्रणाम करना है। भगवत्-विग्रह के सामने दण्डवत् प्रणाम करते हुए चित्त, देह और क्रिया-कलाप, आदि सब कुछ श्रीकृष्ण के परायण कर देना चाहिए। इससे श्रीकृष्ण में अविचल तन्मयता हो जायगी और अन्त में कृष्णलोक की प्राप्ति भी सुलभ होगी। असाधु व्याख्याकारों की वाग्चातुरी से पथभ्रष्ट न होकर श्रीकृष्ण के श्रवण, कीर्तन, आदि नवधा भक्ति के साधनों में निष्ठ रहे। यह शुद्ध कृष्णभक्ति मानव समाज की परम उपलब्धि है।

सातवें और आठवें अध्याय में ज्ञानयोग, ध्यानयोग और सकाम कर्मों से स्वतन्त्र, शुद्धभक्तियोग का प्रतिपादन है। जो पूर्णरूप से शुद्ध नहीं हुए हैं, वे ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति, एकदेशीय परमात्मा आदि श्रीभगवान् के अन्यान्य रूपों की ओर आकृष्ट होते हैं। शुद्धभक्त तो सीधे भगवत्-सेवा का पथ अंगीकार कर लेता है।

श्रीकृष्ण विषयक एक अति मधुर कविता में उल्लेख है कि जो देवोपासना करता है, वह मनुष्य परम अज्ञानी है, उसे भक्ति के परम फल—श्रीकृष्ण की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यद्यपि भक्तियोग के प्रारम्भिक साधक (कनिष्ठ भक्त) का कदाचित् पतन हो सकता है, फिर भी वह सब दार्शनिकों और योगियों से उत्तम मान्य है। ो नित्य निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहता हो, वह निस्सन्देह परम सन्त है। उसके द्वारा प्रसंगवश बनने वाली भक्ति की प्रतिकूल क्रियाएँ शनैः-शनैः समाप्त हो जायेंगी और वह शीघ्र ही परम संसिद्धि को प्राप्त कर लेगा। शुद्धभक्त के पतन का तो वस्तुतः प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं अपने शुद्धभक्त का ध्यान रखते हैं। अतएव बुद्धिमान् पुरुष को इस कृष्णभावना-वीथि को अवश्य अंगीकार करना चाहिए। तब वह प्राकृत जगत् में सुख से रह सकता है। उसे यथासमय श्रीकृष्ण रूपी परम फल की प्राप्ति हो जायगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये नवमोऽध्यायः।।

अथ दशमोऽध्यायः



विभूतियोग

(श्रीभगवान् का ऐश्वर्य)

श्रीभगवानुवाच।
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे सखे! हे महाबाहु अर्जुन! मेरे परम वचन को फिर सुन, जो मैं तुझे अपना प्रिय समझकर तेरे कल्याण के लिये कह रहा हूँ और जिसे सुनकर तू अतिशय आनन्द का अनुभव करेगा।।१।।

तात्पर्य

पराशर मुनि के अनुसार जो समग्र बल, समग्र यश, समग्र ऐश्वर्य, समग्र ज्ञान, समग्र श्री और समग्र वैराग्य—इन छः ऐश्वर्यों से युक्त हो, उसे भगवान् कहते हैं। पृथ्वी पर अपने अवतरण के समय श्रीकृष्ण ने इन षडैश्वर्यों का पूर्ण प्रकाश किया

था। अतएव पराशर आदि सब महर्षियों ने श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् माना है। अब श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमुख से अर्जुन को अपने ऐश्वर्य और कार्य-कलाप के विशेष गोपनीय ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं। सातवें, आठवें और नौवें अध्यायों में वे अपनी शक्तियों और उनके कार्यों का निरूपण कर चुके हैं; अब इस अध्याय में अर्जुन के लिए अपने विशिष्ट ऐश्वर्यों का वर्णन करते हैं। भक्ति को दृढ़ निष्ठा सहित स्थापित करने के लिए पिछले अध्याय में अपनी विविध शक्ति का विवेचन करने के बाद अब इस अध्याय में वे फिर अर्जुन को अपनी नाना विभूतियों और ऐश्वर्यों का वर्णन सुनाते हैं।

श्रीभगवान् की कथा का जितना अधिक श्रवण किया जाता है, उतनी ही भक्ति में निष्ठा बढ़ती है। अतएव भक्तो के संग में भगवत्-कथा को नित्य सुनना चाहिए इससे भक्तियोग में अवश्य उन्नति होगी। कृष्णभावना की प्राप्ति के यथार्थ लोलुप ही भक्तगोष्ठी में भागवती-वार्ता का आस्वादन कर सकते हैं; दूसरों का इसमें प्रवेश नहीं हो सकता। श्रीभगवान् अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं कि वह उनका प्रेमभाजन है, इसीलिए उसके कल्याण की भावना से वे गीतामृत का परिवेषण कर रहे हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

अनुवाद

मेरे आविर्भाव को न तो देवता जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ।।२।।

तात्पर्य

'ब्रह्मसंहिता' से प्रमाण है कि भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं· उनसे बड़ा कोई नहीं है, वे सब कारणों के परम कारण हैं। यहाँ श्रीभगवान् स्वयं कहते है कि वे सब देव-महर्षियों के आदिकारण हैं। अतएव ये देवता और महर्षि तक श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान नही सकते। वे न तो उनके नाम के तत्त्व को समझ सकते हैं और न ही उनके स्वरूप को जानने में समर्थ हैं। फिर इस तुच्छ लोक के नाममात्र के विद्वानों के सम्बन्ध में कहना ही क्या ? नररूप में पृथ्वी पर अवतरित होकर नरवत् परम अद्भुत कार्य करने में श्रीभगवान् का क्या प्रयोजन है, यह कोई नहीं समझ सकता। इससे यह जान लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण के तत्त्वबोध के लिये विद्वता की योग्यता नहीं चाहिए। मनोधर्मी से श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझने के प्रयास में तो देवता और महर्षि भी विफल ही रहते हैं। श्रीमद्भागवत में स्पष्ट उक्ति है कि बड़े से बड़े देवता भी श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जान सकते। अपनी दोषमयी इन्द्रियों की सीमा तक मनोधर्म करके वे

त्रिगुणातीत निर्विशेष रूपी विपरीत निर्णय पर पहुँच सकते हैं अथवा कोई मनमानी कल्पना कर सकते हैं; परन्तु ऐसी मूर्खतापूर्ण मनोधर्मी से श्रीकृष्ण को कभी नहीं जाना जा सकता।

इस कथन के रूप में मानो श्रीभगवान् परतत्त्व के जिज्ञासुओं का आह्वान करते हुए कह रहे हैं, 'यहाँ विद्यमान मैं भगवान् ही परमसत्य हूँ।' सत्य जानना नितान्त आवश्यक है। साक्षात् विराजमान अचिन्त्य शक्तिशाली श्रीभगवान् होते हुए भी चाहे उनका तत्त्व साधारण मनुष्य न समझ पायें; पर फिर भी उनका अस्तित्व तो है ही। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत रूपी श्रीभगवान् के वचनामृत मे अवगाहन करने मात्र से श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्द तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। शुद्धसत्त्व में स्थित हुए बिना श्रीभगवान् का तत्त्वबोध नहीं हो सकता, जबकि निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति तो मायामोहित मनुष्यों को भी हो जाया करती है।

अधिकांश मनुष्यों के लिए श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानना सम्भव नहीं है। अतएव अपनी अहैतुकी करुणा से प्रेरित हुए भगवान् इन मनोधर्मियो को निरवधि कृपा-कादम्बिनी से आप्यायित करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। परन्तु श्रीभगवान् की परम विलक्षण लीलाओं को देखने पर भी ये मनोधर्मी माया-संसर्ग से उत्पन्न दोषवश निर्विशेष ब्रह्म को ही परात्पर मानते हैं। एकमात्र पूर्ण शरणागत भगवद्भक्त भगवत्-कृपा से जान सकते हैं कि श्रीकृष्ण परात्पर हैं। भक्त ईश्वर की निर्विशेष ब्रह्म धारणा को बिल्कुल ठुकरा देते हैं; उनकी श्रद्धा और भक्तिभावना उन्हें तुरन्त श्रीकृष्ण की शरण में पहुँचा देती है; श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा से वे उन्हे जान जाते हैं। दूसरा कोई उन्हें नहीं जान सकता। अतएव महर्षिजन भी आत्मा और परतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध मे एकमत हैं। वस्तुत. श्रीकृष्ण ही सबके आराध्य हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

अनुवाद

जो मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का परमेश्वर तत्त्व से जानता है, वह मनुष्यो में ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।।३।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अनुवाद

बुद्धि, ज्ञान, संशय और मोह का अभाव, क्षमाभाव, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, मन की सौम्यता, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश आदि जीवो के सब नाना प्रकार के भाव मुझ से ही होते हैं।।४-५।।

तात्पर्य

यहाँ वर्णित जीव के सब अच्छे-बुरे गुणो की रचना श्रीकृष्ण ने की है।

बुद्धिः का अर्थ सुक्ष्मार्थ विवेचन की सामर्थ्य है और **ज्ञान** का अर्थ है चित् और अचित् वस्तु का तत्त्वबोध। विश्वविद्यालय की शिक्षा से प्राप्त होने वाला सामान्य ज्ञान केवल जड़ अनात्मा से सम्बन्ध रखता है। अतएव उसे यहाँ ज्ञान नहीं कहा गया है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा में भेद का बोध ही यथार्थ ज्ञान है। आधुनिक शिक्षा में आत्मा का ज्ञान नहीं है। केवल भौतिक तत्त्वों और शारीरिक आवश्यकताओ की परिचर्या में संलग्न होने के कारण विश्वविद्यालय की शिक्षा एकांगी और अपूर्ण है।

असंमोहः अर्थात् संशय एवं भ्रम का अभाव। इसकी प्राप्ति संकोच त्याग कर भागवतधर्म को समझने से होती है। इस पद्धति से मनुष्य शनै -शनै· निश्चित रूप से मायामुक्त हो जाता है। किसी भी विषय में अन्धविश्वास करना• ठीक नहीं। गम्भीर विचार करने के बाद ही किसी मान्यता को स्वीकार करना उचित है। **क्षमा** का अभ्यास करते हुए दूसरों के साधारण अपराधों की उपेक्षा कर देनी चाहिए। **सत्यम्** का अर्थ तथ्य को विकृत किये बिना दूसरों के हित के लिये यथार्थ भाषण करना है। लोक-परिपाटी के अनुसार सत्य का भाषण तभी करना चाहिए, जब वह दूसरों को प्रिय लगे। परन्तु यह सत्य का यथार्थ स्वरूप नहीं है। सीधे-सरल भाव से सत्यभाषण करना चाहिए, जिससे सुनने वाले यथार्थ रूप में तथ्य को जान सकें। किसी को चोर से सावधान करना सत्यभाषण के ही अन्तर्गत है। अतएव यह आवश्यक है कि अप्रिय होने पर भी सत्य बोलने में संकोच न करे। परहित के लिए यथार्थ वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करना ही वास्तव में सत्यभाषण है।

दमः का अर्थ है कि इन्द्रियों से अनावश्यक विषयभोग नहीं करना चाहिए। इन्द्रियों की उचित आवश्यकता की पूर्ति का निषेध नहीं है; पर यह अवश्य है कि

आवश्यकता से अधिक इन्द्रियतृप्ति करने से परमार्थ में बाधा पड़ती है। अतएव अनावश्यक विषयभोग से इन्द्रियों का संयम करना चाहिए। इसी प्रकार, चित्त का व्यर्थ चिन्तन से संयम करना है। इसे **शमः** कहते हैं। धनोपार्जन की चिन्ता में भी समय को नष्ट न करे; इससे शक्ति का दुरुपयोग होता है। जीवन का सदुपयोग इसी में है कि चित्त से मनुष्य जीवन के मुख्य प्रयोजन की जिज्ञासा की जाय। शास्त्रज्ञों, साधुओं, गुरुजनों और मनीषियों के सत्संग में चित्त की विचार-शक्ति का सन्मार्ग की ओर विकास करना चाहिए। **सुखम्** (सुख) का अनुभव उसी पदार्थ या परिस्थिति में हो, जो कृष्णभावनारूप दिव्य ज्ञान के अनुशीलन (सेवन) में सहायक हो। दूसरी ओर, जो प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थिति कृष्णभावना के प्रतिकूल हो, उसे दुःखदायी समझना चाहिए। जो कुछ भी कृष्णभावना को विकसित करने में सहायक हो, उसे ग्रहण करे और जो कृष्णभावना के प्रतिकूल हो, उसे त्याग दे।

भवः, अर्थात् जन्म का सम्बन्ध देह से है। आत्मा का न तो जन्म होता है और न मृत्यु होती है, यह गीता के आदि में कहा जा चुका है। अतएव जन्म-मृत्यु का सम्बन्ध प्राकृत-जगत् के बन्धन से ही है। भय का कारण भविष्य के लिए चिन्ता करना है। कृष्णभावनाभावित पुरुष सर्वथा निर्भय हो जाता है, क्योंकि अपने सत्कर्मों के प्रताप से उसके लिए वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति निश्चित है। उसका भविष्य अतिशय उज्ज्वल है। दूसरे अपने भावी जीवन के विषय में कुछ नहीं जानते; इसलिए नित्य-निरन्तर उद्वेग से पीड़ित रहते हैं। श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानकर कृष्णभावनाभावित हो जाना इस प्रकार के उद्वेग से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है। ऐसा करने वाला पूर्णतया निर्भय हो जायगा। श्रीमद्भागवत के अनुसार, माया से मोहित होने के कारण ही हमें भय की प्राप्ति होती है। जो माया के बन्धन से मुक्त हो चुके हैं, जिन्हें यह विश्वास है कि वे प्राकृत देह से भिन्न भगवान् के दिव्य अंश हैं और इसलिए जो चिन्मय भगवत्सेवा के परायण हैं, उन भक्तों के लिये भय का कोई कारण नही रहता। उनका भविष्य भी परम उज्ज्वल है। वास्तव में एकमात्र कृष्णभावनाभावित पुरुष ही अभय-पद **अभयम्** को पाते हैं।

अपने किसी कर्म से दूसरों को पीड़ित अथवा व्याकुल न करने का नाम **अहिंसा** है। राजनीतिज्ञों, समाजवादियों, परोपकारियों की लौकिक क्रियाएँ इसीलिए कल्याणकारी सिद्ध नही होतीं, क्योंकि वे आत्म-दृष्टि से विहीन हैं। वे तो वास्तव में यह जानते ही नहीं कि मानवसमाज के लिये वास्तव में क्या कल्याणकारी है और क्या नहीं। **अहिंसा** सिद्धान्त का अभिप्राय जनता को इस रीति से सिखाना है, जिससे मानव शरीर का सब प्रकार सदुपयोग हो सके। मानव देह का एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति

करना है। अतएव जिन कार्य-कलापों से इस लक्ष्य की दिशा में उन्नति न हो, वे सब मानव-देह की हिंसा करते हैं। अहिंसा तो वह साधना है जिससे जनसाधारण के लिये भावी आध्यात्मिक सुख हो।

समता का अर्थ राग-द्वेष से मुक्ति है। न गाढ़ राग अच्छा है और न अत्यधिक द्वेष होना ही उत्तम है। इस प्राकृत-जगत् में राग और द्वेष, दोनों ही से मुक्त रहना सर्वोत्तम नीति है। कृष्णभावना के अनुकूल प्राणी-पदार्थों को अंगीकार कर लेना और इसके प्रतिकूल सम्पूर्ण वस्तुओं को त्याग देना—इसी का नाम **समता** है। कृष्णभावनाभावित पुरुष किसी भी वस्तु का ग्रहण-त्याग स्वेच्छा से नहीं करता, वह वस्तु कृष्णभावना के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल है—इसके आधार पर ही उसे अपनाता या त्यागता है।

तुष्टिः अर्थात् सन्तोष का तात्पर्य है कि अनर्थकारी क्रियाओं के द्वारा अधिकाधिक विषयभोग जोड़ने का लोभ न करे। भगवत्कृपा से जो कुछ मिले, उसी मे सन्तोष का अनुभव करना चाहिए। **तपः** के सम्बन्ध में वेदों में अनेक विधि-विधान हैं, जैसे ब्राह्ममुहूर्त में शयन-त्याग, स्नान करना, इत्यादि। ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा-त्याग करने में कभी-कभी अतीव कष्ट सा होता है। इस प्रकार के कष्टों को स्वेच्छापूर्वक सहन करना तप है। इसी प्रकार, कुछ दिवसों में उपवास रखने का विधान है। इच्छा न होने पर भी कृष्णभावना में प्रगति के दृढ़ उद्देश्य को लेकर उपवास जैसे शास्त्र-विहित शारीरिक कष्टों को प्रसन्नता के साथ सहन करना चाहिये। परतु ऐसा उपवास करना ठीक नहीं, जो निष्प्रयोजन हो अथवा जो वेदविरुद्ध हो, जैसे किसी राजनीतिक उद्देश्य के लिए उपवास करना। भगवद्गीता में इस प्रकार के व्रत को तामसी कहा गया है। यह सिद्धान्त है कि तामसी अथवा राजसी कर्म से पारमार्थिक उन्नति नहीं हो सकती। एकमात्र सात्त्विक कर्मों से ही उन्नति होती है। वैदिक विधान के अनुसार उपवास करना ज्ञान के विकास मे विशेष सहायक है।

दानः के सम्बन्ध मे शास्त्र की आज्ञा है कि आय का आधा भाग सत्कार्य में लगाना चाहिए। कृष्णभावनाभावित कर्म ही यथार्थ सत्कर्म है—वास्तव में सर्वोत्तम है। श्रीकृष्ण सत्स्वरूप हैं, इसलिए उनका निमित्त भी सत्स्वरूप है। अतएव दान कृष्णभावना-परायण मनुष्य को करना चाहिए। वैदिक शास्त्रों के अनुसार, ब्राह्मण दान के पात्र हैं। यह परिपाटी आज भी प्रचलित है, यद्यपि इसका स्वरूप वैदिक-विधान से प्रायः भ्रष्ट हो गया है। फिर भी, विधान है कि दान ब्राह्मणों को ही करे, क्योंकि वे अध्यात्म ज्ञान के गम्भीर अनुशीलन में तत्पर रहते हैं। ब्राह्मण का

कर्तव्य है कि अपना सारा जीवन ब्रह्मजिज्ञासा करने में उत्सर्ग कर दे। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म का ज्ञाता हो; वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है। ब्राह्मणों को दान किया जाता है, क्योंकि नित्य भगवत्सेवा में लगे रहने से वे स्वयं धन का अर्जन नहीं कर सकते। वैदिक विधान में संन्यासी भी दान का सत्पात्र है। साधु द्वार-द्वार पर मधुकरी करते हैं। वे ऐसा धन-प्राप्ति के लिये नहीं करते; वरन् उनका उद्देश्य प्रचार करना है। यह पद्धति है कि वे द्वार-द्वार पर जाकर गृहस्थों को प्रगाढ़ अज्ञान-निद्रा से जगाते हैं। कुटुम्ब के प्रपंच में फंसे गृहस्थों को अपने जीवन के इस लक्ष्य का विस्मरण हो गया है कि हृदय में सोयी कृष्णभावना को उद्बुद्ध करना है। अतः संन्यासियों का कर्तव्य बनता है कि भिक्षा के लिए उनके घरों में जाकर उनमें कृष्णभावना का संचार करें। वेद आह्वान कर रहे हैं कि जागृत होकर मानव योनि के प्रयोजन को सिद्धकर लेना चाहिये। सन्यासी इसी ज्ञान और साधन-पद्धति का प्रचार करते हैं। अतएव इन संन्यासी, ब्राह्मण, आदि सत्पात्रों को ही दान करना चाहिए, स्वेच्छापूर्वक जिस-किसी को नहीं।

यशः का स्वरूप श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुसार होना चाहिये। उनका कहना है कि जो मनुष्य शुद्धभक्त के रूप मे प्रख्यात हो जाता है, उसे शाश्वत् यश की प्राप्ति होती है। यही सच्चा यश है और कृष्णभावनाभावित महापुरुष ही यथार्थ मे यशस्वी है। जिसे यह यश नहीं है, वह कलंकित **(अयशः)** है।

उपरोक्त सारे गुण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मानव और देव समाजों मे प्रकट रहते हैं। अन्य लोकों में रहने वाले नाना प्रकार के मनुष्यों में भी इनकी अभिव्यक्ति है। कृष्णभावना मे उन्नति के अभिलाषी के लिए श्रीकृष्ण इन गुणों का सृजन करते हैं, जिससे साधक अपने अन्तर में उन्हे स्वय विकसित कर लेता है। भाव यह है कि भगवान् के विधान के अनुसार भगवद्भक्ति-परायण मनुष्य में सम्पूर्ण सद्गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

हम जो कुछ अच्छा-बुरा देखते है, श्रीकृष्ण उस सब के मूल हैं। इस ससार में अभिव्यक्त होने वाला ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो श्रीकृष्ण में स्थित न हो। इसका नाम ज्ञान है। वस्तुओं में परस्पर भेद होते हुए भी हमें यह जान लेना चाहिये कि सब कुछ श्रीकृष्ण से ही आता है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

अनुवाद

सात महर्षि, चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि और चौदह मनु—ये सब मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं और मेरे ही चिन्तन के परायण हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है।।६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ससार की प्रजा का आनुवशिक वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मा उन परमेश्वर की हिरण्यगर्भ नामक शक्ति से जन्मे प्रथम जीव हैं। यथासमय ब्रह्मा से सात महर्षि, चार उनसे भी पूर्व के सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक महर्षि, और मनु प्रकट होते हैं। यही पच्चीस महर्षि ब्रह्माण्डवर्ती सम्पूर्ण प्राणियों के प्रजापति हैं। ब्रह्माण्ड असख्य है और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असख्य लोक हैं। प्रत्येक लोक विविध योनियों के प्राणियो से परिपूर्ण है। इन सब का जन्म पच्चीस प्रजापतियो से होता है। ब्रह्मा को एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करने के बाद श्रीकृष्ण की कृपा से सृष्टि करने की विधि का ज्ञान हुआ था। फिर उनसे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार, रुद्र और सात महर्षि आदि उत्पन्न हुये। इस प्रकार श्रीभगवान् की शक्ति ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों आदि की उत्पत्ति का कारण है। इसीलिए ग्यारहवें अध्याय (११.३९) में ब्रह्मा को पितामह और श्रीकृष्ण को **प्रपितामह** कहा है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

अनुवाद

जो मेरे इस ऐश्वर्य और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है, वह निस्सन्देह मेरी अनन्य भक्ति के परायण हो जाता है।।७।।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

अनुवाद

मैं प्राकृत-जगत् और वैकुण्ठ, दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न होता है और चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्व मे समझ कर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से निरन्तर मेरा भजन करते हैं।।८।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अनुवाद

मेरे शुद्धभक्त निरन्तर मेरे चिन्तन में तन्मय रहते हैं, उनके प्राण मेरी सेवा में ही अर्पित रहते हैं। परस्पर एक दूसरे को मेरी महिमा का बोध कराने और मेरी वार्ता करने में उन्हें अतुलनीय सन्तोष और आनन्द की प्राप्ति होती है—वे उसी में रमण किया करते हैं।।९।।

तात्पर्य

यहाँ जिन शुद्धभक्तों के लक्षणों का उल्लेख है, वे नित्य-निरन्तर पूर्णरूप से अनन्य प्रेममयी भगवद्भक्ति के परायण रहते हैं। उनका चित्त श्रीकृष्ण के चरणारविन्द से क्षण भर के लिये भी विचलित नहीं किया जा सकता। वे आपस में केवल भगवच्चर्चा करते है। इस श्लोक में शुद्धभक्तों के लक्षणों का विशेष रूप से वर्णन है। ये भक्त चौबिस घण्टे निरन्तर श्रीभगवान् के मधुर लीलारस-गुणगान में मग्न रहते हैं। उन लीलारस-लोलुपों के चित्त-प्राण निरन्तर रसराज श्रीकृष्ण में ही निमज्जित रहते है; अन्य भक्तो के साथ भगवच्चर्चा करने में उन्हें अनुपमेय रस का आस्वाद मिलता है।

भक्तियोग की प्रारम्भिक दशा मे भक्त उस सेवा के चिन्मय आनन्द का रस लेते हैं और परिपक्व दशा में यथार्थ भगवत्प्रेम को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध सत्त्वमयी दिव्य अवस्था में उन्हें उस परम रस का आस्वादन सुलभ हो जाता है, जिसका प्रकाश स्वयं श्रीभगवान् अपने धाम में करते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्तियोग को जीव के हृदय-प्रागण में बीज का आरोपण करने की उपमा दी है। ब्रह्माण्ड के नाना लोकों में असंख्य जीव भटक रहे हैं। इनमें से जो दुर्लभ भाग्यवान् हैं, उन जीवों को शुद्धभक्त के आश्रय में भक्तियोग की शिक्षा पाने का सुयोग मिलता है। यह भक्तियोग एक बीज जैसा है। यदि जीव-हृदय में इसका आरोपण कर दिया जाय और वह **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के निरन्तर श्रवण-कीर्तन रूपी जल से इसको सींचता रहे, तो वृक्ष के बीज के समान यह भक्ति-बीज भी अंकुरित हो जायगा। इससे निकली दिव्य भक्ति-लता शनैः शनैः बढ़ती हुई ब्रह्माण्डीय आवरण का भेदन कर परव्योम की ब्रह्मज्योति में प्रविष्ट हो जाती है। परव्योम में भी वह भक्ति-लता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है और अन्त में श्रीकृष्ण के परमधाम—गोलोक वृन्दावन तक पहुँच जाती है।

वहाँ वह श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय लेकर विश्राम करती है। यदि श्रवण-कीर्तन रूपी सिंचन अविराम चलता रहे, तो भक्ति-लता में फल भी लगता है। 'चैतन्यचरितामृत' में इस भक्ति-लता का विशद वर्णन है। उसके अनुसार भक्ति-लता के द्वारा श्रीभगवान् के चरणों की शरण ले लेने पर भक्त कृष्णप्रेम में मत्त हो उठता है। इस दशा मे अपने प्रभु का क्षणभर का भी विरह उसके परम असह्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे जल के बिना मछली प्राणधारण नहीं कर सकती। इस भावाविष्ट अवस्था में श्रीभगवान् के सान्निध्य के प्रताप से भक्त को सम्पूर्ण दिव्य गुणों की उपलब्धि हो जाती है।

श्रीमद्भागवत श्रीभगवान् और उनके भक्तों में होने वाले भक्तिरस की कथाओं से परिपूर्ण है; इसीलिए श्रीमद्भागवत भक्तों को प्राणोपम प्रिय है। श्रीमद्भागवत का यह अप्रतिम वैशिष्ट्य है कि इसके वर्णन में प्राकृत क्रियाओं, इन्द्रियतृप्ति अथवा मोक्ष का लेश भी नहीं है; यही वह कथा है जिसमें श्रीभगवान् और उनके भक्तों के स्वरूप का सर्वांगीण वर्णन हुआ है। अतएव आश्चर्य नहीं कि कृष्णभावनाभावित भगवत्प्राप्त पुरुषों को भागवती कथा के श्रवण में उसी प्रकार नित्य नवायवान आनन्दरस की अनुभूति होती है, जैसी युवक-युवती को परस्पर संग करने से होती है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

अनुवाद

उन निरन्तर भक्ति के परायण, प्रेमसहित मुझे भजने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझ को प्राप्त हो जाते हैं।।१०।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

अनुवाद

उनपर अनुग्रह करने के लिये, उनके हृदय में बैठा मैं स्वयं अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को ज्ञान के प्रकाशमय दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ।।११।।

तात्पर्य

जब श्रीचैतन्य महाप्रभु वाराणसी में हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—इस महामन्त्र के संकीर्तन का प्रवर्तन कर रहे थे, तो

हजारों मनुष्य उनके अनुगामी हो गए। तत्कालीन काशी के अत्यन्त प्रभावशाली विद्वान् प्रकाशानन्द श्रीचैतन्य को भावुक कहकर उनका उपहास किया करते। कभी-कभी दार्शनिक भक्तों की निन्दा करते हैं: उनकी धारणा में अधिकांश भक्त अज्ञानान्ध और दर्शन शास्त्र से अपरिचित भावुक मात्र हैं। परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। भक्तों में अनेक विद्वच्चूड़ामणि हुए हैं और उन्होंने भक्ति-दर्शन का विशद प्रतिपादन भी किया है। यदि भक्त इन ग्रन्थों अथवा गुरु से लाभ न उठाये, तो भी उसकी निष्किंचन भक्ति से द्रवित होकर अन्तर्यामी श्रीकृष्ण स्वयं उसकी सहायता करेंगे। कृष्णभावना-परायण निष्किंचन भक्त अज्ञानी नहीं रह सकता। इसके लिए केवल इतना ही योग्यता चाहिए कि पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण रहे।

आधुनिक दार्शनिकों के मत में विवेक-बुद्धि के बिना शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। उनके लिये श्रीभगवान् ने इस श्लोक में यह उत्तर दिया—जो शुद्ध भक्तियोग में लगे हुए हैं, वे भक्त यदि पर्याप्त शिक्षा और वैदिक ज्ञान से विहीन भी हों, तो इस श्लोक के अनुसार भगवान् स्वय उनकी सहायता करते हैं।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उनके तत्त्व को मनोधर्म से जानने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि परम सत्य इतना महान् है कि उसे केवल मानसिक प्रयास से जाना अथवा पाया नहीं जा सकता। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और समर्पण भाव के बिना करोड़ों वर्ष की मनोधर्मी के बाद भी उनका तत्त्वज्ञान नहीं होगा। परम सत्य श्रीकृष्ण केवल भक्तियोग से प्रसन्न होते हैं और अपनी अचिन्त्य शक्ति से शुद्धभक्त के हृदय में अपने को स्वयं प्रकट करते हैं। शुद्धभक्त के हृदय में श्रीकृष्ण का शाश्वत् निवास है; वे उस सूर्य के सदृश हैं, जो अज्ञानरूपी अन्धकार को हर लेता है। यह शुद्धभक्त पर श्रीकृष्ण की अशेष-विशेष कृपा है।

करोड़ों जन्म-जन्मान्तरों के विषयसंग के कारण जीव का चित्त निरन्तर विषयवासना रूपी मल से दूषित रहता है। परन्तु भक्तियोग में तत्पर होकर 'हरेकृष्ण' महामन्त्र का निरन्तर कीर्तन करने से यह मल तत्काल धुल जाता है और शुद्ध ज्ञान उद्दीप्त हो उठता है। परम लक्ष्य श्रीकृष्ण इस कीर्तन और भक्तिनिष्ठा से ही प्राप्त हो सकते हैं, मनोधर्म अथवा तर्क से नहीं। शुद्धभक्त जीवन की आवश्यकताओं के लिए कभी चिन्ता नहीं करता, उसे कोई चिन्ता नहीं सताती. क्योंकि जब वह अज्ञान रूपी अंधकार से हृदय को शुद्ध कर लेता है, तो उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए श्रीभगवान् स्वयं सब पदार्थ उपलब्ध करा देते हैं। यही गीता के शिक्षामृत का सार है।

गीता-अध्ययन करके मनुष्य पूर्णरूप से श्रीभगवान् के शरणागत होकर शुद्ध भक्तियोग के परायण हो सकता है। संचालन की बागडोर जैसे ही प्रभु के पाणिपल्लवों में जाती है कि वह सब प्रकार के लौकिक प्रयत्नों से मुक्त हो जाता है।

अर्जुन उवाच।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो ! आप परमब्रह्म, परमधाम, पावन परमतत्त्व और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि आप का इस प्रकार गुण-गान करते हैं और आप स्वयं भी मुझे इस का वर्णन सुना रहे हैं।।१२-१३।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

अनुवाद

हे कृष्ण ! मुझ से आपने जो कुछ भी कहा है, इसे मैं सम्पूर्ण रूप से सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आप के स्वरूप को न तो देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।।१४।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

अनुवाद

हे भूतभावन ! हे परमेश्वर ! हे देवदेव ! हे पुरुषोत्तम ! हे जगत् के स्वामिन् ! वास्तव मे आप स्वयं ही अपने को अपनी शक्ति से जानते हैं।।१५।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

अनुवाद

कृपया मेरे लिए अपनी उन सम्पूर्ण दिव्य विभूतियों का वर्णन कीजिये, जिनके द्वारा आप इन सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।।१६।।

तात्पर्य

प्रतीत होता है कि अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान से तृप्त हो चुका है। श्रीकृष्ण की विशेष अनुकम्पा से उसे प्रत्यक्ष अनुभव, बुद्धि, ज्ञान और इन तीनों से होने वाला सम्पूर्ण बोध है। वह समझ गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। अब इस विषय में उसके लिए कोई संशय नहीं रहा है। फिर भी श्रीकृष्ण से उसकी प्रार्थना है कि वे अपने सर्वव्यापक स्वरूप का वर्णन करें, जिससे भविष्य के मनुष्य, विशेष रूप से, निर्विशेषवादी जान सकें कि अपनी नाना शक्तियों के द्वारा वे किस प्रकार सर्वव्यापी हैं। अतएव स्मरण रहे कि अर्जुन की यह जिज्ञासा जनसाधारण की ओर से ही है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

अनुवाद

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार आपका नित्य स्मरण-चिन्तन करूँ ? और हे भगवन् ! किन-किन रूपों में मुझे आपका स्मरण करना चाहिये ?।।१७।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

अनुवाद

हे जनार्दन ! अपनी योगशक्ति और विभूतियों को फिर विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आप के अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।।१८।।

श्रीभगवानुवाच।
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, अब मै तेरे लिए अपनी नित्य विभूतियों को मुख्य रूप से कहूँगा, क्योंकि हे अर्जुन ! मेरे ऐश्वर्य का अन्त नहीं है।।१९।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

अनुवाद

हे गुडाकेश! मैं सम्पूर्ण जीवो के हृदय में स्थित आत्मा हूँ तथा जीवमात्र का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।।२०।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

अनुवाद

अदिति के बारह पुत्रों में मैं विष्णु हूँ और ज्योतियों मे किरणमाली सूर्य हूँ, तथा मरुद्गणों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ।।२१।।

तात्पर्य

बारह आदित्यो में प्रधान होने से विष्णु श्रीकृष्ण के रूप है। आकाश की ज्योतियो में सूर्य मुख्य है। 'ब्रह्मसंहिता' में सूर्य को श्रीभगवान् का अशेष तेज और नेत्र रूप कहा गया है। मरीचि मरुद्गणो के अधीश्वर हैं। नक्षत्रों के मध्य यामिनी में चन्द्रमा का आधिपत्य रहता है; अत. वह श्रीकृष्ण का रूप हैं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

अनुवाद

मै वेदो में सामवेद हूँ; देवताओ में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों मे मन हूँ और जीवो में चेतना हूँ।।२२।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

अनुवाद

मैं सब रुद्रों में शिव हूँ; यक्ष-राक्षसों में धन-देवता कुबेर हूँ; वसुओं में मैं अग्नि हूँ और शिखरों में मेरु हूँ।।२३।।

तात्पर्य

ग्यारह रुद्रों में शंकर (शिव) प्रमुख हैं। वे श्रीभगवान् के गुणावतार हैं और ब्रह्माण्ड में

तमोगुण के अधिष्ठाता हैं। देवताओं के प्रधान कोषाध्यक्ष कुबेर भी श्रीभगवान् के रूप हैं। मेरु शिखर अपनी प्राकृतिक संपदा के लिये त्रिभुवन में विख्यात है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! पुरोहितों में मुख्य, भक्ति का स्वामी बृहस्पति मुझे जान; मैं ही सेनापतियों में युद्ध का अधीश्वर स्कन्द (कार्तिकेय) हूँ और जलाशयों में समुद्र हूँ।।२४।।

तात्पर्य

इन्द्र स्वर्ग का अधिपति और प्रधान है। उसके लोक को इन्द्रलोक कहा जाता है। देवराज इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति सब पुरोहितों में प्रधान हैं। जिस प्रकार इन्द्र देवराज है, उसी भाँति शिव-पार्वती के पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय) सब सेनापतियों के प्रधान हैं। सब प्रकार के जलाशयों में समुद्र की सब से अधिक महत्ता है। श्रीकृष्ण की इन विभूतियों से तो उनकी अनुपम महिमा का वस्तुत. आभास मात्र ही होता है।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

अनुवाद

महर्षियों में मैं भृगु हूँ, वाणी में मैं दिव्य ओंकार हूँ; यज्ञों में भगवन्नामजप-रूपी यज्ञ मैं ही हूँ और स्थावरों में मैं हिमालय हूँ।।२५।।

तात्पर्य

ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा ने विविध योनियों में सन्तति-विस्तार के लिए जिन अनेक पुत्रों को उत्पन्न किया, उन सब में भृगु सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। ये महर्षियों में प्रधान हैं। सब दिव्य वचनों में ओंकार श्रीभगवान् का रूप है। सब प्रकार के यज्ञों में **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।** महामन्त्र का जप-कीर्तन श्रीकृष्ण का सबसे शुद्ध स्वरूप है। कभी-कभी पशुयज्ञ का भी विधान किया जाता है, पर **हरे कृष्ण हरे कृष्ण** का यज्ञ इन सब से उत्तम है, क्योंकि इसमें कुछ हिंसा नहीं होती। इसीलिए यह यज्ञ परम सुगम और परम शुद्ध है। त्रिभुवन में जो कुछ भी उदात्त (भव्य) है, वह सब श्रीकृष्ण का रूप है। अतः संसार के सर्वाधिक उत्तुंग पर्वत—हिमालय भी उनके रूप हैं। 'मेरु' नामक शिखर का एक पिछले श्लोक में उल्लेख किया गया है; परन्तु मेरु कदाचित् जंगम भी हो जाता है, जबकि हिमालय नित्य स्थिर रहते हैं। इस दृष्टि से हिमालय

पर्वत मेरु से भी बढ़कर हैं।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

अनुवाद

सब वृक्षों में मैं पीपल का वृक्ष और देवर्षियों में नारद हूँ; गन्धर्वों में चित्ररथ तथा सिद्धों में कपिल मैं हूँ।।२६।।

तात्पर्य

पीपल का वृक्ष सबसे सुन्दर और उत्तुंग वृक्षों की कोटि में आता है; बहुत से व्यक्ति प्राय. प्रतिदिन प्रातःकाल उसकी अर्चना करते हैं। नारद मुनि की देवताओं में पूजा की जाती है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। भक्त होने के कारण वे भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। गन्धर्वलोक गानप्रवण जीवों से परिपूर्ण हैं। इन सब में चित्ररथ नामक गायक सर्वोत्तम हैं। चिरजीवियों में कपिलदेव को श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है। श्रीमद्भागवत में उनके दर्शन का प्रतिपादन है। परवर्ती काल में एक अन्य कपिल प्रसिद्ध हो गया, पर उसका दर्शन अनीश्वरवादी है। दोनों में वस्तुतः आकाश-पाताल का भेद है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! घोड़ों में सागर के अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा और गजराजों में ऐरावत नामक हाथी तथा मनुष्यों में राजा मुझ को ही जान।।२७।।

तात्पर्य

एक समय भक्त सुरों और अभक्त असुरों ने सागर का मन्थन किया। इस मन्थन से अमृत और विष दोनों निकले, जिसमें से विष का पान श्रीशिव जी ने कर लिया था। अमृत से अनेक रत्नों का उद्भव हुआ, जिनमें से एक उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा था। अमृत से ऐरावत नाम के गजराज की भी उत्पत्ति हुई। इन पशुओं की विलक्षण महत्ता है; इसलिए ये दोनों श्रीकृष्ण के रूप हैं।

मनुष्यों में राजा श्रीकृष्ण का रूप है; जैसे श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड-पालन करते हैं, वैसे ही दैवी गुणशील राजा अपने-अपने राज्य का पालन किया करते हैं। भगवान् राम, युधिष्ठिर और परीक्षित महाराज जैसे सभी राजा परम सदाचारी थे और सदा जनता के हित-चिन्तन में तत्पर रहते थे। वैदिक शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप

माना है। दुर्भाग्यवश, धर्मभ्रष्टता के कारण बर्तमान युग में राजतन्त्र बिल्कुल नष्ट हो गया है। परन्तु यह निश्चित है कि पूर्ववती धार्मिक राजाओं के शासन में जनता आज से कहीं अधिक सुखी थी।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

अनुवाद

शस्त्रों में मैं वज्र हूँ और गायों में कामधेनु हूँ; शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव और सर्पों में मुख्य वासुकि भी मैं हूँ।।२८।।

तात्पर्य

वज्र वास्तव में बड़ा ही शक्तिशाली आयुध है। यह श्रीकृष्ण की शक्ति का प्रतीक है। वैकुण्ठ-जगत् में कृष्णलोक की गाया से किसी भी समय यथेष्ट मात्रा में दुग्ध का दोहन किया जा सकता है। अवश्य ही, प्राकृत-जगत् की गायें इस प्रकार की नहीं हैं, पर शास्त्रों से कृष्णलोक में उनका होना निश्चित रूप से सिद्ध होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इन 'सुरभि' नामक गायों को प्रचुर संख्या में पालते हैं। वे नित्य गोचारण निरत हैं। सदाचारी-सन्तान की उत्पत्ति के लिये लक्षित काम 'कन्दर्प' कहलाता है, जो श्रीकृष्ण का एक रूप है। केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया मैथुन श्रीकृष्ण का रूप नहीं है। सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति में प्रयुक्त मैथुन ही कन्दर्प कहलाता है। यह भी श्रीकृष्ण की एक विभुति है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

अनुवाद

दिव्य नागों में मैं शेषनाग (अनन्त) हूँ और जलचरों में उनका अधिपति वरुण देवता हूँ; पितरों में अर्यमा नामक पितरेश्वर तथा शासन करने वालों में मृत्यु का नियन्ता यमराज मैं हूँ।।२९।।

तात्पर्य

नाना प्रकार दिव्य नागों में अनन्त (शेषनाग) सबसे महान् हैं और जलचरों में वरुण सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दोनों ही श्रीकृष्ण के रूप हैं। अर्यमा नामक पितरेश्वर एक वृक्षमय लोक के अधीश्वर हैं। ये भी श्रीकृष्ण की विभूति हैं। बहुत से शक्तिशाली दुष्टों के लिए दण्ड का विधान करते हैं; इन सब में यमराज प्रधान हैं। ये यमराज पृथ्वी के एक निकट के लोक में स्थित हैं। मृत्यु के बाद पापात्मा प्राणियों को

वहाँ ले जाया जाता है और यम उनके लिये यथोचित्त दण्ड का विधान करते हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

अनुवाद

दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ और दमन करने वालों में काल हूँ तथा पशुओं में सिंह और पक्षियों में मैं विष्णुवाहन गरुड़ हूँ।।३०।।

तात्पर्य

दिति और अदिति सगी बहनें हैं। इनमें से अदिति के पुत्र 'आदित्य' कहलाते हैं और दितिपुत्रों की 'दैत्य' संज्ञा है। सभी आदित्य भगवद्भक्त हैं, जबकि दैत्य नास्तिक हैं। दैत्यकुल में उत्पन्न होने पर भी प्रह्लाद बाल्य-काल से परम भागवत थे। उनके भक्तिभाव और देवोपम स्वभाव को देखते हुए उन्हें श्रीकृष्ण का रूप कहा जाता है।

सब प्रकार के दमनकारी तत्त्वों में काल श्रीकृष्ण का रूप है, क्योंकि समय के साथ प्राकृत-जगत् की प्रत्येक वस्तु का ह्रास हो जाता है। नाना प्रकार के पशुओं में सिंह सर्वाधिक शक्तिशाली एवं खूंखार है तथा पक्षियों की लाखों योनियों में भगवान् विष्णु के वाहन श्रीगरुड़जी सब से उत्कृष्ट हैं।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

अनुवाद

मैं पवित्र करने वालों में वायु हूँ और शस्त्रधारियों में राम हूँ, जलचरों मे मैं मगरमच्छ हूँ और नदियों में गंगा हूँ।।३१।।

तात्पर्य

मगरमच्छ बड़े जलचरों मे एक है और मनुष्य के लिए बहुत भयावह है। अतः यह श्रीकृष्ण की विभूति है। नदियों मे माँ गगा की सर्वोपरि महिमा है। रामायण के नायक भगवान् राम श्रीकृष्ण के एक विशेष अवतार हैं। ये योद्धाओं में सबसे बलशाली शूरवीर हैं।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! मैं ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त हूँ; सम्पूर्ण विद्याओं में अध्यात्मविद्या हूँ और विवाद करने वालों में मैं तत्त्व-निर्णायक वाद हूँ।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

अनुवाद

मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व समास हूँ तथा मैं ही अविनाशी काल और स्रष्टाओं में सब दिशाओं में मुख वाला ब्रह्मा हूँ।।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

अनुवाद

सब का नाश करने वाला मृत्यु और आगे होने वालो की उत्पत्ति का कारण भी मैं हूँ; स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

अनुवाद

मै मन्त्रों में, इन्द्र के लिए गाया जाने वाला बृहत्साम गान हूँ और छन्दों में ब्राह्मणों द्वारा नित्य उच्चारित गायत्रीमंत्र हूँ; महीनों में मार्गशीर्ष मास हूँ और ऋतुओं में मैं वसन्त हूँ।।३५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् पहले कह आये हैं कि सम्पूर्ण वेदों में सामवेद विशिष्ट है, क्योंकि यह विभिन्न देवताओं द्वारा गाए पद्यों से परिपूर्ण है। इन्हीं में से एक गीति का नाम 'बृहत्साम्' है। इस परमोत्तम मधुर सगीतमय श्रुति का गायन निशीथ (मध्यरात्रि) के समय किया जाता है।

संस्कृत में काव्य के लिए शास्त्र द्वारा निर्धारित विधान हैं। आधुनिक कविता की भाँति देवभाषा में लय और ताल की रचना मनमाने ढंग से नहीं की जाती। शास्त्रीय छन्दों में 'गायत्री' प्रधान है; इसलिए गुणवान् ब्राह्मण इसे जपते हैं।

श्रीमद्भागवत में भी इस मन्त्र का उल्लेख है। इसका विशेष प्रयोजन स्वरूप-साक्षात्कार है; इसलिए यह भी भगवान् का स्वरूप है। यह मन्त्र उत्तम साधकों के लिए है और इसकी जप-सिद्धि से विशुद्ध सत्त्व में स्थिति हो जाती है। अतः इस मन्त्र का जप करने के लिए सत्त्वगुण में स्थित होकर उपयुक्त सद्गुणों से युक्त हो जाना चाहिए। गायत्री मन्त्र की वैदिक संस्कृति में वस्तुत. बड़ी महिमा है। इसे ब्रह्म का नाद-अवतार माना जाता है। ब्रह्मा इसके गुरु हैं और उन्हीं की शिष्यपरम्परा में यह प्राप्त होता है।

मार्गशीर्ष मास अन्य सभी मासों से श्रेष्ठ है। इस समय खेतों से अन्न इकट्ठा किया जाता है और जनता आनन्दित रहती है। वसन्त ऋतु सम्पूर्ण विश्व में लोकप्रिय है ही, क्योंकि इस समय न अधिक उष्णता होती है और न ही अधिक शीत रहता है तथा कुसुम और वृक्ष मुकुलित होते हैं, फलते-फूलते हैं। वसन्त में श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित बहुत से महोत्सव भी आते हैं। सबसे अधिक आनन्दमयी ऋतु होने के नाते वसन्त श्रीकृष्ण का रूप है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

अनुवाद

मैं छल करने वालों में जुआ हूँ और प्रभावशालियों का प्रभाव हूँ। मैं विजय हूँ, मैं साहस हूँ और मैं ही बलवानों का बल हूँ।।३६।।

तात्पर्य

ससार भर में भाँति-भाँति के छल करने वाले है। द्युतकर्म इन सब छल-साधनों का मुकुटमणि है; इसलिए वह भी श्रीकृष्ण की विभूति है। परात्पर होने के कारण श्रीकृष्ण किसी भी मनुष्य से बढ़कर छल कर सकते हैं। यदि श्रीकृष्ण किसी को छलना चाहें तो उन्हें कोई भी नहीं हरा सकता। स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण की महानता एकांगी न होकर सर्वांगीण है।

विजेताओं में श्रीकृष्ण मूर्तिमान विजय हैं; प्रभावशाली पुरुषों के प्रभाव हैं; उद्यमी उद्योगपतियों में सर्वाधिक उद्यमी हैं; साहसिकों में परम साहसी हैं और बलवानों में परम बलशाली हैं। जब श्रीकृष्ण पृथ्वी पर प्रकट थे, तो कोई भी बल में उनका पार नहीं पा सका। यहाँ तक कि बाल्यकाल में उन्होंने गोवर्धन पर्वत को खेल-खेल में ही धारण कर लिया था। श्रीकृष्ण छल करने में अतुलनीय हैं, तेज में अतुलनीय हैं,

जय और साहस में अतुलनीय हैं तथा बल में भी अतुलनीय हैं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

अनुवाद

वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव हूँ और पाण्डवों में अर्जुन हूँ तथा मुनियों में वेदव्यास और कवियों में उशना (शुक्राचार्य) हूँ।।३७।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण आदिपुरुष स्वयं भगवान् हैं और वासुदेव उनके स्वयंप्रकाश हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलराम दोनों वसुदेवजी ने पुत्ररूप में प्रकट होते हैं। पाण्डवों में अर्जुन सर्वाधिक प्रख्यात और शूरवीर हैं। नरोत्तम होने के कारण वे श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं। वैदिक ज्ञान के विज्ञ मुनियों में व्यासदेव सबसे महान् हैं; उन्होंने वैदिक ज्ञान का नाना प्रकार से वर्णन किया, जिससे इस कलियुग के मनुष्य भी उसे समझ सकें। व्यासदेव श्रीकृष्ण के अवतार हैं, इसलिए भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। जो मनुष्य किसी विषय का सूक्ष्मार्थ विवेचन कर सकते हैं, उन्हें 'कवि' कहा जाता है। उशना (शुक्राचार्य) नामक कवि दैत्यों के गुरु थे। राजनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वतः परम बुद्धिमान् और दूरदर्शी होने के कारण श्रीकृष्ण की विभूतियों में उनकी गणना की गयी है।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

अनुवाद

मैं दण्ड करने वालों का दण्ड हूँ और विजय की इच्छा वालों की नीति हूँ; गोपनीय भावों मे मौन तथा ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ।।३८।।

तात्पर्य

विविध प्रकार के दमनकारी तत्त्वों में उनका सबसे अधिक महत्त्व है, जो दुष्टों का नाश करते हैं। दुष्ट-दमन के लिये प्रयुक्त दण्ड श्रीकृष्ण का रूप है। किसी भी क्रियाक्षेत्र में विजय के अभिलाषियों में रीति की ही अन्तिम विजय होती है। सुनना, सोचना, मनन करना आदि गोपनीय क्रियाओं में मौन सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, मौन से अतिशीघ्र उन्नति होती है। ज्ञानी वह है, जो जड़ प्रकृति और आत्मा में तथा श्रीभगवान् की परा और अपरा शक्तियों में भेद को जानता हो। यह ज्ञान साक्षात् श्रीकृष्ण का स्वरूप है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अनुवाद

हे अर्जुन! अधिक क्या, मैं ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदिबीज हूँ। ऐसा चराचर कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना हो।।३९।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

अनुवाद

हे शत्रुविजयी अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नही है। यह तो मैंने तेरे लिए अपनी विभूतियों का विस्तार सक्षेप से कहा है।।४०।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

अनुवाद

जो जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान।।४१।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अनुवाद

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है? तू केवल इतना जान ले कि अपने एक अशमात्र से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके मैं इसमे व्याप्त हो रहा हूँ।।४२।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् परमात्मारूप से सब सत्त्वों मे प्रवेश करके सम्पूर्ण प्राकृत-सृष्टि में व्याप्त हो रहे हैं। यहाँ वे अर्जुन से कहते हैं कि नाना वस्तुओं के ऐश्वर्य और उत्कर्ष को अलग-अलग जानने का कोई अर्थ नही है। उसके लिए केवल इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता इसीलिए है कि श्रीकृष्ण ने उन सब में परमात्मारूप से प्रवेश किया है। उसे जानना चाहिए कि सब से बड़े जीव, ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक सबके सब प्राणी जीवित हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक में श्रीभगवान् का प्रवेश है; वे ही उन

सबका पालन-पोषण कर रहे हैं।

इस श्लोक से सिद्ध हो जाता है कि देवताओं की उपासना करना योग्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं में श्रीभगवान् के ऐश्वर्य का केवल एक अंश है। श्रीभगवान् सब के आदिकारण हैं, उनसे अधिक महिमामय दूसरा कोई नहीं है। वे असमोर्ध्व हैं, अर्थात् उनके समान कोई नहीं है, फिर बड़ा तो होगा ही क्यों कर। '*विष्णुमन्त्र*' मे *कहा गया है कि श्रीभगवान् को ब्रह्मा और शिव आदि किसी देवता के* समान माननेवाला उसी क्षण नास्तिक हो जाता है। परन्तु यदि श्रीकृष्ण की शक्ति के नाना ऐश्वर्यों और प्रकाशों की कथाओं का गम्भीर स्वाध्याय किया जाय, तो श्रीकृष्ण का तत्त्व निश्चित रूप से जानने में आ सकता है और परिणाम में मन भी श्रीकृष्ण की आराधना में अनन्य भाव से निवेशित हो सकता है। श्रीभगवान् का अंश-प्रकाश परमात्मा सब पदार्थों में प्रविष्ट है, इसलिए वे सर्वव्यापी हैं। अत. शुद्धभक्त पूर्ण भक्तिभाव के साथ कृष्णभावना में निमग्न-चित्त हो जाते और इससे नित्य शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते है। आठवें से ग्यारहवें श्लोक तक भक्तियोग का तथा श्रीकृष्ण की आराधना का अतिशय विशद निर्देश है। शुद्ध भक्ति का यही मार्ग है। इस अध्याय में उस साधन का पूर्ण विवरण है, जिसके द्वारा भक्तियोग की परम संसिद्धि, अर्थात् श्रीभगवान् के सग की प्राप्ति हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगोनाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

इति भक्तिवेदान्तभाष्ये दशमोऽध्यायः।।

अथैकादशोऽध्यायः



विश्वरूपदर्शनयोग

(श्रीभगवान् का विश्वरूप)

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो! आपने कृपापूर्वक मुझसे जिस अध्यात्म-विज्ञान का रहस्यमय उपदेश कहा, उसे सुनने से मेरा यह मोह नष्ट हो गया है।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण हैं—यह अध्याय इसी रहस्य को उद्घाटित करता है। वे महाविष्णु के भी कारण हैं और उन्हीं से प्राकृत-सृष्टि उत्पन्न होती है। श्रीकृष्ण अवतार नहीं हैं; वे सम्पूर्ण अवतारों के उद्गम हैं, अवतारी हैं। पूर्ववर्ती दसवें अध्याय में यह तत्त्व सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादित हो चुका है।

अब, जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, वह स्वयं कहता है कि उसका मोह नष्ट

हो गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीकृष्ण को अब वह साधारण मनुष्य और अपना सखा ही नहीं मानता; वह जान गया है कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के मूल हैं। अर्जुन परम प्रबुद्ध हो चुका है और यह जानकर आनन्दसिन्धु में निमग्न है कि श्रीकृष्ण जैसे महान् सखा से उसका सख्य है। परन्तु साथ ही, विचार करता है कि उसके द्वारा श्रीकृष्ण को सब कारणो का कारण स्वीकार कर लेने पर भी हो सकता है कि दूसरे ऐसा न करें। अतएव श्रीकृष्ण स्वय भगवान् हैं, इस सत्य को जीवमात्र के लिये सार्वभौम रूप से स्थापित करने के उद्देश्य से अर्जुन ने इस अध्याय में श्रीकृष्ण से अपने विश्वरूप का दर्शन कराने की प्रार्थना की है। वास्तव में जब भी किसी को श्रीकृष्ण के विश्वरूप का दर्शन होता है, तो वह अर्जुन की ही भाँति भयभीत हो जाया करता है। परन्तु श्रीकृष्ण इतने कृपामय है कि उस विश्वरूप का दर्शन देकर फिर से अपना मूल द्विभुज रूप धारण कर लेते है। श्रीकृष्ण ने बारबार जो कुछ कहा है, अर्जुन उसे सत्य मानता है। उसका कल्याण हो, इसीलिए श्रीकृष्ण उसे उपदेश कर रहे हैं और अर्जुन भी स्वीकार करता है कि उसके मोह का निवारण उनकी अहैतुकी कृपा का ही फल है। उसे अब पूर्ण विश्वास है कि श्रीकृष्ण सब कारणो के परम कारण और जीवमात्र के अन्तर्यामी परमात्मा हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

अनुवाद

हे कमलनयन! मैंने जीवो की उत्पत्ति और प्रलय का तत्त्व आपसे विस्तारपूर्वक सुना है और आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है, जिससे इस तत्त्व की अनुभूति होती है।।२।।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

अनुवाद

हे परमेश्वर! हे पुरुषोत्तम! यद्यपि यहाँ अपने सामने मैं आपके स्वयं रूप का दर्शन कर रहा हूँ, फिर भी हे प्रभो! आपका वह रूप देखना चाहता हूँ, जिससे आप इस सृष्टि में प्रविष्ट हुए हैं। विभो! मैं आपका वही रूप देखना चाहता हूँ।।३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् पूर्व में कह आये हैं कि उन्होंने अंशरूप से प्राकृत ब्रह्माण्ड में प्रवेश

किया है; इसी कारण इस सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति है। जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, उसे श्रीकृष्ण के वचनों में लेशमात्र संशय नहीं है। परन्तु श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने वाले भावी मनुष्यों में श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, यह निष्ठा जागृत करने के लिए वह उनके विश्वरूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता है। वह देखना चाहता है कि ब्रह्माण्ड से असंग होने पर भी श्रीकृष्ण उसमें किस प्रकार क्रियाशील हैं। श्रीकृष्ण से अर्जुन का यह निवेदन गूढार्थ रखता है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और इस कारण अर्जुन के भी अन्तर्यामी हैं। अतएव वे अर्जुन की वाँछा को जानते हैं और समझ सकते हैं कि अर्जुन में निजी रूप से विश्वरूपदर्शन की कोई विशेष इच्छा नहीं है। वह उनके कृष्णरूप के दर्शन से पूर्ण तृप्त है। वे जानते हैं कि अन्य मनुष्यों में वे भगवान् हैं, इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य को लेकर ही अर्जुन उनके विश्वरूप दर्शन के लिय उत्कण्ठित है। उसे अपने लिए श्रीकृष्ण की भगवत्ता का कोई प्रमाण नहीं चाहिए। श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन विश्वरूप के दर्शन से एक कसौटी स्थापित करना चाहता है, क्योंकि भविष्य में अपने को भगवत्-अवतार कहने वाले धूर्तों की बहुलता होगी। अतः जनता सावधान रहे, जो अपने को कृष्ण बताता है, उसे जनता के सामने अपने दावे को प्रमाणित करने के लिये विश्वरूप दिखाने को तैयार रहना चाहिये।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम।।४।।

अनुवाद

यदि आपके विचार में मेरे द्वारा आपका वह विश्वरूप देखा जा सकता है, तो हे प्रभो! हे योगेश्वर! कृपया उसी अविनाशी रूप का मुझे दर्शन कराइये।।४।।

तात्पर्य

शास्त्र का सिद्धान्त है कि प्राकृत इन्द्रियों से भगवान् श्रीकृष्ण को न तो देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है और न अनुभव ही किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई प्रारम्भ से भगवद्भक्ति के परायण रहे तो वह श्रीभगवान् का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है। जीवात्मा चैतन्य का एक अणु मात्र है, इसलिए वह अपने बल पर परम चैतन्य परमेश्वर श्रीकृष्ण को देख अथवा तत्त्व से जान नहीं सकता। भक्त अर्जुन ज्ञानमार्ग की अनुमान शक्ति पर निर्भर नहीं है। उसने माना है कि जीव होने के कारण वह सर्वथा अपूर्ण है, जबकि श्रीकृष्ण अनन्त हैं, उनकी महिमा अगाध है। अर्जुन समझ सकता है कि जीव अपने उद्यम से अनन्त को नहीं जान सकता; अनन्त द्वारा कृपापूर्वक अपने को

उद्घाटित करने पर ही वह उनका तत्त्व जान पाता है। श्रीभगवान् के लिए यहाँ **योगेश्वर** शब्द महत्त्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि वे अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न हैं, इसलिए यदि चाहें तो अनन्त होने पर भी अपने को प्रकट कर सकते हैं। अस्तु, अर्जुन श्रीकृष्ण से उनके अचिन्त्य अनुग्रह की याचना कर रहा है, आदेश नहीं दे रहा। श्रीकृष्ण तब तक किसी को अपना दर्शन कराने को बाध्य नहीं हैं, जब तक वह कृष्णभावनाभावित होकर पूर्ण रूप से उनके शरणागत और भक्तिनिष्ठ न हो जाय; मनोधर्म के बल पर निर्भर रहने वाले मनुष्य के लिए उनका दर्शन अलभ्य है।

श्रीभगवानुवाच।
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! हे पार्थ ! अब तू मेरी विभूतियों—सागर के सदृश नाना वर्ण और आकार वाले सैकड़ों-हजारों दिव्य रूपों को देख।।५।।

तात्पर्य

अर्जुन श्रीकृष्ण के उस विश्वरूप के दर्शन का अभिलाषी है, जो लोकोत्तर होते हुए भी प्रकट सृष्टि के निमित्त से प्रकाशित होता है और इस कारण जो माया के अनित्य-कालचक्र से बाधित है। माया के समान ही श्रीकृष्ण का यह विश्वरूप भी समय-समय पर प्रकट-अप्रकट हुआ करता है। यह श्रीकृष्ण के स्वयंरूपों के समान वैकुण्ठ में नित्य नहीं रहता। भगवद्भक्त सामान्यतः इस विश्वरूप के दर्शन की इच्छा नहीं करता। परन्तु अर्जुन इसे देखने के लिए उत्कंठित है; इसलिए श्रीकृष्ण इसे प्रकट कर रहे हैं। यह विश्वरूप किसी साधारण मनुष्य के लिए दर्शनीय नहीं है। श्रीकृष्ण की शक्ति से ही इसका दर्शन हो सकता है।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन ! यहाँ मुझमें आदित्यों को, अर्थात् अदिति के बारह पुत्रों को, आठ वसुओं को, ग्यारह रुद्रों को और अन्य सभी देवताओं को देख तथा और भी बहुत से ऐसे आश्चर्यमय रूपों को देख, जिन्हें पहले किसी ने देखा-सुना नहीं है।।६।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अनुवाद

तुझे जो कुछ भी देखने की इच्छा हो, वह सब मेरे इस शरीर में इसी समय देख सकता है। इस समय जो देखना चाहे अथवा भविष्य में भी जो कुछ देखने की तेरी इच्छा हो, वह सब इस विश्वरूप में देख ले। यहाँ चराचर सम्पूर्ण जगत् दृष्टिगोचर है।।७।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अनुवाद

परन्तु अपने चर्म-चक्षुओं से तू मुझे नहीं देख सकेगा। इसलिए तुझे दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे तू मेरी योगशक्ति और ऐश्वर्य को देख सके।।८।।

तात्पर्य

शुद्धभक्त द्विभुज-रूप के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के अन्य किसी रूप को देखने की अभिलाषा नहीं रखता। भक्त को उनके विश्वरूप का दर्शन उन्हीं की कृपा से मिली दिव्य-दृष्टि से करना है, मन से नहीं। श्रीकृष्ण के विश्वरूप के दर्शनार्थ अर्जुन को अपनी दृष्टि बदलने को ही कहा गया है, चित्त को नही। श्रीकृष्ण के विश्वरूप की अधिक महत्ता नहीं है, जैसा अनुवर्ती श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। तथापि, क्योंकि अर्जुन उसे देखने का अभिलाषी है, इसलिए श्रीभगवान् उसे वह दृष्टि दे रहे हैं, जिससे उस विश्वरूप का दर्शन हो सकता है।

श्रीकृष्ण के साथ यथार्थ रस-सम्बन्ध वाले भक्त प्रेममय रूपों के प्रति ही आकृष्ट होते हैं, ऐश्वर्यों के निरीश्वर प्रदर्शन से नहीं। श्रीकृष्ण के सहचर, सखा तथा माता-पिता यह कभी नहीं चाहते कि श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्य का प्रकाश करें। वे शुद्धप्रेम में डूबे रहते हैं और इतना भी नहीं जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्ण के साथ प्रेमरस का विनिमय करते हुए यह विस्मृति सी हो जाती है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि वृन्दावन मे श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने मे मग्न सभी बालक परम पुण्यात्मा हैं; बहुत जन्मों तक तपश्चर्या करने के बाद कहीं जाकर उन्हें श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने का सुयोग मिला है। ये बालक नही जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, वे तो उन्हें अपना सखा ही मानते हैं। जहाँ परमपुरुष को

महर्षिगण ब्रह्म मानते हैं और भक्त भगवान् मानते हैं, वहीं साधारण मनुष्य उन्हें माया का कार्य समझते हैं। वास्तव में विश्वरूप दर्शन से भक्त का कोई प्रयोजन नहीं है। अर्जुन तो केवल श्रीकृष्ण के वाक्य को सिद्ध करने के लिये उसे देखना चाहता था, जिससे भविष्य में होने वाले मनुष्य यह समझ सकें कि श्रीकृष्ण ने अपने को परम सत्य घोषित ही नहीं किया; बल्कि अर्जुन को वास्तव में अपने इस रूप का दर्शन भी कराया। अर्जुन के लिये इस तथ्य को प्रमाणित करना आवश्यक है, क्योंकि उससे परम्परा का प्रारम्भ हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्वबोध के लिये जो अर्जुन के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हैं, उन मनुष्यों को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण ने केवल परम सत्य होने का दावा ही नहीं किया, अपने इस रूप को वास्तव में प्रकट भी किया।

श्रीभगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के लिये पर्याप्त शक्ति दी है, यद्यपि जैसा पूर्व वर्णन है, वे जानते हैं कि अर्जुन उसे अपने लिए नहीं देखना चाहता।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे राजन् ! इस प्रकार कह कर परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने ऐश्वर्यमय विश्वरूप का दर्शन कराया।।९।।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

अनुवाद

अर्जुन ने उस विश्वरूप में असंख्य मुखों और नेत्रों को देखा। श्रीभगवान् का वह सर्वआश्चर्यमय रूप दिव्य प्रकाशवान् भूषणों और नाना प्रकार के परिधानों से अलंकृत था। उन्होंने दिव्य माला धारण कर रखी थी और हाथों में अनेक दिव्य शस्त्र उठाये हुए थे तथा उनका विग्रह विविध सुगन्धों से उपलिप्त था। अधिक क्या, वह रूप परम उज्ज्वल, सर्वव्यापक एवं अनन्त था। अर्जुन ने यह सब साक्षात् देखा।।१०-११।।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

अनुवाद

यदि आकाश में हजारों सूर्यों का एक साथ उदय हो तो उन से उत्पन्न प्रकाश भी श्रीभगवान् के उस विश्वरूप के तेज के समान कदाचित् ही हो।।१२।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

अनुवाद

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त सम्पूर्ण जगत् को भगवान् श्रीकृष्ण के उस कलेवर में एक स्थान पर स्थित देखा।।१३।।

तात्पर्य

तत्र शब्द का गम्भीर आशय है। इससे प्रकट होता है कि जब अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन किया, उस समय श्रीकृष्ण-अर्जुन दोनो रथ पर आसीन थे। युद्धभूमि में अन्य योद्धा इस रूप को नहीं देख सके, क्योंकि श्रीकृष्ण ने केवल अर्जुन को ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के विग्रह में सहस्रों ब्रह्माण्डों को देखा। जैसा वैदिक शास्त्रों से ज्ञात है, सृष्टि में अनेक ब्रह्माण्ड और लोक हैं। उनमें से कुछ मृण्मय हैं; कुछ हिरण्यमय हैं; कुछ मणिमय हैं; कुछ अति बड़े हैं और कुछ इतने बड़े नही है, इत्यादि। अर्जुन ने अपने रथ पर बैठे-बैठे ही इन सब लोको को देखा। परतु श्रीकृष्ण और अर्जुन में परस्पर क्या वार्ता हो रही है, यह कोई नहीं जान सका।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

अनुवाद

उस रूप को देखकर आश्चर्य से चकित और पुलकित शरीर वाला अर्जुन श्रीभगवान् को सिर से प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए प्रार्थना करने लगा।।१४।।

अर्जुन उवाच।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे

सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

अनुवाद

हे देवाधिदेव श्रीकृष्ण ! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को और नाना प्रकार के अन्य प्राणियों को देख रहा हूँ। कमल पर आसीन ब्रह्मा, शिवजी, ऋषियों और दिव्य सर्पों को भी देखता हूँ।।१५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

अनुवाद

हे सम्पूर्ण जगत् के स्वामिन्! आपके विश्वरूप को अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त और सब ओर से अनन्त रूप वाला देखता हूँ। आपके इस रूप का न तो आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

अनुवाद

नाना प्रकार के मुकुटों, गदा और चक्र से सुशोभित आपका रूप अपने उस तेजोमय प्रकाश के कारण देखने में अति गहन है, जो सूर्य के समान प्रज्वलित और अगाध है।।१७।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

अनुवाद

प्रभो ! आप ही जानने योग्य परमब्रह्म हैं, आप ही जगत् के परम आश्रय, पुराण पुरुष हैं और आप ही सनातनधर्म के रक्षक अविनाशी भगवान् हैं, ऐसा मेरा मत है।।१८।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं　शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

अनुवाद

देव ! आप आदि, अन्त और मध्य से रहित आदिपुरुष हैं। आपकी भुजाओं और सूर्य-चन्द्ररूप नेत्रों की अनन्त संख्या है और अपने तेज से आप इस सम्पूर्ण विश्व को तपायमान कर रहे हैं।।१९।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

अनुवाद

सम्पूर्ण आकाश, विविध लोक और उनका बीच का अन्तरिक्ष, यह सब एक आप से ही परिव्याप्त हो रहा है। हे महात्मन् ! आपके इस भयंकर रूप को देखकर संपूर्ण लोक अति व्यथा को प्राप्त होते हैं।।२०।।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

अनुवाद

देववृन्द आपकी शरण लेकर आपमें प्रवेश कर रहे हैं। अत्यन्त भयभीत होने के कारण उनमें से कुछ दूर से ही हाथ जोड़े हुए प्रार्थना कर रहे हैं और महर्षि और सिद्धों के समुदाय कल्याण हो, ऐसा कहकर वैदिक मन्त्रों से आपकी स्तुति करते हैं।।२१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

अनुवाद

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वदेव, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण और पितर तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण आदि सभी विस्मय-विस्फारित हुए आपको देखते हैं।।२२।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

अनुवाद

हे महाबाहु! आपके बहुत से मुख, नेत्र, हाथ, जघा और पैरों वाले एव अनेक उदरों से युक्त विकराल जाड़ों वाले इस महान् रूप को देखकर देवताओं सहित सब लोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ।।२३।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

अनुवाद

हे सर्वान्तशायी विष्णो! आकाश के साथ स्पर्श करते हुए देदीप्यमान नाना रूपों से युक्त तथा फैलाये हुए मुख और तेजोमय विशाल नेत्रों वाले आप को देखकर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धैर्य और शान्ति को नहीं पाता हूँ।।२४।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

अनुवाद

हे देवाधिदेव! हे जगन्निवास! आपके विकराल दाँतों वाले प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मैं सुख को प्राप्त नहीं होता हूँ। सब दिशाओं से मुझे मोह की ही प्राप्ति हो रही है। इसलिए हे प्रभो! आप प्रसन्न हों।।२५।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः।।२७।।

अनुवाद

वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र अपने पक्ष के राजाओं के साथ तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के योद्धा भी वेगपूर्वक विकराल दाँतों वाले आपके मुखों मे प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ तो चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच लगे हुए भी दिखते हैं।।२६-२७।।

तात्पर्य

पूर्व श्लोक में श्रीभगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि वे अर्जुन को ऐसे दृश्य देखायेंगे, जिन्हें देखना उसे हार्दिक रुचिकर होगा। अर्जुन इस समय भीष्म, द्रोण, कर्ण और धृतराष्ट्रपुत्रों आदि महारथियों सहित विपक्षी सैनिकों को और अपने दल के योद्धाओं को भी कालकवलित होते हुए देख रहा है। यह इस ओर संकेत करता है कि दोनों पक्षों की भारी क्षति होने पर भी अन्त में अर्जुन युद्ध में विजयी रहेगा। यहाँ यह भी इंगित है कि अजेय समझे जाने वाले भीष्म तक का विनाश हो जायगा। इसी प्रकार कर्ण भी मारा जायगा। युद्ध में भीष्म आदि विपक्षीय योद्धा ही काल के ग्रास नहीं बनेंगे; वरन् अर्जुन के पक्ष के बड़े-बड़े योद्धा भी वीरगति को प्राप्त होंगे।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

अनुवाद

जिस प्रकार नदियों के जलप्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते हैं, वैसे ही ये सब शूरवीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।।२८।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

अनुवाद

मैं देखता हूँ कि ये सब उसी प्रकार नाश के लिए पूर्ण वेग से आपके मुखो में प्रवेश कर रहे हैं, जैसे पतंग अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में वेग से गिरते हैं।।२९।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

अनुवाद

हे विष्णो! हे विश्वव्यापिन्! मै देखता हूँ कि आप अपने प्रज्वलित मुखों से सम्पूर्ण लोक को ग्रसते हुए सब ओर से चाट रहे है तथा आपका उग्र प्रकाश ब्रह्माण्ड को तेज से परिपूर्ण कर के जगत् को तपा रहा है।।३०।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

अनुवाद

हे देवाधिदेव! कृपया कहिये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं? मैं आपको प्रणाम करता हूँ; मुझपर प्रसन्न होइए। हे आदिस्वरूप! मैं आपको जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता।।३१।।

श्रीभगवानुवाच।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मैं लोकों का नाश करने के लिए बढा महाकाल हूँ और इस समय इन लोको को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए तुम पाण्डवो के अतिरिक्त यहाँ दोनो सेनाओ के सब योद्धा मृत्यु को प्राप्त होंगे; तेरे युद्ध न करने पर भी इनका नाश अवश्य होगा।।३२।।

तात्पर्य

यह जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण उसके सखा और स्वयं भगवान् है, अर्जुन उनके द्वारा प्रकटित विविध रूपों को देखकर परम विस्मित हो उठा। अतएव उसने इस प्रलयकारी शक्ति-प्राकट्य का उद्देश्य जानना चाहा। वेदो मे उल्लेख है कि परमसत्य श्रीभगवान् ब्रह्मासहित सभी कुछ नष्ट कर देते है। **यस्य ब्रह्मे च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थावेद यत्र सः।** अन्त मे ब्राह्मणो, क्षत्रियों तथा अन्य सभी को श्रीभगवान् ग्रस लेते है। परमेश्वर का वह रूप सर्वभक्षक विराट् है। यहाँ श्रीकृष्ण ने सब का नाश करने वाले अपने उसी महाकाल रूप को प्रकट किया है। पाण्डवो के अतिरिक्त, युद्धभूमि मे विद्यमान सभी योद्धा उनके ग्रास बनेगे।

अर्जुन को युद्ध करना अनुकूल प्रतीत नहीं हो रहा था। उसका विचार था कि युद्ध न करना अधिक उत्तम होगा, इससे कम से कम निराशा तो नही होगी। इस तर्क के उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसके युद्ध से उपरत हो जाने पर भी वे सब विपक्षी नष्ट अवश्य होंगे, क्योकि उनकी ऐसी ही इच्छा है। यदि अर्जुन युद्ध नही करेगा, तो भी वे योद्धा किसी और प्रकार से कालकवलित हो जायेंगे। भाव यह है कि उसके युद्ध न करने से उनकी मृत्यु का निवारण नही हो सकेगा। वे तो वस्तुत. पहले ही मर चुके है। प्रकृति का नियम है कि सब का क्षयकारी काल श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार सब का नाश कर देता है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

अनुवाद

अतएव तू खड़ा होकर युद्ध के लिये कटिबद्ध हो और शत्रुओं को मार कर महान् यश और समृद्ध राज्य को प्राप्त कर। ये सब शूरवीर पहले ही मेरे द्वारा मारे हुये हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र हो।।३३।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण आदि सब महारथी मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। इसलिए निर्भय होकर युद्ध कर; निःसन्देह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा।।३४।।

सञ्जय उवाच।
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

अनुवाद

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, हे राजन्! श्रीभगवान् से इन वचनों को सुनकर भयभीत अर्जुन काँपता हुआ हाथ जोड़ कर बारम्बार प्रणाम करके गद्गद वाणी से बोला।।३५।।

अर्जुन उवाच।
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।३६।।

अनुवाद

हे हृषीकेश! आपका नाम-संकीर्तन सुनकर सम्पूर्ण विश्व अति हर्षित और आपमें अनुरक्त हो रहा है। सभी सिद्धप्राणी आपको प्रणाम करते हैं; जबकि राक्षसगण भयभीत होकर दिशाओं में भाग रहे हैं। यह सब योग्य ही है।।३६।।

तात्पर्य

कुरुक्षेत्र-युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के वचन को सुनकर भक्त अर्जुन प्रबुद्ध हो गया। उसने स्वीकार किया कि श्रीकृष्ण जो कुछ करते हैं, वह सब योग्य है। वह मान रहा है कि श्रीकृष्ण भक्तों के पालनकर्ता और आराध्य हैं तथा दुष्टों का विनाश करने वाले हैं। उनकी क्रिया सभी के लिये समान रूप से कल्याणकारी है। अर्जुन जानता है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति के कारण अनेक देवता, सिद्ध तथा उच्चलोकों के निवासी आकाश से उस युद्ध का निरीक्षण कर रहे हैं। जब उसे प्रभु के विश्वरूप का दर्शन हुआ तो देवता प्रसन्न हुए, परन्तु असुर और अनीश्वरवादी श्रीभगवान् के संकीर्तन को सहन नहीं कर सके। असुरों को श्रीभगवान् के उस प्रलयकारी रूप से स्वभावतः बड़ा भय होता है, इसलिए वे पलायन कर गये। अर्जुन ने भक्तों और नास्तिकों से यथायोग्य व्यवहार करने के लिए श्रीकृष्ण की स्तुति की। भक्त सब अवस्थाओं में श्रीकृष्ण का जयजयकार करता है। वह जानता है कि वे जो भी क्रिया करते हैं, उसमें प्राणीमात्र का कल्याण है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

अनुवाद

हे महात्मन्! आप ब्रह्मा के भी बड़े आदिकर्ता हैं। वे आपको नमस्कार कैसे न करें। क्योंकि हे अनन्त! हे जगन्निवास! आप ही तो सब कारणों के कारण और इस जगत् से परे परम अक्षर हैं।।३७।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

अनुवाद

प्रभो ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप ही इस प्राकृत-जगत् के एकमात्र आश्रय हैं। आप सब कुछ जानते हैं और जो कुछ जानने योग्य है, वह भी आप ही हैं। हे अनन्तरूप ! यह सम्पूर्ण सृष्टि आप से व्याप्त है।।३८।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण सृष्टि श्रीभगवान् के आश्रय में स्थित है; अतएव वे ही परमाश्रय हैं। **निधानम्** का अर्थ है कि ब्रह्मज्योति सहित सब कुछ भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है। इस संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का उन्हे ज्ञान है और वे ही सम्पूर्ण ज्ञान के लक्ष्य है। अत. उन्हे **वेत्ता** और **वेद्य** कहा गया है। सर्वव्यापक होने के रूप में वे वेद्य (जानने योग्य) है; परमधाम के कारण होने से गुणातीत हैं तथा वे ही वैकुण्ठ-जगत् मे प्रधानपुरुष है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

अनुवाद

प्रभो ! आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। अतएव आपके लिये हजारों बार नमस्कार है, फिर भी बारम्बार नमस्कार है।।३९।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को वायु कहा गया है, क्योकि वह सर्वव्यापक प्रधान देवता है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पितामह भी कहा है।कारण, वे जगत् के प्रथम जीव—ब्रह्मा के पिता हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

अनुवाद

हे अनन्त सामर्थ्य वाले प्रभो ! आपको आगे से नमस्कार है और पीछे से भी नमस्कार है। हे अमितपराक्रम ! आप सब संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए आप ही सर्वरूप है।।४०।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

अनुवाद

हे अचिन्त्यप्रभाव प्रभो! आपकी इस महिमा को न जानते हुए सखा मानकर मैंने आपको प्रेम से अथवा प्रमाद से भी 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!'—ऐसे सम्बोधित किया है और हे अच्युत! विहार, एक शय्या पर शयन करते हुए तथा साथ-साथ भोजन आदि में अनेक बार अकेले में अथवा उन सखाओं के सामने भी आप मेरे द्वारा अपमानित किये गये। कृपया मेरा वह सब अपराध क्षमा करें।।४१-४२।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

अनुवाद

हे विष्णो! आप इस चराचर सम्पूर्ण जगत् के पिता और परम पूजनीय गुरु हैं। हे अनन्त-प्रभाव! त्रिलोकी में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होगा?।।४३।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

अनुवाद

प्रभो! आप प्राणीमात्र के आराध्य परमेश्वर हैं। इस कारण हे नाथ! मैं आपके चरणों में गिरकर और प्रणाम करके आपकी कृपा की याचना करता हूँ। मेरे अपराधों को क्षमा करके मुझ पर उसी भाँति प्रसन्न हो जाइये, जैसे पिता पुत्र के, सखा सखा के और प्रेमी अपने प्रियतम के अपराध को सहन करता है।।४४।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अनुवाद

हे नाथ! पहले न देखे हुए आपके इस अद्भुत विश्वरूप के दर्शन से मैं हर्षित हो रहा हूँ; पर मेरा चित्त भय से आकुल भी हो रहा है। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! मुझ पर प्रसन्न होकर अपने उसी चतुर्भुज रूप को फिर से प्रकट कीजिये।।४५।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

अनुवाद

हे विश्वमूर्ति! मैं आप को मुकुट धारण किये हुए तथा शंख, चक्र, गदा और पद्म से युक्त चतुर्भुज रूप मे देखने को आतुर हूँ। इसलिए हे सहस्रबाहु! अपने उसी चतुर्भुज रूप को प्रकट कीजिए।।४६।।

तात्पर्य

'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है कि श्रीभगवान् नित्य सहस्रो रूपो में हैं, जिनमे राम, नृसिह, नारायण, आदि रूप प्रधान हैं। उनके ऐसे असख्य रूप हैं। अर्जुन जानता है कि अस्थायी विश्वरूप को धारण करने वाले श्रीकृष्ण साक्षात् स्वय भगवान् है, इसलिए अब वह उनका चिन्मय नारायण रूप देखना चाहता है। इस श्लोक से श्रीमद्भागवत का यह सिद्धांत निश्चित होता है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अन्य सब रूपो का प्रादुर्भाव उन्ही से है। वे अपने अंशों से भिन्न नहीं है; अपने प्रत्येक रूप में वे

भगवान् हैं। सभी रूपों में श्रीकृष्ण नित्य नवकिशोर रहते हैं, क्योंकि यह भगवान् का शाश्वत् स्वरूप-लक्षण है। श्रीकृष्ण को इस प्रकार जानने वाला तत्काल प्राकृत-जगत् के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच।
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मैंने तुझ पर अनुग्रहपूर्वक प्राकृत-जगत् के अन्तर्गत यह विश्वरूप तुझे अपनी योगशक्ति के प्रभाव से दिखाया है। तेरे पूर्व किसी ने भी इस अनन्त तेजोमय रूप को नहीं देखा है।।४७।।

तात्पर्य

अर्जुन को श्रीभगवान् के विश्वरूप के दर्शन की अभिलाषा थी। अतएव अपने भक्त के लिये स्वरूपभुता करुणा से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने उसी पूर्ण तेजोमय और ऐश्वर्यशाली विश्वरूप का दर्शन कराया। यह रूप सूर्य के सदृश तेजोमय था और उसके अनेक मुख थे, जो तीव्र गति से परिवर्तनशील थे। सखा अर्जुन की मनोकामना-पूर्ति के लिये ही श्रीकृष्ण ने वह रूप दिखाया। इसे उन्होंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से प्रकट किया, जिसका तत्त्व मनुष्य के लिए अचिन्त्य है। अर्जुन से पूर्व श्रीभगवान् के इस रूप को किसी ने नहीं देखा था। किन्तु अर्जुन को दिखाये जाते समय स्वर्ग और अन्तरिक्ष के अन्य लोकों में स्थित भक्तों को भी इसका दर्शन हुआ। भाव यह है कि श्रीकृष्ण ने अनुग्रहपूर्वक अर्जुन के प्रति जिस विश्वरूप को प्रकट किया, उसका दर्शन उनके सभी परम्परागत भक्तों को हुआ। एक व्याख्याकार का कथन है कि जब श्रीकृष्ण सन्धि-प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गए थे, तो उसे भी विश्वरूप का दर्शन हुआ था। दुर्भाग्यवश, दुर्योधन ने शान्ति-प्रस्ताव को नहीं माना। इस पर श्रीकृष्ण ने अपने कतिपय विराट् रूप प्रकट किये। वे रूप अर्जुन को दिखाये इस रूप से भिन्न हैं। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि इस रूप को पूर्व में किसी ने कभी नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अनुवाद

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! तुझ से पहले किसी ने भी मेरे इस विश्वरूप का दर्शन नहीं किया है, क्योंकि न वेदों के स्वाध्याय से, न यज्ञों से, न दान से और न तपादि के द्वारा ही मेरा यह विश्वरूप देखा जा सकता है। केवल तूने इसका दर्शन किया है।।४८।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

अनुवाद

मेरे इस भयंकर रूप को देखकर तू बिल्कुल व्याकुल और मोहित मत हो। हे भक्तशिरोमणि! भय से मुक्त होकर प्रीतिभरे मन से मेरे उसी रूप का दर्शन कर जिसके लिए तू इतना उत्कण्ठित है।।४९।।

सञ्जय उवाच।
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

अनुवाद

संजय ने कहा, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर उसे चतुर्भुज रूप दिखाया और अन्त में फिर अपना द्विभुज रूप धारण करके भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।।५०।।

तात्पर्य

जब वसुदेव और देवकी के पुत्ररूप में श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ, तो पहले-पहले वे चतुर्भुज नारायण रूप में ही प्रकट हुए थे। तत्पश्चात्, माता-पिता के प्रार्थना करने पर उन्होंने साधारण बालक का सा रूप धारण कर लिया। यहाँ भी श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन की रुचि वास्तव में उसके चतुर्भुजरूप को देखने में नहीं

है। तथापि, उसके द्वारा कहे जाने पर उन्होंने इस रूप को भी पुनः दिखाया और फिर अपना द्विभुजरूप प्रकट किया। सौम्यवपु शब्द आशयपूर्ण है। इसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण का द्विभुजरूप 'अतिशय मधुर' है। वास्तव में परम आकर्षक है। इसी से जब वे इस धरा-धाम पर थे, तो प्राणीमात्र उनके रूप-लावण्य पर मंत्र-मुग्ध की भाँति अनुरक्त हो गया था। श्रीकृष्ण जगत् के नियन्ता हैं, इसलिए अपने भक्त अर्जुन के भय का पूर्ण रूप से निवारण करके अपने मधुरातिमधुर रूप को उन्होंने फिर दिखाया। 'ब्रह्मसंहिता' के अनुसार जिसके नेत्र प्रेमरूपी अंजन से विच्छुरित (उपलिप्त) हों, वही श्रीकृष्ण की इस रूप-माधुरी का दर्शन-आस्वादन कर सकता है।

अर्जुन उवाच।
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

अनुवाद

जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण के मूल द्विभुजरूप का दर्शन किया तो वह कहने लगा, प्रभो! आपके इस परम मधुर नराकार रूप को देखकर अब मैं शान्तचित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ।।५१।।

श्रीभगवानुवाच।
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।।५२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे जिस रूप का तू अब दर्शन कर रहा है, वह देखने को अति दुर्लभ है। देवता भी इस मधुर रूप को देखने के लिये नित्य उत्कण्ठित रहते हैं।।५२।।

तात्पर्य

इस अध्याय के अड़तालिसवें श्लोक में विश्वरूप का सवरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि विविध पुण्यकर्मों, यज्ञादि साधनों से भी इस रूप को देखा नहीं जा सकता। यहाँ सुदुर्दर्शनम् शब्द आया है, जिसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप का दर्शन तो उस विश्वरूप से भी कहीं अधिक दुर्लभ है। तपश्चर्या, वेदाध्ययन, दार्शनिक मनोधर्म आदि विभिन्न क्रियाओं में भक्ति का कुछ पुट हो, तभी विश्वरूप का दर्शन हो सकता है। भक्ति के बिना विश्वरूप का दर्शन कभी

नही हो सकता, यह विवेचन किया जा चुका है। इस विश्वरूप से अतीत होने के कारण श्रीकृष्ण के द्विभुज नराकार रूप का दर्शन तो और भी अधिक दुर्लभ है। ब्रह्मा, शिव आदि देववृन्द तक श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ नित्य लालायित रहते हैं। श्रीमद्भागवत में प्रमाण है कि जब वे माता देवकी के गर्भ में थे, तब स्वर्ग के सभी देवता उनके माधुर्य का दर्शन-आस्वादन करने वहाँ आये। उन्होंने प्रभु के प्रकट होने की आतुर-भाव से प्रतीक्षा भी की। मूर्ख मनुष्य उनका उपहास कर सकता है, परन्तु ऐसे साधारण मनुष्य का मूल्य ही क्या है। श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप को देखने की स्पृहा तो वस्तुत ब्रह्मा, शिव, आदि देवताओं तक को रहती है।

भगवद्गीता मे यह भी प्रमाणित किया है कि श्रीकृष्ण उन मूर्खों के दृष्टिगोचर नही होते, जो उनका उपहास करते हैं। जैसा 'ब्रह्मसंहिता' तथा भगवद्गीता मे स्वय श्रीभगवान् के वचन से सिद्ध है, श्रीकृष्ण का विग्रह पूर्ण रूप से अप्राकृत और सच्चिदानन्दमय है, अर्थात् प्राकृत देह से बिलकुल भिन्न है। परन्तु कुछ लोग भगवद्गीता आदि वैदिक शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने में सफल नहीं हो पाते। प्राकृत दृष्टिकोण वाले उन्हें केवल एक महान् ऐतिहासिक पुरुष या विद्वद्वरेण्य परम दार्शनिक मानते हैं। किंतु वास्तव में वे सामान्य मनुष्य नहीं हैं। कुछ का विचार है कि यद्यपि वे अतीव शक्तिशाली थे, फिर भी उन्हे प्राकृत शरीर धारण करना पड़ा। इसका कारण है—इस कोटि के मनुष्य परमसत्य को अन्तिम रूप मे निर्विशेष ही मानते है। उनके अनुसार, परमेश्वर अपने निर्विशेष रूप से मायिक भगवत्-रूप धारण करता है। यह श्रीभगवान् के सम्बन्ध मे प्राकृतधारणा है। एक अन्य मनोधर्ममयी धारणा भी है। ज्ञान के जिज्ञासु श्रीकृष्ण के तत्त्व का अनुमान लगाते है। उनके अनुसार परमसत्य का कृष्णरूप अर्जुन को दिखाये गये विश्वरूप से कम है। वे परमसत्य के साकार-सविशेष रूप को कल्पित मानते है। उनका विश्वास है कि अन्तिम रूप में परमसत्य पुरुष-विशेष न होकर निर्विशेष है। इसके विपरीत, अलौकिक पद्धति का प्रतिपादन गीता के द्वितीय अध्याय मे है— प्रामाणिक आचार्यों से रसमयी श्रीकृष्णकथा सुनना। वास्तव में यही सच्चा वैदिकपथ है। अतएव जो यथार्थ वैदिक परम्परा में हैं, वे आचार्यों से कृष्णकथा सुनते हैं। इस प्रकार निरन्तर कृष्णकथा सुनने से श्रीकृष्ण में अनुराग हो जाता है। बहुधा वर्णन किया जा चुका है, कि श्रीकृष्ण अपनी योगमाया-शक्ति से छिपे हुए हैं। वे सब किसी के आगे दृष्टिगोचर अथवा प्रकट नहीं होते; उनका दर्शन उसी को होता है, जिसके प्रति वे स्वयं अपने को प्रकाशित करें। वेदों में इसकी पुष्टि है—केवल शरणागत जीव परम सत्य को तत्त्व से समझ सकता है। अतएव नित्य-निरन्तर कृष्णभावनामृत-सिन्धु में निमग्न

योगी श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रताप से प्राप्त दिव्य दृष्टि के द्वारा श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार का साक्षात्कार देवताओं तक के लिये परम दुर्लभ है; वे भी श्रीकृष्ण को तत्त्वत- नहीं जान सकते। उच्च देवताओं को निरन्तर श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप के दर्शन की उत्कण्ठा रहती है। इस सब का निष्कर्ष है कि चाहे श्रीकृष्ण के विश्वरूप का दर्शन बडा दुर्लभ है और जिस-किसी को नही हो सकता, परन्तु उनके श्यामसुन्दर स्वरूप का दर्शन और ज्ञान तो इससे भी कहीं दुर्लभ है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

अनुवाद

हे अर्जुन। मेरे जिस रूप को तू अपने दिव्य नेत्रों से देख रहा है, उसे न वेदों से, न तप से, न दान से, और न केवल पूजा से ही जाना जा सकता है। इन साधनो के द्वारा मेरा तत्त्व से साक्षात्कार नही हो सकता।।५३।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा ही तेरे सामने खड़े मुझ को तत्त्व से जाना और प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भक्तियोग से ही मेरे तत्त्व के रहस्य में तेरा प्रवेश हो सकेगा।।५४।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो मनुष्य पूर्वकृत सकाम कर्म और ज्ञान से मुक्त होकर मेरी शुद्धभक्ति मे तत्पर है और मेरे परायण है तथा प्राणीमात्र का मित्र है, वह निस्सन्देह मुझ को ही प्राप्त होता है।।५५।।

तात्पर्य

जो परमधाम कृष्णलोक में पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त होकर उनसे अतरंग सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसे स्वयं श्रीभगवान् द्वारा कहे इस मन्त्र को

अंगीकार करना होगा। अतएव इस श्लोक को गीता का सार कहा जा सकता है। भगवद्गीता ग्रन्थ का प्रयोजन उन बद्धजीवों से है. जो प्रकृति पर प्रभुत्व करने के उद्देश्य से इस प्राकृत-जगत् में क्रियाशील हैं और जिन्हें यथार्थ भागवतजीवन का ज्ञान नहीं है। भगवद्गीता स्वरूपभूत आत्मतत्त्व और श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को जानकर अपने घर—भगवान् के धाम को लौटने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस श्लोक में पारमार्थिक क्रिया—भक्तियोग में सफलता की पद्धति का स्पष्ट प्रतिपादन है। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, अपनी सम्पूर्ण शक्ति कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही लगानी चाहिये। ऐसा कोई कार्य न करे, जो श्रीकृष्ण की सेवा से सम्बन्ध न रखता हो। इसकी सज्ञा **कृष्णकर्म** है। विविध क्रियाओं में तत्पर रहा जा सकता है; परन्तु इनके फल में आसक्त न होकर उसे श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यापार करता हो तो व्यापार के लाभ को श्रीकृष्ण की सेवा में लगाने से वह भी कृष्णभावनाभावित कर्म बन जायगा। भक्त की दृष्टि में व्यापार के स्वामी श्रीकृष्ण हैं। अतः लाभांश का उपभोग भी वे ही करें। इस प्रकार प्रत्येक व्यापारी अपने धन को श्रीकृष्ण के प्रति अर्पण कर सकता है। यह श्रीकृष्ण का सेवाकार्य है। निजेन्द्रियतृप्ति के लिये भवन बनाने के स्थान पर वह श्रीकृष्ण के लिये एक सुन्दर मन्दिर बनाकर श्रीकृष्ण-मूर्ति को स्थापित कर शास्त्र-विधि से उनकी सेवा की व्यवस्था कर सकता है। यह सब **कृष्णकर्म** है। कर्मफल में अनासक्त रहकर उसे श्रीकृष्ण को समर्पित कर देना चाहिये। श्रीकृष्ण को अर्पित नैवेद्य को प्रसाद के रूप में ग्रहण करे। यदि मन्दिर-निर्माण की सामर्थ्य न हो तो श्रीकृष्ण के मन्दिर का मार्जन ही करे। यह भी **कृष्णकर्म** है। पुष्पवाटिका लगाये। उपलब्ध भूमि पर पुष्प लगाकर उनसे श्रीकृष्ण का श्रृंगार करे। तुलसी-कानन लगाना अत्यन्त आवश्यक है; स्वयं श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में इसका विधान किया है। श्रीकृष्ण चाहते हैं कि भक्तिभाव से उन्हें पत्र-पुष्प अथवा केवल जल का ही अर्पण किया जाय। वे इतने से ही प्रसन्न हो जाते हैं। **पत्रपुष्प** से विशेषतः तुलसी का निर्देश है। अतएव तुलसी लगाकर उसका अभिसिंचन करे। इस प्रकार परम दरिद्री भी कृष्णसेवा कर सकता है। **कृष्णकर्म** करने के ये कुछ उदाहरण हैं।

मत्परमः शब्द उस मनुष्य का वाचक है, जो परमधाम में श्रीकृष्ण के संग की प्राप्ति को जीवन की परम सिद्धि मानता है। चन्द्र, सूर्य आदि उच्च लोकों की तो बात ही क्या, ऐसा व्यक्ति तो इस ब्रह्माण्ड के परमोच्च लोक—ब्रह्मलोक को भी नहीं जाना चाहता। इसके लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं होता। उसे तो बस परव्योम गमन की स्पृहा लगी रहती है। परव्योम में भी उसे देदीप्यमान ब्रह्मज्योति में विलीन होने से

सन्तोष नहीं होता। वह केवल श्रीकृष्ण के गोलोक वृन्दावन नामक परमधाम में प्रवेश करना चाहता है। उस परमलोक का पूर्ण तत्त्वज्ञान हो जाने पर फिर किसी अन्य लोक में रमणीय बुद्धि नहीं रह सकती। जैसा **मद्भक्त** शब्द से स्पष्ट है, वह अनन्य भाव से भक्तियोग में पूर्णरूप से मग्न रहता है। विशेष रूप से वह श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्ति के इन नौ साधनों के परायण रहता है। मनुष्यमात्र यथाशक्ति भक्ति के इन नौ अंगों का, आठ का, सात का अथवा एक ही अंग का आचरण करे। ऐसा करने से जीवन् अवश्य सार्थक एवं कृतार्थ हो जायगा।

संगवर्जितः पद अति महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण-विमुखों के संग को बिल्कुल त्याग देना चाहिए। केवल अनीश्वरवादी ही श्रीकृष्ण से विमुख नहीं हैं, सकाम कर्म और मनोधर्म के परायण रहने वाले भी इसी कोटि में आते हैं। **भक्तिरसामृतसिन्धु** में शुद्धभक्ति का यह विवरण है: **अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतं आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।** इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामिचरण ने निश्चित रूप से कहा है कि शुद्ध-अनन्य भक्ति करने के लिये सब प्रकार के सांसारिक विकारों से मुक्त होना आवश्यक है। शुद्धभक्ति के अभिलाषी को सकामकर्म और मनोधर्म में आसक्त मनुष्यों के संग का भी त्याग करना होगा। इन अनर्थकारी संगों और विषयवासना के दोष से मुक्त होकर अनुकूलतापूर्वक श्रीकृष्ण के सेवन को शुद्धभक्ति कहा जाता है। **आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।** श्रीकृष्ण का स्मरण और कृष्णकर्म अनुकूलभाव से करे, प्रतिकूलतापूर्वक नहीं। कंस श्रीकृष्ण का वैरी था। अतः उनके जन्म से ही वह उन्हें मारने के लिये योजनायें बनाने लगा। परन्तु ऐसा करने में सदा असफल रहने के कारण उसे नित्य श्रीकृष्ण का स्मरण बना रहता। अतएव कार्य करते, खाते, यहाँ तक कि सोते हुए भी वह सब प्रकार से कृष्णभावनाभावित रहता। परन्तु उसकी कृष्णभावना अनुकूल नहीं थी; इस कारण नित्य चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के चिन्तन में निमग्न रहने पर भी उसे असुर ही माना गया और अन्त में श्रीकृष्ण ने उसका वध किया। यह अवश्य सत्य है कि श्रीकृष्ण जिसका वध करते हैं, वह तत्क्षण मुक्त हो जाता है। किन्तु शुद्धभक्त का लक्ष्य यह नहीं है। शुद्धभक्त को तो मुक्ति की भी स्पृहा नहीं रहती। परमधाम गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करने के लिए भी वह आतुर नहीं होता। वह जहाँ कहीं भी रहे, उसका एकमात्र लक्ष्य श्रीकृष्ण की सेवा के परायण रहना है।

कृष्णभक्त प्राणीमात्र में मित्रभाव रखता है। इसीलिए यहाँ कहा है कि उसका कोई शत्रु नहीं होता। यह कैसे हो सकता है? कृष्णभावनाभावित भक्त जानता है कि

एकमात्र कृष्णभक्ति ही जीव को जीवन के सब दु:खों से मुक्त कर सकती है। उसे इसका निजी अनुभव है, इसलिए वह मानवसमाज में कृष्णभावना-पद्धति का प्रवर्तन करना चाहता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध है, जब भक्तो ने भगवद्भावना के प्रसार के लिये अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया। इस सन्दर्भ में श्रीईसामसीह का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। उन्होंने भगवद्भाव के प्रचार में अभक्तों द्वारा सूली पर चढ़ाये जाने पर प्राणों की आहुति दी थी। अवश्य ही, ऐसा नहीं कि इस कारण उनकी मृत्यु हो गई। इसी प्रकार, भारत में हरिदास ठाकुर आदि भक्तों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। भक्त अपने प्राणो को सकट मे डालते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य है कि कृष्णभावना का प्रसार-प्रचार हो और यह कार्य सुगम नहीं है। कृष्णभावनाभावित पुरुष जानता है कि मनुष्य के दु:ख का कारण श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल बैठना है। अतएव किसी को भवरोग से मुक्त कर देना मानवसमाज का सबसे श्रेष्ठ उपकार-कार्य होगा। इस प्रकार शुद्धभक्त निरन्तर भगवत्-सेवा में तत्पर रहना है। इस सबसे हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि श्रीकृष्ण उन भक्तों पर कितनी अतिशय कृपा का परिवर्षण करते होंगे, जो अपना सर्वस्व दॉव पर लगा कर उनकी सेवा के परायण हैं। यह निश्चित है कि ये भक्त देह-त्याग कर श्रीकृष्ण के परमधाम को अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।

साराश मे कहा जा सकता है कि इस अध्याय मे श्रीकृष्ण ने अपना अस्थायी विश्वरूप, सब का नाश करने वाला महाकालरूप और चतुर्भुज विष्णुरूप भी प्रकट किया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्ण इन सब रूपो के उद्गम हैं। यह सत्य नहीं कि विश्वरूप आदि है और श्रीकृष्ण उसके अथवा विष्णुरूप के प्रकाश-विशेष हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही सब रूपों के मूल हैं। विष्णुरूप असख्य हैं, पर भक्त के लिये श्रीकृष्ण के मूल, द्विभुज श्यामसुन्दर रूप के अतिरिक्त अन्य कोई रूप महत्त्व नहीं रखता। *ब्रह्मसंहिता* के अनुसार श्रीकृष्ण के श्यामसुन्दर रूप में प्रेमभक्तिभाव वाले अनुरागी भक्तों को हृदय में नित्य निरन्तर उनका दर्शन हुआ करता है, अन्य कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता। अतएव, ग्यारहवें अध्याय का तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण का श्यामसुन्दर रूप परम सार और सर्वोपरि है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये एकादशोऽध्यायः।।

अथ द्वादशोऽध्यायः



भक्तियोग

(श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा)

अर्जुन उवाच।
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने पूछा, हे कृष्ण! जो आपकी भक्ति के परायण हैं और दूसरे जो निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में अधिक सिद्ध कौन है?।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण साकार, निराकार और विश्वरूप का तथा सब प्रकार के भक्तों और योगियों का वर्णन कर चुके हैं। साधारण रूप में योगियों का साकारवादी और निराकारवादी—इन दो कोटियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। साकारवादी भक्त अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। निराकारवादी सीधे

कृष्णसेवा के परायण न होकर निराकार ब्रह्म के ध्यान का अभ्यास करते हैं।

इस अध्याय के अनुसार परमसत्य-साक्षात्कार के नाना साधनों में भक्ति सर्वोत्तम है। यदि श्रीभगवान् के संग की कुछ भी अभिलाषा हो तो भक्तिमार्ग को अवश्य अंगीकार करना होगा।

श्रीभगवान् को सीधे भक्तियोग से भजने वाले साकारवादी भक्त कहलाते हैं। दूसरे, जो निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे निराकारवादी हैं। अर्जुन की जिज्ञासा है कि इनमें कौन सी स्थिति अधिक उत्तम है। परम सत्य की अनुभूति के अनेक मार्ग हैं; किन्तु श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में निर्णय किया है कि भक्तियोग सर्वोत्तम है। श्रीभगवान् का संग करने का यह सबसे सीधा और सुगम पथ है।

द्वितीय अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि जीवात्मा प्राकृत देह से भिन्न, परम सत्य (परतत्त्व) का अंश है। सातवें अध्याय में जीव को परम पूर्ण तत्त्व का भिन्न-अंश बता कर वे निर्देश करते हैं कि वह पूर्ण तत्त्व पर अपने चित्त को एकाग्र कर ले। आठवें अध्याय में उल्लेख है कि जो कोई मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का स्मरण करता है, वह तत्क्षण श्रीकृष्ण के परमधाम को प्राप्त कर लेता है तथा छठे अध्याय के अन्त में श्रीभगवान् कहते हैं कि सब योगियों में वह योगी परम सिद्ध है, जो अपने अन्तरात्मा से उन का निरन्तर अनन्य चिन्तन करता है। इस प्रकार गीता में सर्वत्र श्रीकृष्ण की भक्ति को ही स्वरूप-साक्षात्कार की परम सिद्धि घोषित किया गया है। फिर भी, बहुत से मनुष्य केवल श्रीकृष्ण की निर्विशेष ब्रह्मज्योति के प्रति आकृष्ट रहते है, जो परम सत्य (परतत्त्व) का सर्वव्यापक, अव्यक्त और इन्द्रियों से अतीत पक्ष है। अर्जुन जानना चाहता है कि इन दोनों कोटि के योगियों में किसका ज्ञान अधिक पूर्ण है। प्रकारान्तर से, अर्जुन स्वयं अपनी स्थिति के सम्बन्ध में आश्वस्त होना चाहता है, क्योंकि उसका अनुराग श्रीकृष्ण के स्वयंरूप में है। निराकार ब्रह्म में उसकी आसक्ति नहीं है। अतएव वह जानना चाहता है कि उसकी स्थिति ठीक है अथवा नही। प्राकृत-जगत् में तो क्या, वैकुण्ठ-जगत् में भी निराकार का ध्यान करना बहुत कठिन है। वस्तुत. परमसत्य के निराकार तत्त्व का भलीभाँति चिन्तन नहीं किया जा सकता। अतएव अर्जुन मानो कह रहा है— ''इस प्रकार समय को व्यर्थ करने से क्या लाभ ?'' अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में अनुभव हो चुका है कि श्रीकृष्ण के स्वयंरूप में अनुराग होना सर्वोत्तम है, क्योंकि इससे उसे उनके अन्य सब रूपों का एक ही समय बोध हो गया और उसके कृष्णप्रेम में भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। श्रीकृष्ण से अर्जुन की इस महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा के द्वारा परमसत्य (परतत्त्व) के साकार और निराकार स्वरूपों में अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

श्रीभगवानुवाच।
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे स्वयंरूप में मन को एकाग्र करके जो भक्तजन परम श्रद्धा सहित नित्य-निरन्तर मेरे भजन के परायण रहते हैं, उन्हें मैं परम सिद्ध योगी मानता हूँ।।२।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

अनुवाद

दूसरे जो इन्द्रियों को वश में करके और सब में समभाव रखते हुए परमसत्य के अव्यक्त, इन्द्रियों से अतीत, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, नित्य, अचल ब्रह्म स्वरूप की भलीभाँति उपासना करते हैं, वे प्राणीमात्र के हित में संलग्न योगी भी अन्त में मुझ को ही प्राप्त होते हैं।।३-४।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

अनुवाद

परन्तु जिनका चित्त परमसत्य के निराकार-निर्विशेष स्वरूप में आसक्त है, उनके लिए पारमार्थिक उन्नति करने में विशेष कष्ट है, क्योंकि देहाभिमानियों को यह अव्यक्त विषयक गति अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होती है।।५।।

तात्पर्य

जो योगी श्रीभगवान् के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप की उपासना करते हैं, उन्हें ज्ञानयोगी कहा जाता है तथा पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण मनुष्य भक्तियोगी कहलाते हैं। यहाँ ज्ञानयोग और भक्तियोग का अन्तर स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानयोग से भी अन्त में परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाया करती है, किन्तु साधन-अवस्था में यह पथ बहुत कष्टपूर्ण है। इसकी अपेक्षा,

भक्तियोग, अर्थात् साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा का पथ सुगम होने के साथ ही बद्धजीव का स्वाभाविक धर्म भी है। जीव अनादि काल से बद्ध है। उसके लिये केवल पुस्तकीय जानकारी के आधार पर यह जान पाना बड़ा कठिन है कि वह देह से भिन्न है। अतएव जीव की देहात्मबुद्धि के सदुपयोग के लिये भक्तियोग में श्रीकृष्ण के अर्चा-विग्रह की आराधना की जाती है। अवश्य ही, मन्दिर में विराजमान भगवत्-विग्रह की पूजा करना पत्थर को पूजना नहीं है। वैदिक शास्त्रों का प्रमाण है कि उपासना के सगुण-निर्गुण, दो भेद हैं। मन्दिर में भगवत्-विग्रह की पूजा सगुण उपासना कहलाती है। परन्तु पाषाण, काष्ठ, रग आदि प्राकृत गुणों के रूप में प्रकट होने पर भी भगवत्-विग्रह वास्तव में प्राकृत नहीं है, क्योंकि श्रीभगवान् अद्वय-स्वरूप है।

अर्चा-विग्रह का तत्त्व एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि हम मार्ग में स्थित किसी डाक के डिब्बे में अपना पत्र डालते हैं तो वह सहज में गन्तव्य तक पहुँच जाता है। किन्तु जिस-किसी अनधिकृत डिब्बे का उपयोग करने से हमारा प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता। इसी भाँति, अर्चा-विग्रह श्रीभगवान् का अधिकृत (प्रामाणिक) रूप है। यह अर्चा-विग्रह श्रीभगवान् का अवतार है, इसके माध्यम से श्रीभगवान् हमारे द्वारा निवेदित सेवा को स्वीकार करते है। श्रीभगवान् सर्वसमर्थ एवं सर्वशक्तिमान् हैं; अतः अपने अर्चा-विग्रह रूपी अवतार के द्वारा वे कृपापूर्वक भक्त की सेवा को ग्रहण कर सकते हैं। उनकी इस अहैतुकी कृपा से बद्धजीव को उनकी सेवा का अवसर सुगमता से सुलभ हो जाता है।

इस प्रकार भक्त के लिये श्रीभगवान् की अविलम्ब और सीधी प्राप्ति सब प्रकार से सुगम और सुखावह है, जबकि निराकारवादियो का पथ क्लेशमय है। निराकार-वादियो के लिये उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों से परमसत्य के निराकार स्वरूप को समझना आवश्यक है। साथ ही, भाषा का ज्ञान, इन्द्रियों से अतीत भावों और इन सभी पद्धतियों की अनुभूति की भी अपेक्षा है। साधारण मनुष्य के लिए यह सब सरल नहीं है। दूसरी ओर, भक्तियोग के परायण कृष्णभावनाभावित पुरुष प्रामाणिक गुरु का आश्रय ग्रहण करने, अर्चा-विग्रह की वन्दना करने, भगवद्गुणगान-श्रवण तथा भगवत्प्रसाद स्वीकार करने मात्र से सुगमतापूर्वक श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है। निस्सन्देह निराकारवादी व्यर्थ में एक ऐसे कष्टसाध्य मार्ग को अंगीकार किए हुए हैं, जिससे अन्त में भी परमसत्य की प्राप्ति होगी, यह निश्चित नहीं है। परन्तु भक्तजन किसी भी संकट, क्लेश अथवा कठिनाई के बिना सीधे-सीधे श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा एक श्लोक है। उसके अनुसार, अन्त में

श्रीभगवान् की शरण लेना जीवमात्र के लिये आवश्यक है (इस शरणागति का ही नाम भक्ति है)। पर यदि कोई सम्पूर्ण जीवन, 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म नहीं है', इस प्रकार मीमासा करने में ही व्यतीत कर दे, तो परिणाम में क्लेश ही क्लेश हाथ लगेगा। अतएव इस श्लोक में श्रीभगवान् का परामर्श है कि स्वरूप-साक्षात्कार के इस निराकार पथ को ग्रहण न करे, क्योकि इसका अन्तिम परिणाम अनिश्चित है।

जीवात्मा का निज स्वरूप सनातन है। यदि वह पूर्ण-तत्त्व में लीन होना चाहे, तो उसे अपने आदि स्वरूप के 'सत्' और 'चित्' की अनुभूति तो हो सकती है, परंतु 'आनन्द' अंश की अनुभूति नहीं हो सकेगी। ऐसा ज्ञानयोग में पूर्ण पारंगत योगी तक भक्तकृपा से भक्तियोग मे प्रवृत्त हो सकता है। उस समय निराकारवाद का सुदीर्घकालीन अभ्यास भी दु खदायी सिद्ध होता है, क्योंकि एक बार अपनाकर फिर इस धारणा को पूर्णरूप से त्यागना कठिन है। इस प्रकार निराकारवाद बद्धजीव के लिए साधन-अवस्था में ही नही, सिद्धावस्था में भी क्लेशदायी है। जीव को आंशिक स्वतन्त्रता मिली हुई है, अत उसे निश्चित रूप में यह जान लेना चाहिये कि यह निराकार अनुभूति वस्तुत उसके चिदानन्दमय स्वरूप के विपरीत है। अतएव यह पथ ग्रहण नहीं करना चाहिए। जीवमात्र के लिये कृष्णभावना का पथ, जिसमें पूर्ण रूप से भक्तियोग के परायण हो जाना होता है, सर्वोत्तम है। इस भक्तियोग की उपेक्षा करने से अनीश्वरवादी हो जाने का भय है। अस्तु, जैसा श्लोक में कहा जा चुका है, निराकार, अव्यक्त, अचिन्त्य तथा इन्द्रियों से अगोचर तत्त्व के ध्यान की पद्धति को किसी भी काल में, विशेषत वर्तमान कलियुग में प्रोत्साहित करना ठीक नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका परामर्श नहीं दिया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

अनुवाद

जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके और अनन्य भक्तियोग के परायण होकर नित्य-निरन्तर मेरा ही भजन-चिन्तन करते हैं, मुझ में एकान्त भाव से अनुरक्त मन वाले उन भक्तजनों का हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्युरूपी संसार-सागर से अति शीघ्र उद्धार करता हूँ।।६-७।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

अनुवाद

अपने मन को मुझ भगवान् में एकाग्र कर और संपूर्ण बुद्धि से मेरा ही चिन्तन कर। इसके अनन्तर निःसन्देह तू सदा मुझ में ही निवास करेगा, अर्थात् मुझ को ही प्राप्त होगा।।८।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के परायण मनुष्य का उन परमेश्वर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। अत उसकी स्थिति प्रारम्भ से ही दिव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। भक्त लौकिक स्तर पर नहीं रहता; वह श्रीकृष्ण में निवास करता है। श्रीभगवान् के पावन नाम और स्वयं श्रीभगवान् में भेद नहीं है। अतः जिस समय भक्त हरे कृष्ण कीर्तन करता है, उस समय श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंगा आह्लादिनी शक्ति उसके जिह्वा-प्रांगण में नाचा करते हैं। जब वह श्रीकृष्ण को भोग अर्पण करता है तो श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उस नैवेद्य को खाते हैं और उनके प्रसाद को खाकर भक्त भी कृष्णमय बन जाता है। जो इस सेवा के परायण नहीं है वह इसके मर्म को नहीं जान सकता, यद्यपि गीता तथा अन्य वैदिक शास्त्रों में भक्तिपथ का प्रतिपादन है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

अनुवाद

हे अर्जुन! यदि तू मन को मुझ में अचल रूप से एकाग्र नहीं कर सकता, तो भक्तियोग की विधि का अभ्यास कर। इससे तुझ में मेरी प्राप्ति की इच्छा जागृत हो जायगी।।९।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भक्तियोग की दो पद्धतियों का प्रतिपादन है। प्रथम पद्धति में उस का अधिकार है, जो दिव्य प्रेमवश भगवान् श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो गया हो। दूसरी विधि उसके लिये है, जिसमें श्रीभगवान् के प्रति प्रेममयी आसक्ति का समुदय नहीं हुआ है। इस दूसरे वर्ग के लिये नाना प्रकार के विधि-विधान हैं, जिनका पालन करने से अन्ततः श्रीकृष्ण में अनुराग की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

भक्तियोग इन्द्रियों को शुद्ध करने की पद्धति है। इस जगत् में अपनी तृप्ति में लगी रहने से इन्द्रियाँ नित्य अशुद्ध (दूषित) रहती हैं; परन्तु भक्तियोग के अभ्यास से इन्हें शुद्ध किया जा सकता है। उस शुद्धावस्था में इन्हें साक्षात् श्रीभगवान् का संस्पर्श प्राप्त होता है। इस संसार मे जीवमात्र किसी न किसी स्वामी की सेवा में संलग्न है, परन्तु उसकी वह सेवा प्रेममयी नहीं है। वह धन कमाने के लिये ही किसी की सेवा

करता है और उसका स्वामी भी उससे प्रेम नहीं करता; उसकी सेवा के बदले में ही वह कुछ पारिश्रमिक देता है। अतएव संसार में प्रेम का प्रश्न नहीं बनता। परन्तु भगवत्परायण जीवन के लिये शुद्ध प्रेमावस्था की प्राप्ति आवश्यक है। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा भक्तियोग का अभ्यास करने से यह प्रेमावस्था सुलभ हो सकती है।

यह भगवत्प्रेम जीवमात्र के हृदय में सोया पड़ा है। संसार में यह नाना प्रकार से अभिव्यंजित तो होता है; पर विषयसंगवश इसका यह प्रकाश दूषित है। अतएव विषयसंग को शुद्ध करके उस सुप्त स्वाभाविक कृष्णप्रेम को फिर जागृत करना है। यही भक्तियोग की सम्पूर्ण पद्धति है।

भक्तियोग के विधि-विधान के पालनार्थ कुशल सद्गुरु के आश्रय में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण करना आवश्यक है। ब्राह्ममुहूर्त में शय्या त्याग कर स्नान, मन्दिर-गमन, पूजन, हरेकृष्ण कीर्तन, अर्चा-विग्रह के लिये पुष्प-चयन, नैवेद्य बनाना तथा प्रसाद ग्रहण करने जैसी विधियाँ पालनीय हैं। शुद्धभक्त के मुखारविन्द से श्रीभगवद्गीता और श्रीमद्भागवत का नित्य-निरन्तर श्रवण करना चाहिए। जो कोई यह अभ्यास करता है, उसे भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, जिससे भगवद्धाम के मार्ग में प्रगति निश्चित हो जाती है। अस्तु, गुरुदेव के आज्ञानुसार भक्तियोग का नियमित रूप से अभ्यास करने पर भगवत्प्रेम की अवस्था अवश्य अति शीघ्र सुलभ हो जायगी।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

अनुवाद

यदि तू विधिपूर्वक भक्तियोग को अभ्यास भी नहीं कर सकता, तो मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो, क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त हो जायगा।।१०।।

तात्पर्य

जो गुरु के आज्ञानुसार विधि-विधान सहित भक्तियोग का अभ्यास नहीं कर सकता, उसे भी श्रीभगवान् की प्रीति के लिए कर्म करने में लगा कर भगवत्प्रेमरूप संसिद्धि की ओर अग्रसर किया जा सकता है। इस प्रकार भगवत्परायण कर्म करने की विधि का वर्णन ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक में किया जा चुका है। कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए मन में सहानुभूति का भाव रहे। ऐसे अनेक भगवद्भक्त हैं, जो कृष्णभावना के प्रचार-प्रसार में प्राणपण से मग्न हैं; उन्हें सहायता और सहयोग की अपेक्षा है। अतः जो स्वयं भक्तियोग का आचरण न कर सकता

हो, वह मनुष्य भी प्रचार-कार्य में सहयोग दे कर कल्याण का पात्र बन सकता है। किसी भी कार्य के लिये भूमि, पूंजी, व्यवस्था और परिश्रम की आवश्यकता होती है। व्यापार की भाँति, श्रीकृष्ण की सेवा में भी रहने के लिये स्थान, उपयोग के लिये पूंजी, कार्य के लिये परिश्रम और विस्तार के लिये व्यवस्था चाहिये। दोनों में अन्तर यह है कि एक ओर जहाँ सासारिक कर्म इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है; दूसरी ओर, वही कर्म श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए किए जाने पर दिव्यता प्राप्त कर लेता है। यदि कोई धनवान् है तो वह कृष्णभावना के प्रचारार्थ कार्यालय अथवा मन्दिर बनाने और ग्रन्थप्रकाशन में सहयोग कर सकता है। कर्म के विविध क्षेत्र हैं। कृष्ण सेवा के लिए इन सभी कर्मों में रुचि लेनी चाहिए। अपनी क्रियाओं के फल का त्याग करने मे असमर्थ होने पर भी कम से कम कृष्णभावना के प्रचार में उसके कुछ अंश का समर्पण तो किया जा ही सकता है। कृष्णभावना के प्रचार के लिए स्वेच्छा से इस प्रकार की निष्काम सेवा करने से भगवत्प्रेम की उच्च अवस्था को प्राप्त होने में सहायता मिलेगी, जिससे जीवन कृतार्थ हो उठता है।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

अनुवाद

यदि तू इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म भी नहीं कर सकता, तो आत्मस्वरूप में स्थित होकर फल का त्याग करता हुआ सब कर्म कर।।११।।

तात्पर्य

सम्भव है कि समाज, परिवार या आस्था के कारण अथवा किसी अन्य बाधावश, कोई चाहते हुए भी कृष्णभावना की प्रचार-क्रियाओं से सहयोग भी न कर सके। यदि वह प्रत्यक्ष रूप से कृष्णभावनामय क्रियाओं में तत्पर हो जाय तो बन्धु-बान्धवों का विरोध जैसी कठिनाइयाँ उठ सकती है। जिसके साथ ऐसी समस्या हो, उसे चाहिए कि अपने संचित कर्मफल को सत्कर्म में लगाये। वैदिक नियमो में इस प्रकार के अनेक विधान हैं। ऐसे यज्ञों और पुमुन्डी नामक कृत्यों का उल्लेख है, जिनमें पिछले कर्मफल का उपयोग किया जाता है। इससे क्रमशः ज्ञान हो सकता है। देखने में आता है कि कृष्णभावनाभावित सेवाकार्य में लेशमात्र रुचि न रखने वाला मनुष्य भी कभी-कभी औषधालय आदि को दान देकर कर्मफल का त्याग करता है। इसका यहाँ विधान है, अर्थात् ऐसा करना चाहिए, क्योंकि कर्मफल का त्याग करने के अभ्यास से निस्सन्देह शनैः-शनैः चित्त-शुद्धि होती है। फिर चित्त की शुद्धावस्था में कृष्णभावना के माधुर्य के आस्वादन

की योग्यता आ जाती है। यह अवश्य है कि कृष्णभावना किसी अन्य उपचारोपाय पर निर्भर नहीं करती, कृष्णभावना चित्त का मार्जन करने में स्वयं पूर्ण समर्थ है। परन्तु यदि कृष्णभावना के पथ में अन्य प्रतिबन्ध आयें तो कर्मफल-त्याग का अभ्यास करे। समाजसेवा, जातिसेवा, राष्ट्रसेवा आदि सब कर्म किए जा सकते है; पर इन्हें निष्काम भाव से ही करे, जिससे एक दिन विशुद्ध भगवत्सेवा करने की योग्यता प्राप्त हो जाय—परा भक्ति उदित हो जाय। भगवद्गीता में ही अन्यत्र कहा है : **यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**। यदि कोई सब के परम कारण के लिए कर्मफलत्याग करे, पर यह न जानता हो कि श्रीकृष्ण ही परम कारण हैं, तो फलत्याग रूपी यज्ञ करने से उसे शनैः-शनैः इस सत्य की अनुभूति हो जायगी।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

अनुवाद

यदि यह अभ्यास भी नहीं कर सकता तो ज्ञान का अनुशीलन कर, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग करना उत्तम है, क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति मिलती है।।१२।।

तात्पर्य

पूर्ववर्ती श्लोकों मे कहा जा चुका है कि भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागानुगा। जो यथार्थ में कृष्णभावना के सिद्धान्तों का अनुसरण करने के योग्य नहीं है, उनके लिए ज्ञान का अनुशीलन करना अधिक श्रेयस्कर है, क्योकि ज्ञान से अपनी वास्तविक स्थिति को समझा जा सकता है। शनैः-शनैः ज्ञान ध्यान मे विकसित हो जायगा। ध्यान की क्रमिक पद्धति से भगवत्-तत्त्व को जाना जा सकता है। अहंग्रहोपासना की पद्धति मे अभ्यासकर्ता अपने को ही परम तत्त्व मानता है। यह ध्यानविधि उनके लिए है, जो भक्तियोग के अयोग्य हैं। जो इस प्रकार ध्यान भी नहीं कर सकते, उनके लिए वर्णाश्रम-धर्म का विधान है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के स्वधर्म के रूप में इनका विस्तृत वर्णन अट्ठारहवें अध्याय में है। इन सभी साधनों मे अपने कर्मों का फलत्याग कर देना चाहिए, अर्थात् कर्मफल का सदुपयोग करना चाहिए। सारांश में, परमलक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति के क्रमिक तथा सीधा, ये दो मार्ग है। कृष्णभावनाभावित भक्तियोग सीधा मार्ग है, जबकि कर्मफलत्याग करने से भगवत्प्राप्ति शनैः-शनैः ही हो सकती है। कर्मफल का त्याग करने से ज्ञान होता है, ज्ञान से ध्यान होता है और ध्यान से परमात्मा का और अन्त मे श्रीभगवान् का साक्षात्कार होता है।

मनुष्य स्वेच्छानुसार भक्तियोग के सीधा मार्ग को अथवा फलत्याग के क्रमिक मार्ग को अपना सकता है। सीधे मार्ग को ग्रहण करने की योग्यता सब में नहीं होती; अत. क्रमिक मार्ग भी उपयोगी है। परन्तु अर्जुन के लिए क्रमिक मार्ग का उपदेश नही है, क्योंकि वह तो पहले से ही भगवत्प्रेमी है। जो भगवद्भक्ति से शून्य है, उन्हीं के लिए त्याग, ज्ञान, ध्यान तथा परमात्मा और ब्रह्म की अनुभूति के क्रमिक मार्ग का विधान है। जहाँ तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, उसमें सीधे मार्ग की ही स्तुति है। अतएव गीता के अनुसार मनुष्यमात्र को सीधे भक्तिमार्ग को अंगीकार करके अनन्य भाव से भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना चाहिए।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

अनुवाद

जो किसी से द्वेष नहीं करता और सब का निस्वार्थ कृपामय मित्र है, जो ममता और मिथ्या अहंकार से रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में समान और क्षमावान् है तथा जो हानि-लाभ में सदा सन्तुष्ट रहता है, दृढ़ निश्चय सहित भक्तियोग के परायण है और जिसने अपने मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१३-१४।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

अनुवाद

जिससे किसी को उद्वेग (कष्ट) नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, शोक आदि उद्वेगों के प्रभावित नहीं होता, वह मेरा प्रिय है।।१५।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

अनुवाद

जो व्यावहारिक कार्यों की अपेक्षा से रहित, शुद्ध, कुशल और अनासक्त है, सब दुःखों से छूटा हुआ है तथा किसी फल के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह मेरा भक्त

मुझे प्रिय है।।१६।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

अनुवाद

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना ही करता है, तथा जो शुभ और अशुभ आदि सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१७।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

अनुवाद

जो शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि में समान है और कुसंग से मुक्त है, जो निन्दा-स्तुति को सम्न समझने वाला है और मननशील है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई नियत निवास नहीं है और जो ज्ञान में स्थित है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१८-१९।।

तात्पर्य

भक्त सदा सब प्रकार के कुसंग से मुक्त रहता है। कभी यश हुआ करता है तो कभी अपयश; यह मानवसमाज का स्वभाव-सा है। भक्त ऐसे लौकिक मान-अण्मान, सुख-दुःख आदि से सदा परे है। उसके धैर्य की सीमा नहीं होती। कृष्णकथा के अतिरिक्त वह कुछ नहीं बोलता; इसी से उसे **मौनी** कहा जाता है। **मौनी** होने का अर्थ यह नहीं कि बिल्कुल चुप रहे। अनर्थ भाषण न करने का नाम ही मौन है। आवश्यक होने पर वाणी का उपयोग करना चाहिए और भगवत्कथा सुनाना भक्त के लिए परम आवश्यक है। वह सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। कभी स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं मिलता; पर वह किसी भी स्थिति में सन्तुष्ट रह सकता है। उसे किसी निश्चित घर की भी अपेक्षा नहीं। वह वृक्ष के आश्रय में भी रह सकता है और महल में भी—कहीं उसकी आसक्ति नहीं होती। दृढ़ निश्चय और ज्ञान से युक्त होने के कारण उसे **स्थिरमति** कहा गया है। पूर्ववर्ती श्लोकों में भक्त के कुछ लक्षणों की पुनरावृत्ति इस बात पर बल देने के लिए है कि भक्त को इन गुणो का

अर्जन अवश्य-अवश्य करना है। सद्गुणों के बिना कोई शुद्धभक्त नही बन सकता। अभक्त मे कोई सद्गुण नहीं होता। अतः भक्त-पद की प्राप्ति के लिए उपरोक्त सद्गुणों का विकास करना चाहिए। यह अवश्य है कि इसके लिए कोई बाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता; कृष्णभावना और भक्तियोग में मग्नता से इनका विकास अपने-आप हो जाता है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

अनुवाद

जो मेरे परायण हुए, अर्थात् मुझे परम गति समझ कर विशुद्ध प्रेम से मेरी ही प्राप्ति के लिए ऊपर कहे हुए भक्तियोग के अमृतपथ का सेवन करते है, वे भक्त मेरे अतीव प्रिय है।।२०।।

तात्पर्य

इस अध्याय में जीव के सनातनधर्म—भक्तियोग की पद्धति का वर्णन है, जिसके द्वारा भगवत्प्राप्ति होती है। श्रीभगवान् को यह पथ अति प्रिय है; अतः इसके अनुगामी को भी वे अपना प्रिय मानते हैं। अध्याय के आरम्भ मे अर्जुन ने जिज्ञासा की थी कि निर्विशेष ब्रह्मनिष्ठ और भगवत्सेवापरायण भक्त मे कौन श्रेष्ठ है। श्रीभगवान् ने इसका इतना स्पष्ट उत्तर दिया कि इसमे कोई सन्देह नहीं रहा है कि भक्तियोग स्वरूप-साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। प्रकारान्तर से, इस अध्याय में निर्णय है कि जीव में सत्सग से शुद्ध भक्तियोग की उत्कण्ठा का उदय होता है। फिर सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करने पर श्रवण-कीर्तन होने लगता है और श्रद्धा, रुचि और भक्ति-भाव के साथ वैधीभक्ति का आचरण करता हुआ शनैः-शनैः वह पूर्णतया भगवत्सेवा-परायण हो जाता है। इसी पथ का बारहवे अध्याय में उपदेश है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि भक्तियोग स्वरूप-साक्षात्कार और भगवत्प्राप्ति का ऐकान्तिक परम-पथ है। जैसा इस अध्याय मे कहा है, परम सत्य का निराकार स्वरूप तभी तक उपयोगी हो सकता है, जब तक मनुष्य स्वरूप-साक्षात्कार के पथ मे समर्पित नही हो जाता। भाव यह है कि जब तक शुद्धभक्त का सत्सग प्राप्त नही होता, तब तक ही निराकार धारणा लाभकारी हो सकती है। निराकारवादी निष्काम कर्म करता हुआ आत्मा और प्रकृति मे भेद को जानने के लिए ध्यान और ज्ञान मे प्रवृत्त रहता है। यह तभी तक आवश्यक है जब तक शुद्धभक्त का सत्सग न मिले। जिस सौभाग्यशाली मे सीधे-सीधे शुद्ध भक्तिभावमय कृष्णभावना के परायण हो जाने की उत्कण्ठा जागृत हो गयी हो, उसके लिए स्वरूप-साक्षात्कार का क्रमिक पथ निष्प्रयोजन हो जाता है। भगवद्गीता के मध्य के छः अध्यायों के अनुसार भगवद्भक्ति सर्वश्रेष्ठ सुखमयी है। भक्त को प्राणधारण के लिए आवश्यक पदार्थों की चिन्ता नही करनी पड़ती, वात्सल्यमयी

भगवत्कृपा उसके सम्पूर्ण योगक्षेम का स्वयं वहन करती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

इति भक्तिवेदान्तभाष्ये द्वादशोऽध्याय.।।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः



प्रकृतिपुरुषविवेकयोग

(प्रकृति पुरुष तथा चेतना)

अर्जुन उवाच।
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।१।।
श्रीभगवानुवाच।
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।२।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञान के प्रयोजन का तत्त्व जानना चाहता हूँ। श्रीभगवान् ने कहा, हे कुन्तिनन्दन! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो जानता है, उसे ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं।।१-२।।

तात्पर्य

अर्जुन प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञान के प्रयोजन को जानना चाहता था। उसकी जिज्ञासा के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा कि इस देह को क्षेत्र कहते हैं और इस देह को जानने वाला क्षेत्रज्ञ कहलाता है। यह देह क्षेत्र कहा जाता है, क्योंकि यह बद्धजीव का कार्यक्षेत्र है। संसार-बद्ध जीव माया पर प्रभुत्व करने का प्रयत्न करता है। अतः उसे ऐसा करने की अपनी योग्यता के उपयुक्त शरीररूपी कार्य-क्षेत्र मिलता है। यह शरीर इन्द्रियों का पुंज है। बद्धजीव को इन्द्रियतृप्ति की कामना है; अतः उसकी इन्द्रियतृप्ति करने की योग्यता के अनुसार उसे उपयुक्त देहरूपी कार्यक्षेत्र प्रदान किया जाता है। इसी कारण देह को बद्धजीव का क्षेत्र कहते हैं। देह को अपना स्वरूप न मानने वाला क्षेत्रज्ञ, अर्थात् देहरूपी क्षेत्र का ज्ञाता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, देह और देही के भेद को समझना कठिन नहीं है। कोई विचार करके देख सकता है कि यद्यपि बचपन से वृद्धावस्था तक उसके शरीर में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु वह स्वयं वही अव्यय आत्मा है। अतएव क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में निश्चित भेद है। इस प्रकार बद्धजीव जान सकता है कि वह देह से भिन्न है। गीता के प्रारम्भ में कहा गया है, **देहेऽस्मिन्** अर्थात् जीवात्मा देह में है और वह देह कौमार से यौवन और यौवन से जरा को प्राप्त होती है। देह का स्वामी पुरुष (देही) इन देहगत विकारों को जानता है। देही निश्चित रूप से क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीररूपी क्षेत्र का ज्ञाता है। जीव को अनुभव होता है, 'मैं सुखी हूँ, मैं उन्मत्त हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं श्वान हूँ, मैं बिल्ली हूँ।' ये सभी क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से भिन्न है। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि अपने उपयोग के वस्त्र आदि सब पदार्थों से हम अलग हैं। इसी प्रकार विचार करने पर यह भी जान सकते हैं कि हम देह से अलग हैं।

भगवद्गीता के प्रथम छः अध्यायों में जीवात्मज्ञान का और परमात्मज्ञान के साधन का विवेचन है। सातवें से बारहवें अध्याय तक श्रीभगवान् का और भक्तियोग के सन्दर्भ में जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन है। इन अध्यायों में श्रीभगवान् की महिमा और जीवात्मा की परवशता का विशद और स्पष्ट वर्णन है। जीव सब परिस्थितियों में सब प्रकार से श्रीभगवान् के वश में हैं। वास्तव में इस सत्य को भूल जाने से ही वे संसार में दुःख भोग रहे हैं। जब पुण्यकर्मों के प्रभाव से आलोक का उदय होता है तो वे आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु अथवा ज्ञानी के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण के उन्मुख हो जाते हैं। इसका भी वर्णन हुआ है। अब, तेरहवें से अट्ठारहवें अध्याय तक के अन्तिम षटक में प्रकृति और पुरुष के संयोग के कारण का विवेचन है तथा कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि विविध साधनों के माध्यम से श्रीभगवान् किस प्रकार

उसका उद्धार करते हैं—यह सब वर्णन है। जीव देह से बिल्कुल भिन्न है, फिर भी जैसे-तैसे देह से उसका सम्बन्ध हो जाता है। यह भी प्रतिपादन है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।३।।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! मैं भी सब देहों (क्षेत्रों) को जानने वाला (क्षेत्रज्ञ) हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जो इस प्रकार जानना है वही ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है।।३।।

तात्पर्य

इस देह (क्षेत्र) और देही (क्षेत्रज्ञ) एवं आत्मा और परमात्मा के तत्त्व-निरूपण मे परमात्मा, जीवात्मा और जड प्रकृति—इन तीन विषयों का विवेचन किया जायगा। प्रत्येक क्षेत्र मे दो आत्मा है—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा श्रीकृष्ण का अंशरूप है। इसी कारण श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मैं भी क्षेत्रज्ञ (देह का ज्ञाता) हूँ। परन्तु मै जीवात्मा नही हूँ, मै परम क्षेत्रज्ञ हूँ, इसलिए परमात्मा रूप से सब देहों मे हूँ।'

जो भगवद्गीता के अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करे, उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं प्रत्येक जीव-देह में क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ हूँ।' जीवात्मा अपने देह का ज्ञाता तो हो सकता है, पर अन्य देहो का ज्ञान उसे नहीं है। अन्तर्यामी परमात्मा रूप से सब देहो मे विद्यमान श्रीभगवान् ही उन सबके सम्बन्ध मे जानते है। जीवन की सभी योनियों की सारी देहो को वे जानते है। एक नागरिक को केवल अपनी ही भूमि की पूर्ण जानकारी हो सकती है, किन्तु राजा तो अपने महल के सम्बन्ध मे ही नहीं, बल्कि सारे नागरिकों की निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी जानता है। अत जीवात्मा किसी एक देह का स्वामी हो सकता है, जबकि परमेश्वर सब देहो के स्वामी है। राज्य पर मूल स्वत्व राजा का होता है, नागरिको का नही। ऐसे ही, श्रीभगवान् सब देहों के परम ईश्वर हैं।

देह इन्द्रियों से बनी है। परमेश्वर को हृषीकेश कहा जाता है, जिसका अर्थ हुआ कि वे इन्द्रियों के ईश्वर हैं। वे इन्द्रियों के मूल ईश्वर हैं, उसी प्रकार जैसे राज्य की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल नियामक राजा है और प्रजा उपनियन्ता मात्र है। श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।' इसका अर्थ है कि वे परम-क्षेत्रज्ञ हैं, जबकि जीवात्मा तो केवलमात्र अपने देह को जानता है। वैदिक साहित्य में उल्लेख है :

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते।।

यह देह क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ के साथ इसमें परमात्मा भी निवास करते हैं; इसलिए वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दोनों को भलीभाँति जानते हैं। इसी से उन्हें सब क्षेत्रों का ज्ञाता कहा है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और परम-क्षेत्रज्ञ में भेद को निम्नलिखित प्रकार से हृदयंगम किया जा सकता है। देह, जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की पूर्ण जानकारी की वैदिक शास्त्रों में 'ज्ञान' संज्ञा है। यह श्रीकृष्ण का भी मत है। जीवात्मा और परमात्मा के भेदाभेद को जान लेना ही ज्ञान है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को तत्त्व से नहीं जानता, वह पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकता। इसके लिए प्रकृति, पुरुष तथा प्रकृति और जीवात्मा के नियंता, ईश्वर के तत्त्व को जानना होगा। इन तीनों तत्त्वों में भ्रम नहीं होना चाहिए। स्मरण रहे कि चित्रकार, चित्र और चित्राधार अलग-अलग हुआ करते हैं। यह प्राकृत-जगत् अर्थात् क्षेत्र प्रकृति है, जीव इस प्रकृति को भोगने वाला पुरुष है तथा इन दोनों के नियन्ता परम ईश्वर श्रीभगवान् हैं। वेदों में कहा है, **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।** ब्रह्मतत्त्व की तीन धारणायें हैं। प्रकृति भोग्य-ब्रह्म है, प्रकृति को भोगने वाला जीव भोक्ता-ब्रह्म है और इन दोनों का नियामक भी ब्रह्म है, पर वही वास्तव में ईश्वर है।

इस अध्याय में यह भी स्थापित किया गया है कि दोनों क्षेत्रज्ञों (ज्ञाताओं) में से एक क्षर है और दूसरा अक्षर है। एक स्वामी है तो दूसरा उसके परतन्त्र है। जो यह मानता है कि दोनों क्षेत्रज्ञ एक हैं, वह श्रीभगवान् के इस स्पष्ट कथन का खण्डन करता है कि 'मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।' रज्जु को सर्प मान लेने वाला ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। क्षेत्र (देह) अनेक प्रकार के होते हैं और क्षेत्रज्ञ (देही) भी एक से अधिक हैं। भिन्न-भिन्न जीवों में माया पर प्रभुत्व करने की योग्यता अलग-अलग मात्रा में होती है। अतः विविध योनियों का सृजन हुआ है। किन्तु जीव के साथ श्रीभगवान् भी ईश्वर-रूप से इन सब में हैं। च शब्द महत्त्वपूर्ण है। भाव यह है कि ईश्वरक्षेत्रज्ञ सब देहों में है। आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण का कथन है कि जीवात्मा के अतिरिक्त श्रीकृष्ण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रत्येक देह में हैं। श्रीकृष्ण ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा—क्षेत्र और जीव-क्षेत्रज्ञ, दोनों का ईश्वर है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।४।।

अनुवाद

वह क्षेत्र जो है, जिस स्वरूप वाला है और जिन विकारों वाला है और जिस कारण से हुआ है एवं क्षेत्रज्ञ भी जिस स्वरूप और प्रभाव वाला है, वह सब मुझ से संक्षेप में सुन।।४।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।५।।

अनुवाद

वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और नाना प्रकार के वैदिक मन्त्रों में विभागपूर्वक वर्णित है; विशेषरूप से कार्य-कारण की युक्तिसहित भलीभाँति निश्चित वेदान्तसूत्र के द्वारा कहा गया है।।५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण इस ज्ञान के परम प्रमाण हैं। तथापि, विद्वानों और प्रामाणिक आचार्यों की परिपाटी के अनुसार वे पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रमाण उपस्थित करते हैं। जीव और परमात्मा में भेद है अथवा अभेद—इस परम विवादास्पद विषय का वे प्रामाणिक शास्त्रों, विशेषतः वेदान्त के आधार पर निर्णय कर रहे हैं। उनका पहला वाक्य है कि यह तत्त्व नाना ऋषियों को मान्य है। महर्षियों में प्रधान, व्यासदेव द्वारा प्रणीत 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थ से द्वैत पूर्ण रूप में सिद्ध हो जाता है। व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने अपने धर्मग्रन्थ में कहा है, **अहं त्वं च अथान्ये . . .**, 'हम सभी अर्थात् मैं तुम और अन्य सब जीव, प्राकृत देह में स्थित होते हुए भी दिव्य हैं। अपने-अपने कर्मवश हम माया के गुणप्रवाह में पतित हो गए हैं। इसी से कुछ जीव सत्त्वादि उच्च योनियों में हैं तो कुछ को तमोमय अधम योनियाँ मिली हैं। अविद्या के कारण ही ये उच्च-निम्न गुण असंख्य जीवों में प्रकाशित हो रहे हैं। परन्तु अक्षर परमात्मा मायिक गुणों से मुक्त और प्रकृति से सर्वथा परे है।' इसी भाँति, मूल वेदों में, विशेषतः 'कठोपनिषद्' में जीवात्मा, परमात्मा और देह में भेद है।

श्रीभगवान् की शक्ति का एक अन्नमय प्रकाश है, अर्थात् जीवमात्र प्राण-धारण के लिए अन्न पर निर्भर करता है। इस रूप में परतत्त्व की जड़ (प्राकृत) अनुभूति होती है। अन्न में परतत्त्व का अनुभव करने पर, प्राण-लक्षण में उसका बोध होता है, अतः यह द्वितीय रूप प्राणमय कहा गया है। 'ज्ञानमय' स्वरूप में चेतना-लक्षण चिन्तन, संवेदन और संकल्प तक उन्नत होता है। इसके उपरान्त, 'ब्रह्म' तथा 'विज्ञानमय' स्वरूप का बोध होता है, जिससे जीवात्मा अपने को मन तथा जीवनचिह्नों से अलग अनुभव करता है। अगली और अन्तिम अवस्था का नाम 'आनन्दमय' है।

इस प्रकार 'ब्रह्मपुच्छम्' नाम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति के पाँच स्तर हैं। इनमें से प्रथम तीन—अन्नमय, प्राणमय और ज्ञानमय स्तर जड़ क्षेत्र से सम्बन्धित है। इन सब क्षेत्रो से अतीत परमेश्वर 'आनन्दमय' हैं। ब्रह्म (वेदान्त) सूत्र में भी परम सत्य को **आनन्दमयोऽभ्यासात्** कहा है। श्रीभगवान् स्वभाव से आनन्दमय हैं और अपने इसी दिव्य आनन्द का आस्वादन करने के लिए वे विज्ञानमय, ज्ञानमय, प्राणमय तथा अन्नमय आदि अंशरूप धारण करते हैं। इस देहरूपी क्षेत्र में जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ (भोक्ता) समझा जाता है, किन्तु आनन्दमय परमात्मा उससे भिन्न है। इसका अर्थ है कि जो जीव आनन्दमय की परायणता में आनन्द भोगने का निश्चय करता है, वह कृतार्थ हो जाता है। यह ईश्वर-क्षेत्रज्ञ, जीव-क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का यथार्थ स्वरूप-चित्रण है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।६।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।७।।

अनुवाद

पंच महाभूत, अहकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, स्थूल देह, चेतना तथा धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारो सहित सक्षेप से कहा गया।।६-७।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।८।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।९।।
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।१०।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।११।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१२।।

अनुवाद

विनम्रता, दम्भाचरण का अभाव, प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार से पीडित न करना, क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता, सद्गुरु के शरणागत होकर उनकी सेवा करना, भीतर-बाहर की शुद्धि, स्थिरता तथा आत्मसंयम, इन्द्रिय-भोगों में आसक्ति का अभाव, अहंकार का भी अभाव; जन्म. मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःख-दोषों को बारंबार चिन्तन करना; पुत्र, स्त्री तथा घर आदि में आसक्ति और ममता का न होना; अनुकूल और प्रतिकूल की प्राप्ति में चित्त की समता; निरन्तर मेरे शुद्ध और अनन्य भक्तियोग का आचरण, एकान्तवास, विषयी जनसमुदाय में प्रीति का अभाव, स्वरूप-साक्षात्कार में नित्य दृढ़ निष्ठा तथा परमसत्य का दार्शनिक अन्वेषण—इस सब को मैं ज्ञान घोषित करता हूँ। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अज्ञान है।।८-१२।।

तात्पर्य

कभी-कभी अल्पज्ञ मनुष्य भ्रम से इस ज्ञानपथ को क्षेत्र का विकार समझ बैठते हैं। वास्तव में तो केवल यही ज्ञान का सच्चा पथ है। यदि इस मार्ग को अंगीकार कर लिया जाय, तो परम सत्य की प्राप्ति हो सकती है। यह पूर्ववर्णित दस तत्त्वों का विकार नहीं है, अपितु उनसे मुक्त होने का साधन है। ज्ञान-पद्धति के सम्पूर्ण विवरण में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन का उल्लेख दसवें श्लोक में है—अनन्य भक्तियोग, जो सम्पूर्ण ज्ञान का पर्यवसान है। इसलिए यदि कोई दिव्य भगवत्सेवा नही करता, अथवा उस स्तर तक नही पहुँच पाता, तो शेष उन्नीस साधनों से उसे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि वह पूणतया कृष्णभावनाभावित होकर भगवत्सेवा के परायण हो जाय तो ये सभी गुण उसमें स्वतः उदित हो जायेंगे। सातवें श्लोक के अनुसार सद्गुरु का आश्रय लेना आवश्यक है। जिस मनुष्य ने भक्तिपथ स्वीकार किया है, उसके लिए भी यह अनिवार्य है। पारमार्थिक जीवन का प्रारम्भ सद्गुरु की शरणागति से ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्ट शब्दों मे कह रहे है कि यह ज्ञान का पथ कल्याण का सच्चा मार्ग है। इसके विपरीत जो कुछ भी मनोधर्मी की जायगी, वह अनर्थकारी सिद्ध होगी।

ज्ञान के जिन साधनों यहाँ दिग्दर्शन है, उनका भाव इस प्रकार है। **अमानित्वम्** (विनम्रता) का अर्थ है कि दूसरे अपना सत्कार करें—ऐसी अपेक्षा न रखे। देहात्मबुद्धि के कारण हम दूसरो से सम्मान प्राप्ति के लिए बड़े आतुर रहते है, किन्तु देह से भिन्न अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाले की दृष्टि में देह से सम्बन्धित मान-अपमान निरर्थक हैं। इस विषय-मरीचिका के लिए लालायित

रहना योग्य नहीं। धर्मात्मा के रूप में आत्म-ख्याति की इच्छा भी साधारण लोगों में प्रबल रहती है। परिणामतः प्रायः देखा जाता है कि धर्म के तत्त्व को जाने बिना ही वे किसी ऐसे दल में, जो यथार्थ में धर्माचरण नहीं करता, सम्मिलित होकर धर्म-गुरु के रूप में अपना विज्ञापन किया करते हैं। अध्यात्मविद्या की उन्नति को नापने के लिए कोई न कोई उपयुक्त कसौटी होनी चाहिए। उपरोक्त गुणों का अन्त:करण में कितना विकास हुआ है, इस आत्म-परीक्षा से पारमार्थिक उन्नति को जाँचा जा सकता है।

सामान्यत: **अहिंसा** का तात्पर्य देह का वध अथवा नाश न करने के सीमित अर्थ में समझा जाता है। परन्तु वास्तव में अहिंसा का अर्थ किसी भी जीव को किसी भी प्रकार से पीड़ित न करना है। देहात्मबुद्धि के अज्ञान में बँधा मानवसमाज नित्य-निरन्तर सांसारिक दु:खों को भोगता रहता है। अत: जो ज्ञान-प्रचार के द्वारा लोगों का उद्धार नहीं करता, वह हिंसक है। जनता में सच्चे ज्ञान के प्रचार में प्राण-पण से प्रयास करना चाहिए, जिससे वह इस भव-बन्धन से मुक्त हो सके। यही सच्ची अहिंसा है।

क्षान्तिः का तात्पर्य है कि दूसरों के तिरस्कार और अपमान को सहने का अभ्यास करे। जो अध्यात्म-ज्ञान का सेवन करता है, उसे दूसरों से प्रायः अपमानित होना पड़ता है। यह स्वाभाविक है, प्रकृति का स्वरूप ऐसा ही है। स्वरूप-साक्षात्कार के परायण प्रह्लाद जैसे पाँच वर्ष के बालक को भी अपने पिता के कारण महान् विपत्तियों का सामना करना पड़ा, क्योंकि वह उसके भक्तिभाव का विरोधी था। पिता ने नाना प्रकार से उसे मारने का प्रयत्न किया; परन्तु प्रह्लाद ने वह सब सहन कर लिया। इससे शिक्षा मिलती है कि ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में अनेक व्यवधान भी क्यों न आयें, पर हमें सहिष्णुता और धैर्यपूर्वक भक्ति में निष्ठ रहते हुए पारमार्थिक उन्नति करते रहना चाहिये।

मन-वाणी की सरलता **आर्जवम्** है। भाव यह है कि व्यवहार कुटिलता से रहित इतना सरल होना चाहिए कि शत्रु पर भी सत्य प्रकट किया जा सके। **आचार्योपासनम्**, अर्थात् सद्‌गुरु का पादाश्रय ग्रहण करने की विशेष महिमा है, क्योंकि सद्‌गुरु के उपदेश बिना अध्यात्म में उन्नति नहीं हो सकती। पूर्ण दैन्यभाव से गुरु की शरण में जाकर सब प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसे शिष्य को श्रीगुरुदेव अपनी कृपा-सुधा-कादम्बिनी से आप्यायित कर देते हैं। गुरु श्रीकृष्ण के बाह्य-प्रकाश हैं। अत: यदि वे शिष्य पर कृपा करें तो विधिपालन के बिना ही वह तुरन्त उन्नति कर सकता है। जिसने सब प्रकार से गुरु की निष्कपट सेवा की है, उसके लिए विधि-विधान का पालन सुगमतर हो जाता है।

पारमार्थिक साधना के लिए **शौच**, अर्थात् बाहर-भीतर की शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि स्नानादि से हो जाती है, परन्तु भीतर की शुद्धि के लिए नित्य श्रीकृष्ण का चिन्तन और हरे

कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे महामन्त्र का कीर्तन करना आवश्यक है। इस साधन के द्वारा पूर्वकर्म रूपी मल से चित्त का मार्जन हो जाता है।

भगवत्प्राप्ति के दृढ़ निश्चय का नाम **स्थैर्यम्** अथवा 'स्थिरभाव' है। इस निष्ठा' के बिना यथार्थ प्रगति नहीं हो सकती। **आत्मविनिग्रहः** (संयम) का भाव यह है कि ऐसा कोई पदार्थ ग्रहण न करे, जो भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के प्रतिकूल हो। इसका अभ्यस्त होकर उन सभी प्राणी-पदार्थों को त्याग देना चाहिए, जो पारमार्थिक उन्नति के अनुकूल न हों। यही सच्ची त्याग-वृत्ति है। प्रबल इन्द्रियाँ सदा विषयभोग के लिए लालायित रहती हैं। इनकी अनावश्यक माँगों को पूर्ण करना उचित नहीं। इन्द्रियों की उतनी ही तृप्ति करनी चाहिए, जितना भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के लिए देह को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक हो। सब इन्द्रियों में रसना सबसे दुर्दमनीय है। यदि इस एक इन्द्रिय का निग्रह हो जाय तो अन्य सब इन्द्रियों का संयम सुगमता से हो सकता है। रसना के दो कार्य हैं—रसग्रहण और बोलना। अतएव इसे नियमित रूप से निरन्तर कृष्णप्रसान-ग्रहण और हरेकृष्ण कीर्तन में तत्पर रखना चाहिये। नेत्रों के द्वारा श्रीकृष्ण के मधुर विग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखने योग्य नहीं है। इससे नेत्रों का भी संयम हो जायगा। इसी भाँति, कर्णों को कृष्णकथा के श्रवण में और घ्राणेन्द्रिय को श्रीकृष्ण को अर्पित पुष्पों के आघ्राण में नियोजित रखे। यह भक्तियोग का पथ है और भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से इसी भक्ति-विज्ञान का विशद प्रनिपादन है। अस्तु, भक्तियोग ही भगवद्गीता का एकमात्र प्रयोजन है। गीता के मूढ़ व्याख्याकार पाठक का चित्त अन्य विषयों में भ्रमित करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वास्तव में तो भगवद्गीता में भक्तियोग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

इस देह को अपना स्वरूप मानना **अहंकार** अथवा 'मिथ्या अभिमान' कहलाता है। देह से भिन्न अपने आत्मस्वरूप को जान लेना सच्चा अहंभाव है। अहंभाव सदा रहता है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। इसलिए मिथ्या अहंकार की ही निन्दा की गयी है, सच्चे अहंभाव की नहीं। वेदों में कहा है, **अहं ब्रह्मास्मि**, अर्थात् 'मैं ब्रह्मतत्त्व आत्मा हूँ।' यह 'अहंभाव' स्वरूप-साक्षात्कार की मुक्तावस्था में भी रहता है, क्योंकि यह सत्य है। किन्तु जब अनित्य देह में अहंभाव हो जाता है, तो उसे मिथ्या-अहंकार कहते हैं। सत्य में आत्म-भाव (अहंभाव) का होना ही सच्चा अहंकार है। कुछ दार्शनिकों के मत में अहंता का पूर्ण त्याग करना होगा। परन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं, क्योंकि अहंता का अर्थ है 'स्वरूप'। देह के आत्मभाव को तो त्यागना ही है।

जन्म, मृत्यु जरा और व्याधि की दुःखरूपता का बारम्बार चिन्तन करना चाहिये। वैदिक शास्त्रों में जन्म के दुःखों का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में जन्म से पूर्व

के संसार का, मातृगर्भ में बालक के निवास का और वहाँ मिलने वाले दुःखो का बड़ा सजीव चित्रण है। यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेना आवश्यक है कि इस ससार मे जन्म होना परम दुःखमय है। मातृगर्भ के भीषण दु.ख को भूल जाने के कारण ही हम बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति के लिए कोई साधन नहीं करते। जन्म की भाँति, मृत्युकाल मे भी बहुत सी यन्त्रणायें भोगनी पड़ती है, जिनका प्रामाणिक शास्त्रों मे उल्लेख है। इन पर अवश्य विचार करना चाहिए। रोग और वृद्धावस्था का व्यावहारिक अनुभव सभी को है। रोग अथवा जरा से कोई पीड़ित नहीं होना चाहता, फिर भी इनका निवारण नहीं किया जा सकता। जब तक मनुष्य जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के दुःखों को विचार कर विषयपरायण जीवन से निराश नहीं हो जाता, तब तक पारमार्थिक उन्नति का पथ प्रशस्त नही हो सकता।

पुत्र, स्त्री और घर आदि मे अनासक्ति—**अनभिष्वंगः** का यह अर्थ नहीं कि इनके प्रति निष्ठुर हो जाय। ये सभी स्वाभाविक स्नेह के पात्र हैं; किन्तु परमार्थ के प्रतिकूल होने पर इनमे आसक्ति को बिल्कुल त्याग देना चाहिए। कृष्णभावना घर को सुखमय बनाने की सर्वोत्तम विधि है। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित गृहस्थ इस सुखसाध्य साधन के द्वारा अपने घर-परिवार में परम सुख का विस्तार कर सकता है। इसके लिए चार साधनो की अपेक्षा है. **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे. हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन, कृष्णप्रसाद-सेवन, श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता की वार्ता करना और मूर्तिपूजा। इन चार साधनों को करने वाला पूर्ण सुखी हो जाता है। बन्धु-बाधवों को भी इस भक्तियोग में शिक्षित करना चाहिए। सम्पूर्ण परिवार प्रात. और सायकाल समवेत स्वर से **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन करे। यदि अपने पारिवारिक जीवन को इस प्रकार ढाला जा सके, जिससे इन चार साधनों के द्वारा कृष्णभावना की निरन्तर वृद्धि होती रहे, तो गृहस्थ आश्रम से संन्यास लेना आवश्यक नहीं। परन्तु यदि पारिवारिक जीवन परमार्थ के अनुकूल न हो, तो उसको त्याग देना चाहिए। श्रीकृष्ण की प्राप्ति अथवा सेवा के लिए अर्जुन के समान सर्वस्व त्याग कर देना चाहिए। प्रारम्भ में अर्जुन अपने सम्बन्धियों से युद्ध नहीं करना चाहता था; पर जब उसे बोध हुआ कि ये सम्बन्धी उसकी कृष्णप्राप्ति में बाधक हैं, तो श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार युद्ध में अपने सब सम्बन्धियों का वध करने में उसने तनिक भी संकोच नहीं किया। सभी अवस्थाओं में पारिवारिक जीवन के दुःख-सुख से बिल्कुल अनासक्त रहना चाहिए, क्योंकि इस संसार में कोई भी पूर्ण रूप से सुखी अथवा दुःखी कभी नहीं होता। सुख-दुःख तो भवरोग के साथ लगे ही रहते हैं: अतः

भगवद्गीता का उपदेश है कि इन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। सुख-दुःख के आने-जाने पर किसी का वश नहीं है। अतएव विषयों से विरत हो जाय; इससे इन द्वन्द्वों की प्राप्ति में अपने-आप समता बनी रहेगी। सामान्यतः अनुकूल वस्तु की प्राप्ति होने पर हम सुखी होते हैं, और प्रतिकूल पदार्थ की प्राप्ति से दुःख अनुभव करते हैं। परन्तु आत्मस्वरूप में परिनिष्ठित हो जाने पर इन वस्तुओं का हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उस अवस्था की प्राप्ति के लिए अनन्य और अखण्ड भक्तियोग का आचरण करना है। नौवें अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन आदि नौ साधनों में संलग्न रहना अनन्य कृष्णभक्ति का स्वरूप है। इसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि भगवत्परायण पुरुष को विषयी मनुष्यों का संग अच्छा नहीं लगता, क्योंकि यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। अपनी परीक्षा के लिए साधक को देखते रहना चाहिए कि अनर्थकारी कुसंग से रहित एकान्त में वह कहाँ तक रहना चाहता है। भक्त स्वभावतः अनावश्यक खेलों, चलचित्रों और सामाजिक उत्सवों में प्रीति नहीं रखता; वह पर्याप्त रूप से जानता है कि उनमें समय का अपव्यय ही होता है। ऐसे बहुत से शोधवेत्ता और दार्शनिक हैं, जो मैथुन आदि पर शोध किया करते हैं। भगवद्गीता के मत में इस शोधकार्य अथवा दार्शनिकता का कोई मूल्य नहीं; यह सब वस्तुतः अनर्थमय है। भगवद्गीता के अनुसार, दार्शनिक विवेक के द्वारा आत्मा के स्वरूप की ही गवेषणा करनी चाहिए। अध्यात्म के प्रयोजन का अन्वेषण करे, ऐसा यहाँ उपदेश है।

जहाँ तक स्वरूप-साक्षात्कार का सम्बन्ध है, भक्तियोग को स्पष्ट रूप से अधिक व्यावहारिक घोषित किया गया है। भक्ति का तात्पर्य परमात्मा और जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध से है। कम से कम भक्तियोग में तो परमात्मा और जीवात्मा एक नहीं हो सकते। अतएव पूर्वकथन के अनुसार जीवात्मा द्वारा परमात्मा की यह सेवा नित्य है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि भक्तियोग शाश्वत् है। इस दार्शनिक निष्ठा में स्थिति का ही नाम ज्ञान है। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अनर्थमय अज्ञान है।

श्रीमद्भागवत (१.२.११) के अनुसार, **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।** 'परमसत्य के तत्त्वज्ञ जानते हैं कि उसकी अनुभूति, ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन स्वरूपों में होती है।' भगवान् परमसत्य की अनुभूति के शिखर हैं; अतएव श्रीभगवान् के तत्त्व को समझ कर उनकी भक्ति के परायण हो जाना चाहिए। ज्ञान की पूर्णता इसी में है।

यह पद्धति उस सीढ़ी के समान है, जिसका पहला सोपान विनम्रता है और अन्तिम सोपान भगवत्प्राप्ति है। कितने ही मनुष्य इस निःश्रेणी के प्रथम सोपान पर

हैं, कुछ दूसरे पर हैं और कुछ तीसरे सोपान तक पहुँच गए हैं, इत्यादि। परन्तु जब तक साधक कृष्णतत्त्व रूपी अन्तिम सोपान पर नहीं पहुँचता, तब तक उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। जो भगवान् से स्पर्धा रखते हुए भी ज्ञान-प्राप्ति करना चाहता है, उसके हाथ निराशा ही लगेगी। स्पष्ट उल्लेख है कि विनम्रभाव से शून्य बोध घातक है। अपने को ईश्वर मानना परम अभिमान का सूचक है। 'जीव नित्य-निरन्तर प्रकृति के दुस्तर नियमों का पाद-प्रहार खा रहा है, फिर भी अज्ञानवश मान बैठता है कि 'मैं ईश्वर हूँ।' अपने को श्रीभगवान् के आधीन जान कर सदा विनम्र रहना चाहिए। श्रीभगवान् से द्रोह करने के कारणवश ही जीव माया के अधीन हुआ है—इस सत्य को दृढ़ विश्वास सहित अवश्य धारण कर लेना चाहिए।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१३।।

अनुवाद

अब मैं उस जानने योग्य तत्त्व का वर्णन करूँगा, जिसे जान कर तू अमृत को प्राप्त हो जायगा। यह अनादि ब्रह्मतत्त्व मेरे आधीन है और इस जगत् के कार्यकारण से परे है।।१३।।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१४।।

अनुवाद

उस परमात्मा के हाथ, पैर, नेत्र, मुख और कान सब ओर हैं। इस प्रकार वह सबको व्याप्त करके स्थित है।।१४।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१५।।

अनुवाद

परमात्मा सब इन्द्रियों का मूल स्रोत होते हुए भी प्राकृत इन्द्रियों से रहित है; सम्पूर्ण प्राणियों का धारण-पोषण करता है, परन्तु आसक्तिरहित है; माया के गुणों से परे है और साथ ही उनका स्वामी भी है।।१५।।

तात्पर्य

जीवों की सम्पूर्ण इन्द्रियों के मूल होने पर भी परमेश्वर उनके समान प्राकृत

इन्द्रियों से युक्त नहीं हैं। वास्तव में तो जीव की इन्द्रियाँ भी अप्राकृत हैं। किन्तु बद्धावस्था में वे प्राकृत तत्त्वों से ढक गई हैं और इसी कारण इन्द्रिय-क्रियाओं की अभिव्यक्ति जड़ प्रकृति के द्वारा होती है। श्रीभगवान् की इन्द्रियाँ इस प्रकार कभी आवृत नहीं होतीं। उनकी इन्द्रियाँ सर्वथा अप्राकृत हैं, इसीलिए वे 'निर्गुण' कहलाते हैं। 'गुण' का अर्थ माया के त्रिविधगुणों से है। श्रीभगवान् की इन्द्रियाँ मायिक आवरण से मुक्त हैं, अतएव वे निर्गुण हैं। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि उनकी इन्द्रियाँ हमारी इन्द्रियों के समान नहीं है। हमारी सम्पूर्ण इन्द्रिय-क्रियाओ के होते हुए भी वे स्वयं दिव्य शुद्ध इन्द्रियों से युक्त हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के **सर्वतः पाणिपादम्** श्लोक में इस तथ्य का अतिशय सुन्दर प्रतिपादन है। श्रीभगवान् के हाथ ऐसे नही हैं, जो माया-दूषित हो। वरन्, उनके अपने विशिष्ट दिव्य हाथ है, जिनसे वे सब समर्पण स्वीकार कर लेते हैं। बद्धजीव और परमात्मा में यही भेद है। श्रीभगवान् की प्राकृत आँखें नहीं है, पर साथ ही दिव्य नेत्र हैं; अन्यथा वे देखते कैसे ? उनकी इन्द्रियाँ साधारण नहीं है—वे सबके साक्षी, त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ है। जीव के हृदय में बैठे हुए वे हमारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के भी सभी कर्मों को जानते हैं। श्रीभगवद्गीता में अन्यत्र भी कथन है 'वे सब कुछ जानते हैं, पर उनके तत्त्व को कोई नहीं जानता।'' कहा जाता है कि श्रीपरमेश्वर के हमारे जैसे चरण नही हैं। अप्राकृत चरणों से युक्त होने के कारण वे सम्पूर्ण अन्तरिक्ष का भ्रमण कर सकते हैं। भाव यह है कि परमेश्वर निर्विशेष-निराकार नहीं हैं। उनके अपने विलक्षण नेत्र, चरण, हाथ आदि हैं। हम श्रीभगवान् के भिन्न-अंश हैं, इसलिए हम भी इन अंगों से युक्त हैं। परन्तु श्रीभगवान् मे यह विशेषता है कि उनकी इन्द्रियों को प्रकृति (माया) कभी स्पर्श नहीं कर सकती।

श्रीभगवद्गीता में प्रमाण है कि श्रीभगवान् सदा अपनी योगमाया के द्वारा ही अवतरित होते हैं। वे त्रिगुणमयी माया के स्वामी हैं, अतः उससे दूषित नहीं होते। वैदिक शास्त्रों के अनुसार उनका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। वे सच्चिदानन्दविग्रह है। सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त है तथा सम्पूर्ण श्री और शक्ति के अधीश्वर, परम बुद्धिमान् और ज्ञानमय हैं। ये श्रीभगवान् के कुछ लक्षण हैं। वे ही सम्पूर्ण जीवों के पालनकर्ता और कर्मों के साक्षी हैं। जहाँ तक वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, श्रीभगवान् नित्य मायातीत दिव्य पुरुष हैं। यद्यपि हमें उनके मुख, नेत्र, हाथ, पैर, आदि का दर्शन नहीं होता, परन्तु यह सत्य है कि वे इन अंगों से युक्त हैं। शुद्धसत्त्व में आरूढ़ हो जाने पर ही भगवत्रूप का दर्शन हो सकता है। वर्तमान में हमारी इन्द्रियाँ माया से दूषित हैं; इसलिए उनके रूप का दर्शन नहीं हो रहा है। यही कारण है कि

मायाबद्ध निर्विशेषवादी श्रीभगवान् के तत्त्व को हृदयंगम नहीं कर पाते।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१६।।

अनुवाद

परमसत्य चराचर में, बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है; सूक्ष्म होने के कारण वह प्राकृत इन्द्रियों के जानने-देखने में नहीं आता; परन्तु दूर होने के साथ ही वह सबके समीप भी है।।१६।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१७।।

अनुवाद

अलग-अलग जीवों में पृथक्-पृथक् रूप से स्थित लगता हुआ भी परमात्मा वास्तव में नित्य विभागरहित है। उसे ही सम्पूर्ण प्राणियों का जन्मदाता, पालक और संहार करने वाला जानना चाहिए।।१७।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१८।।

अनुवाद

वह ज्योतिर्वानों की ज्योति का स्रोत है, माया के अन्धकार से अति परे अगोचर है। वही ज्ञानस्वरूप, जानने योग्य और तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला है। वह सब के हृदय में बैठा है।।१८।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१९।।

अनुवाद

इस प्रकार क्षेत्र (देह), ज्ञान और जानने योग्य तत्त्व का स्वरूप मेरे द्वारा संक्षेप से कहा गया। केवल मेरा भक्त ही इसे जान सकता है और इस प्रकार जान कर मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।।१९।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।२०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! प्रकृति और जीव दोनों को ही अनादि जान; उनके विकारों और त्रिविध गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।।२०।।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२१।।

अनुवाद

प्रकृति सम्पूर्ण प्राकृत कार्य-कारणों की हेतु कही गयी है और पुरुष (जीवात्मा) इस संसार में विविध सुख-दुःखों के भोगने में हेतु है।।२१।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२२।।

अनुवाद

प्रकृति में स्थित जीवात्मा ही प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों को भोगता है। गुणों का यही संग इस जीवात्मा के उत्तम-अधम योनियों में जन्म का कारण है।।२२।।

तात्पर्य

जीव के देहान्तर की प्रक्रिया को समझने के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय अध्याय में कहा है कि वस्त्र बदलने की भाँति जीवात्मा एक देह को त्याग कर अन्य देह धारण कर लेता है। इस देहान्तर का कारण संसार में उसकी आसक्ति ही है। जब तक वह इस अनित्य जगत् पर मुग्ध रहता है, तब तक निरन्तर देहान्तर करता रहता है। प्रकृति पर प्रभुत्व की इच्छावश उसे अवांछनीय योनियों की प्राप्ति भी होती है। विषयवासना के प्रभाव से उसे कभी देव-शरीर मिलता है, तो कभी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, जलचर, सन्त अथवा कृमि आदि योनियों में जन्म होता है। यह क्रम अविराम चल रहा है। अच्छी-बुरी सब अवस्थाओं में जीव अपने को वातावरण का स्वामी समझता है, जबकि वास्तव में वह सब प्रकार से प्रकृति के आधीन है।

जीव को विभिन्न योनियों की प्राप्ति के कारण का यहाँ निर्देश है। वास्तव में इसका कारण प्रकृति के गुणों का संग ही है। अतएव यह आवश्यक है कि वह माया के त्रिविध गुणों से मुक्त हो कर शुद्धसत्त्व में स्थित हो जाय। इसी का नाम 'कृष्णभावनामृत' है। जब तक जीव कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता, तब तक उसकी मति अनादिकालीन विषयवासना से दूषित रहेगी, जिसके परिणामस्वरूप वह देहान्तर करता रहेगा। अतएव इस वर्तमान मति को बदलना है। यह केवल प्रामाणिक आचार्यों

के मुखारविन्द से भगवत्-कथा सुनने से होगा। इसका सर्वोत्तम आदर्श स्वयं अर्जुन है—वह भगवान् श्रीकृष्ण से भगवत्-विज्ञान का श्रवण कर रहा है। इस पकार का श्रवण-परायण जीव माया पर प्रभुत्व की अपनी चिरकालीन इच्छा से शनैः-शनैः मुक्त हो जायगा। जैसे-जैसे प्रभुत्व-कामना क्षीण होगी, वैसे,वैसे ही वह अलौकिक अनिर्वचनीय सुख का आस्वादन करेगा। एक वैदिक मंत्र में उल्लेख है कि श्रीभगवान् के संग में वह जैसे-जैसे तत्त्व को जानता जाता है, वैसे ही अपने सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२३।।

अनुवाद

इस देह में जीव के साथ एक परात्पर भोक्ता भी है, जो सब का परम ईश्वर, साक्षी और अनुमति देने वाला है और जो परमात्मा कहलाता है।।२३।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२४।।

अनुवाद

इस प्रकार जो जीवात्मा और गुणों सहित प्रकृति के तत्त्व को जानता है, उसकी मुक्ति निश्चित है। वह वर्तमान में किसी भी स्थिति में हो, परन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता।।२४।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२५।।

अनुवाद

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य विशुद्ध चित्त से ध्यान करते हुए हृदय में देखते हैं, तो दूसरे ज्ञान और निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं।।२५।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२६।।

अनुवाद

ऐसे भी हैं, जो स्वयं इस ज्ञान को नहीं जानते, परन्तु दूसरों से सुनकर ही

परमपुरुष श्रीभगवान् की भक्ति में तत्पर हो जाते हैं। ये आचार्यों का श्रवण करने के परायण मनुष्य भी जन्म-मृत्यु के सागर से तर जाते हैं।।२६।।

तात्पर्य

यह श्लोक आधुनिक समाज पर विशेष रूप से घटता है। आज के समाज में ज्ञान की शिक्षा का बिल्कुल अभाव-सा हो रहा है। कुछ मनुष्य अनीश्वरवादी प्रतीत होते हैं तो कुछ अज्ञेयतावादी और कुछ दार्शनिक हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो दर्शन (तत्त्व) का ज्ञान किसी को भी नहीं है। जहाँ तक किसी साधारण मनुष्य का प्रश्न है, यदि वह पुण्यात्मा है तो श्रवण के द्वारा पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। अतएव श्रवण-पद्धति की बड़ी महिमा है। आधुनिक जगत् में कृष्णभावना के प्रवर्तक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रवण-भक्ति को बड़ा महत्त्व दिया है। उनके अनुसार यदि साधारण मनुष्य प्रामाणिक आचार्यों से कथा का और विशेष रूप से **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र के दिव्य कीर्तन का श्रवण करे, तो वह पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। अतएव परामर्श है कि सभी मनुष्य भगवत्प्राप्त महापुरुषों से कथा-श्रवण करें और इस प्रकार शनैः-शनैः पूर्ण ज्ञान की अवस्था को प्राप्त हो जाएँ। ऐसे में श्रीभगवान् की उपासना अवश्य होगी। श्रीचैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि इस युग में किसी के लिए अपने आश्रम-धर्म को बदलना आवश्यक नहीं, परमसत्य को मनोधर्म सें जानने के प्रयास को त्यागने की ही आवश्यकता है। जो भगवत्-तत्त्व को जानते हों, उनका दास बनने का यत्न करना चाहिए। यदि किसी को सौभाग्यवश शुद्धभक्त का पादाश्रय प्राप्त हो जाता है तथा उन महापुरुष से स्वरूप-साक्षात्कार के साधन का श्रवण कर वह भी उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करने लगता है, तो इसमें सन्देह नहीं कि यथासमय वह स्वयं भी शुद्धभक्त बन जायगा। इस श्लोक में श्रवण-भक्ति के माहात्म्य का विशेष रूप से उल्लेख है और यह सब प्रकार से ठीक भी है। साधारण मनुष्य दार्शनिक कहलाने वाले मनोधर्मियों के समान योग्य नहीं समझा जाता; किन्तु प्रामाणिक पुरुष के मुख से कथा को सुनकर वह इस भवसागर से सुगमतापूर्वक पार होकर अपने घर, भगवान् के पास लौट सकता है।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो कुछ भी चर-अचर दिखता है, उस सब को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

के संयोग से उत्पन्न जान।।२७।।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२८।।

अनुवाद

जो सब देहों में जीवात्मा के साथ परमात्मा को भी देखता है और जो यह जानता है कि चराचर भूतों का नाश होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का कभी नाश नहीं होता, वही वास्तव में देखता है।।२८।।

तात्पर्य

जो पुरुष सत्संग के द्वारा देह, देही जीवात्मा और जीवात्मा के सखा (परमात्मा) का तत्त्व जान जाता है, वह सच्चा ज्ञानी है। जीव के सखा को न जानने वाले वस्तुतः अज्ञानी हैं। वे केवल देह को ही देखते हैं और देह का नाश होने पर समझते हैं कि सब कुछ नष्ट हो गया। परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। देह का नाश हो जाने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का अस्तित्व अविकृत रहता है, वे नित्य-निरन्तर विविध चराचर योनियाँ धारण करते रहते हैं। **परमेश्वरम्** शब्द को कभी-कभी जीवात्मा का वाचक मान लिया जाता है, क्योंकि जीवात्मा देह का स्वामी है और देह का नाश होने पर देहान्तर करता है। इस दृष्टि से वह भी ईश्वर है। किन्तु परम्परागत आचार्यों के अनुसार **परमेश्वर** पद परमात्मा का वाचक है। दोनों दृष्टियों से परमात्मा और जीवात्मा नित्य बने रहते हैं; उनका नाश कभी नहीं होता। जो ऐसा देखता है, वही तत्त्वदर्शी है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२९।।

अनुवाद

जो पुरुष परमात्मा को जीवमात्र में समभाव से स्थित देखता है, वह चित्त के द्वारा अपने अधःपतन का कारण नहीं बनता और इस प्रकार परमगति को प्राप्त हो जाता है।।२९।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।३०।।

अनुवाद

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति से उत्पन्न देह द्वारा किए हुए देखता है और

आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ में देखता है।।३०।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३१।।

अनुवाद

जब विवेकी पुरुष प्राकृत देहों में भेद के कारण प्रतीत होने वाले स्वरूपों के भेद को नहीं देखता और परमात्मा से ही सब का विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हो जाता है।।३१।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३२।।

अनुवाद

शाश्वत् तत्त्व के द्रष्टा जानते हैं कि आत्मा दिव्य, सनातन और माया से परे है। हे अर्जुन! प्राकृत शरीर में स्थित होने पर भी यह आत्मा न तो कुछ करता है और न लिपायमान ही होता है।।३२।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३३।।

अनुवाद

जैसे सर्वव्यापक होते हुए भी आकाश सूक्ष्मता के कारण किसी से लिपायमान नहीं होता; उसी भाँति, शरीर में स्थित होने पर भी ब्रह्मभूत जीव शरीर से लिप्त नहीं होता।।३३।।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक अकेला सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, वैसे ही शरीर में स्थित एक आत्मा सम्पूर्ण शरीर को चेतना से आलोकित करता है।।३४।।

तात्पर्य

चेतना के सम्बन्ध में नाना मत हैं। यहाँ भगवद्गीता में सूर्य और सूर्य-प्रकाश

का दृष्टान्त है। एक देश में स्थित होते हुए भी सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। इसी भाँति, देह के हृदय-देश में स्थित अणु-आत्मा सिर से पैर तक इस सारे शरीर को चेतना से आलोकित करता है। अतएव चेतना आत्मा की उपस्थिति का प्रमाण है, उसी प्रकार जैसे सूर्यप्रभा से सूर्य का होना सिद्ध होता है। जब तक आत्मा देह में रहता है, तब तक सम्पूर्ण देह में चेतना व्याप्त रहती है; आत्मा के चले जाते ही तत्क्षण चेतना सर्वथा विलुप्त हो जाती है। कोई भी विवेकी पुरुष यह सुगमता से समझ सकता है। अतएव सिद्ध होता है कि चेतना जड़ प्राकृतिक तत्त्वों के समुच्चय से उत्पन्न नहीं हुई है; अपितु, वह तो आत्मा का स्वरूप-लक्षण है। परमात्मा की चेतना से चिद्गुणों में एक होने पर भी जीवात्मा की चेतना सर्वोपरि नहीं है। जीव व्यष्टि-चेतन है, अर्थात् उसकी चेतना किसी एक देह तक सीमित है, जबकि परमात्मा समष्टि-चेतन है—जीवात्मा के सखारूप में सब देहों में व्याप्त है। यह परम-चेतना और जीव-चेतना का अन्तर है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३५।।

अनुवाद

इस प्रकार देह (क्षेत्र) और देही (क्षेत्रज्ञ) के भेद को तथा इस बन्धन से मुक्ति के साधन को जो पुरुष ज्ञानदृष्टि के द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे मेरे परमधाम को प्राप्त हो जाते हैं।।३५।।

तात्पर्य

तेरहवें अध्याय का सार क्षेत्र, जीव-क्षेत्र और परमात्मा-क्षेत्रज्ञ में भेद को जानना है। श्रद्धालु को चाहिए सब से पहले भगवत्कथा का श्रवण करने के लिए सत्सग करे। इस प्रकार वह शनैः-शनै. प्रबुद्ध हो जाएगा। सद्गुरु के आश्रय में उस विवेक की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा आत्मा और जड़ प्रकृति में भेद किया जा सकता है। यही भगवत्प्राप्ति का प्रथम चरण है। गुरुदेव शिष्यो को नाना प्रकार के उपदेशों द्वारा देहात्मबुद्धि से मुक्त होने की शिक्षा देते है। जैसे, भगवद्गीता में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण अर्जुन को सांसारिक चिन्ता से मुक्त करने के लिए उपदेश कर रहे हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि यह देह अचित् जड़ तत्त्व है। इसकी उत्पत्ति चौबीस स्थूल तत्त्वों से हुई है, जिनका विश्लेषण किया जा सकता है। देह स्थूल अभिव्यक्ति है, जबकि मन और उसके विकार सूक्ष्म अभिव्यक्ति हैं। जीवन के लक्षण इन्हीं तत्त्वों की अन्तर्क्रिया हैं। परन्तु इन सब के ऊपर आत्मा है और उसके ऊपर

परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा में निश्चित भेद है। यह प्राकृत-जगत् आत्मा और चौबीस प्राकृत तत्त्वों के योग से कार्य कर रहा है। जो पुरुष आत्मा और प्राकृत तत्त्वों के इस समुच्चय के रूप में सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि के स्वरूप को देखता है, वह परमात्मा की स्थिति को भी देख सकता है और इस प्रकार वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश के योग्य हो जाता है। यह तत्त्व गम्भीर चिन्तन-मनन और साक्षात्कार का विषय है। अतएव गुरुदेव के आश्रय में इस अध्याय को पूर्ण रूप से हृदय में धारण कर लेना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः।।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः



गुणत्रयविभागयोग

(त्रिगुणमयी माया)

श्रीभगवानुवाच।
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तेरे लिए सम्पूर्ण ज्ञानों में भी उत्तम परम ज्ञान को फिर कहूँगा, जिसे जानकर सब मुनिजन इस संसार से परम संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण ने सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक परमसत्य भगवान् के तत्त्व का विशद वर्णन किया है। अब वे स्वयं अर्जुन को आगे प्रबुद्ध करते हैं। यदि इस अध्याय को ज्ञान की पद्धति से धारण किया जाय तो निष्कर्ष रूप में भक्तियोग का

बोध हो जायगा। तेरहवें अध्याय में स्पष्ट किया है कि विनम्रभाव के द्वारा ज्ञान को विकसित करने मे भवबन्धन से मुक्ति हो सकती है। यह भी वर्णन हुआ है कि जीव इस संसार में गुणों के संग के कारण बद्ध है। अब इस अध्याय में, श्रीभगवान् बताते हैं कि गुण वस्तुतः क्या हैं ? किस प्रकार कार्य करते हैं ? कैसे बन्धनकारी होते हैं ? और इनसे मुक्ति का क्या साधन है ? श्रीभगवान् ने इस अध्याय में वर्णित ज्ञान को इससे पूर्व के अध्यायों में कहे ज्ञान से उत्तम कहा है। जिस ज्ञान को हृदयंगम करके मुनिजन संसिद्धि लाभ कर वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं, श्रीभगवान् उसी ज्ञान को अधिक स्पष्टरूप से कह रहे हैं। यह ज्ञान अब तक वर्णित ज्ञान की अन्यान्य पद्धतियों से कहीं श्रेष्ठ है; इसे जानकर कितने ही मनुष्य कृतार्थ हो चुके हैं। अतः आशा है कि जो इस चौदहवें अध्याय को आत्मसात् कर लेगा, वह परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायगा।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

अनुवाद

इस ज्ञान के आश्रित पुरुष मेरी दिव्य प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं। जो इस प्रकार निष्ठ हैं, वे सृष्टिकाल मे जन्म नहीं लेते और न प्रलय के समय ही व्याकुल होते हैं।।२।।

तात्पर्य

जिसे पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष चिद्गुणों में श्रीभगवान् की समानता प्राप्त कर लेता है और परिणाम में जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। परन्तु उसके जीवस्वरूप का नाश नहीं होता। वैदिक शास्त्रों से ज्ञात होता है कि वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट जीवन्मुक्त महापुरुष भी प्रेममयी भगवत्सेवा के परायण हुए नित्य-निरन्तर भगवच्चरणारविन्द के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित रहते हैं। अतएव मुक्तावस्था में भी भक्तों के निज स्वरूप का नाश नहीं होता।

प्राकृत-जगत् में सामान्यतः जो भी ज्ञान होता है, वह सब माया के गुणों द्वारा दूषित है। जो ज्ञान इस प्रकार गुणों द्वारा दूषित नहीं है, वही परम ज्ञान है। उस परम ज्ञान से युक्त होते ही श्रीभगवान् से समकक्षता हो जाती है। जिन्हें वैकुण्ठ-जगत् का कोई ज्ञान नहीं है, वे ही यह धारणा रखते हैं कि पार्थिक देहाकार की प्राकृत क्रियाओं से छूटने पर जीव का आत्मस्वरूप सविशेषता से रहित निराकार हो जाता है। वास्तव में प्राकृत-जगत् की भाँति वैकुण्ठ-जगत् भी सविशेष है। जो यह नहीं जानते, वे समझते

हैं कि वैकुण्ठ-जगत् में सविशेषता नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। वस्तुस्थिति यह है कि परव्योम में अप्राकृत देह मिलती है। वहाँ दिव्य क्रियाएँ भी होती है और इस दिव्य अवस्था को ही भक्तिमय जीवन कहा जाता है। वहाँ का परिमण्डल परम विशुद्ध है तथा चिद्गुणों की दृष्टि से जीव और परमेश्वर में वहाँ समानता है। ऐसे ज्ञान की उपलब्धि के लिए सब प्रकार के दैवी गुणों का विकास करना होगा। इस प्रकार के दैवी गुणों वाला पुरुष न तो प्राकृत-जगत् के सृजन से और न संहार से ही प्रभावित होता है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! मेरी महद्ब्रह्म नामक प्रकृति सब प्राणियों की योनि है और मैं उसमें चेतन रूप जीवों का गर्भाधान करता हूँ। इस जड़-चेतन के संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है।।३।।

तात्पर्य

यह ससार किस कारण से है, इसका यहाँ वर्णन है। ससार में जो कुछ सृष्टि होती है, उसमे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अर्थात् जड़ और चेतन का संयोग कारण है और यह संयोग कराते हैं स्वयं श्रीभगवान्। महत्तत्त्व सम्पूर्ण प्रपंच का कारण है। इसमें सत्त्व आदि तीन गुण है; इसलिए इसे 'ब्रह्म' भी कहा जाता है। श्रीभगवान इसी महत्तत्त्व में गर्भाधान करते हैं; इससे असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व को वैदिक शास्त्रें में स्थान-स्थान पर 'ब्रह्म' कहा है, **तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते।** उस ब्रह्मरूप प्रकृति मे परमपुरुष श्रीभगवान् जीवरूप बीजो का गर्भाधान करते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि चौबीस तत्त्व महद्ब्रह्म नामक प्रकृति के अन्तर्गत ही है। जैसा सातवें अध्याय मे उल्लेख है, इससे परे एक अन्य जीवरूपा परा प्रकृति भी है। श्रीभगवान् के संकल्प से अपरा और परा प्रकृति का सयोग होता है, तत्पश्चात् सब प्राणियों की प्रकृति से उत्पत्ति होती है।

बिच्छु अपने अण्डे धान के ढेर में देता है, जिससे कभी-कभी यह समझ लिया जाता है कि उसका जन्म धान से हुआ है। परन्तु यथार्थ में, धान बिच्छु के जन्म का कारण नहीं है, उसकी माँ धान में अण्डे देती है। इसी प्रकार, प्रकृति जीवों के जन्म का कारण नहीं है। वास्तव में उनका बीज श्रीभगवान् देते हैं, प्रकृति से तो वे केवल उत्पन्न होते दिखते हैं। जीवमात्र को पूर्वकर्म के अनुसार प्रकृति द्वारा रचित देह मिलती

है, जिससे वह कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है। इस प्राकृत-जगत् में जीवों की सब अभिव्यक्तियों के कारण श्रीभगवान् ही हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! सब प्रकार की योनियों में जितने भी शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सब की महद्ब्रह्म प्रकृति तो उत्पत्ति का स्थान, अर्थात् माता है और मैं बीज का गर्भाधान करने वाला पिता हूँ।।४।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

अनुवाद

हे अर्जुन! प्रकृति के सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति के संग में स्थित निर्विकार जीवात्मा को देह में बाँधते हैं।।५।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।।६।।

अनुवाद

हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणों में सत्त्वगुण तो सबसे निर्मल, ज्ञान का प्रकाशक और सम्पूर्ण विकारों से मुक्त है। इसमें स्थित पुरुषों में ज्ञान का विकास होता है; परन्तु वे भी सुख और ज्ञान की उपाधि से बँध जाते हैं।।६।।

तात्पर्य

प्रकृतिस्थ जीव अनेक प्रकार के हैं। कोई सुखी है, तो दूसरा असहाय है, कोई बड़ा कर्मठ है तो कोई निष्क्रिय है। इस प्रकार के लक्षणों के रूप में प्रकट होने वाले गुण ही प्रकृति में जीव की बद्धावस्था के कारण हैं। जीवों को किस गुण से कौन सा बन्धन होता है, यह इस अध्याय में वर्णन है। सर्वप्रथम सत्त्वगुण पर विचार किया जाता है। प्राकृत-जगत् में जिसमें सत्त्वगुण का विकास होता है, वह अन्य बद्धजीवों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् हो जाता है। सत्त्वगुणी मनुष्य लौकिक दुःखों से अधिक प्रभावित नहीं होता; उसमें यह भाव रहता है कि मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ। ब्राह्मण

इस कोटि का प्रतीक है। सुख के इस भाव का कारण यह है कि सत्त्वगुण में पाप कर्मफल का प्रायः अभाव रहता है। वास्तव में वैदिक शास्त्रों में उल्लेख भी है कि सत्त्वगुण का अर्थ अधिक सुख और अधिक ज्ञान है।

यहाँ एक कठिनाई है। सत्त्वगुण में जीव को यह अभिमान हो जाता है कि वह ज्ञानी है, औरों से श्रेष्ठ है। इसी उपाधि से वह बँधता है। इसके अच्छे उदाहरण आधुनिक वैज्ञानिक और दार्शनिक हैं। उनमें अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान है और जीवनयापन की अधिक सुविधाओं के कारण वे एक प्रकार के प्राकृत सुख का अनुभव करते भी हैं। इससे वे सत्त्वगुण में कार्य करने में आसक्त हो जाते हैं। जब तक यह आसक्ति रहेगी, तब तक उन्हें प्रकृति के गुणों से बना किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण करना पड़ेगा। ऐसे में मुक्ति अथवा वैकुण्ठ-जगत् की प्राप्ति नहीं हो सकती। बारंबार दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा कवि बनना पड़ेगा, जिससे जन्म-मृत्यु का दुःखमय चक्र अविराम चलता रहेगा। फिर भी, मायाजनित मोह के वश जीव ऐसे जीवन को सुखदायी समझता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्।।७।।

अनुवाद

और हे अर्जुन! कामजनित रजोगुण को तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न जान। यह जीवात्मा को सकामकर्म की आसक्ति से बाँधता है।।७।।

तात्पर्य

रजोगुण का स्वरूप स्त्री और पुरुष में एक दूसरे के प्रति होने वाला आकर्षण है। स्त्री पुरुष में राग रखती और पुरुष का स्त्री में राग है—यही रजोगण है। इस रजोगुण की वृद्धि होने पर विषयतृष्णा जागृत होती है, जिससे रजोगुणी इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मत्त हो उठता है। इन्द्रियों की तृप्ति के लिए वह समाज अथवा राष्ट्र में सम्मान तथा सुख, परिवार, पुत्र, कलत्र, गृह आदि विषयों की स्पृहा करता है। ये सब रजोगुण के कार्य हैं। जब तक इन पदार्थों की तृष्णा बनी रहती है, तब तक कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा है कि वह अपने कर्मों के फल में आसक्ति के कारण बँध जाता है। स्त्री, पुत्र और समाज की प्रसन्नता के लिए और अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए कर्म करना आवश्यक है। अतः प्रायः सारा विश्व ही रजोगुण के वशीभूत हो रहा है। आधुनिक सभ्यता ने वस्तुतः केवल रजोगुण में उन्नति की है। इसके विपरीत, पूर्व में सात्त्विक अवस्था उन्नत

समझी जाती थी। जब सत्त्वगुणी मनुष्य की भी मुक्ति नहीं हो सकती, फिर रजोगुण में बँधे मनुष्यों के लिए तो कहना ही क्या है!

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

अनुवाद

हे अर्जुन! सब जीवों को मोहने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जान। यह देहाभिमानी जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।।८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त तु शब्द का तात्पर्य है कि देहाभिमानी जीव में तमोगुण विशेष रूप से पाया जाता है। यह तमोगुण सत्त्वगुण के ठीक विपरीत है। सत्त्वगुण में ज्ञान के विकास से तत्त्वबोध होता है, जबकि तमोगुण इसके बिल्कुल विपरीत कार्य करता है। तमोगुण से मोहित जीव प्रमत्त हो उठता है, जो प्रमत्त है, उसे कभी वस्तुज्ञान नहीं हो सकता। उत्थान के स्थान पर उसका पतन ही होता है। वैदिक शास्त्रों में तमोगुणी जीव का लक्षण यह बताया गया है कि उसे तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, कोई भी व्यक्ति देख सकता है कि उसके पितामह की मृत्यु हुई है और इसी भाँति एक दिन वह भी काल का ग्रास बनेगा, क्योंकि मनुष्यमात्र मरणशील है। जिन बालकों को वह जन्म देता है, वे भी मरेंगे। मृत्यु अवश्यम्भावी है। फिर भी, लोग सनातन आत्मा की उपेक्षा करते हुए धनोपार्जन के लिए दिन-रात अथक परिश्रम मे रत है। यह प्रमाद है। प्रमत्तता में वे पारमार्थिक ज्ञान के विकास से सर्वथा विमुख हो रहे है। इस कोटि के मनुष्य अत्यन्त आलसी होते हैं। यदि उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान के लिए सत्संग में निमन्त्रित किया जाय तो वे उसमें रुचि नहीं लेते। वे तो रजोगुणी के समान क्रियाशील भी नहीं हैं। तमोगुणी व्यक्ति का एक लक्षण यह है कि वह आवश्यकता से अधिक सोता है। छ घण्टे की निद्रा स्वस्थ मनुष्य के लिए पर्याप्त है; परन्तु तमोगुणी मनुष्य दिन में कम से कम दस-बारह घण्टे सोता है। ऐसा मनुष्य सदा विषादमग्न दिखाई देता है। मादक द्रव्यों और निद्रा का तो मानो उसे व्यसन सा होता है। ये सब तमोगुण में बँधे मनुष्य के लक्षण हैं।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।९।।

अनुवाद

सत्त्वगुण सुख की आसक्ति से बाँधता है, रजोगुण सकाम कर्मों से बाँधता और तमोगुण प्रमाद से बाँधता है।।९।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! कभी सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रधान हो जाता है, कभी सत्त्वगुण रजोगुण को परास्त कर देता है और वैसे ही कभी तमोगुण भी सत्त्वगुण और रजोगुण से अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार इन तीनो गुणों में प्रभुत्व के लिए निरन्तर स्पर्धा बनी रहती है।।१०।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

अनुवाद

सत्त्वगुण के बढ़ने पर इस देह के सब इन्द्रियरूप द्वार ज्ञान से प्रकाशित हो उठते हैं।।११।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

अनुवाद

और हे अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् लौकिक प्रयत्न, नाना कर्मों का उद्यम, मन की चचलता तथा विषय-वासना—ये सब लक्षण प्रकट होते है।।१२।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अनुवाद

हे कुरुनन्दन! तमोगुण का विकास होने पर प्रमाद, मोह, क्रियाहीनता और अन्धकार की अभिव्यक्ति होती है।।१३।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

अनुवाद

सत्वगुण की वृद्धि के काल में मरने वाला पुण्यात्माओं के निर्मल उच्च लोकों को प्राप्त होता है।।१४।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

अनुवाद

रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ प्राणी कर्मों में आसक्ति वाले मनुष्यों में जन्म लेता है और तमोगुण में मरा हुआ पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।।१५।।

तात्पर्य

कुछ की धारणा है कि एक बार मनुष्ययोनि को प्राप्त होने के बाद जीवात्मा का फिर कभी अधःपतन नहीं होता। यह सत्य नहीं है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि अन्तकाल में यदि किसी में तमोगुण की प्रधानता हो जाय, तो उसे अधम पशुयोनि की प्राप्ति होती है। ऐसे में मनुष्य देह की फिर प्राप्ति के लिए उस स्थिति से क्रमशः अपना उत्थान करना होगा। अतएव जो मनुष्ययोनि के माहात्म्य को यथार्थ रूप से जानते हैं, उन्हें केवल सत्त्वगुण का विकास करते हुए सत्संग द्वारा इन सभी गुणों से छूट कर कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिये। मनुष्यजीवन का यही लक्ष्य है। अन्यथा इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि फिर इस मनुष्ययोनि की ही प्राप्ति हो।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

अनुवाद

सात्त्विक कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है; राजस कर्म का फल दुःख है और तामस कर्म से अज्ञान की प्राप्ति होती है।।१६।।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

अनुवाद

सत्त्वगुण से सच्चा ज्ञान बढ़ता है, रजोगुण से लोभ होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होती है।।१७।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

अनुवाद

सत्त्वगुणी पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुणी पृथ्वी (मनुष्य लोक) में ही रहते हैं और तमोगुणी प्राणी नरकों में गिरते हैं।।१८।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

अनुवाद

जिस काल में तू सब कर्मों में तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी दूसरे को कर्ता नहीं देखेगा और परमेश्वर को इन गुणों से परे देखेगा, उस समय मेरी परा प्रकृति को प्राप्त होगा।।१९।।

तात्पर्य

यथार्थ महात्माओं से त्रिगुणमय कर्मों के तत्त्व को जानकर भलीभाँति हृदयंगम कर लेने से इन सभी से मुक्त हुआ जा सकता है। सच्चे गुरु श्रीकृष्ण है और वे अर्जुन को यह आध्यात्मिक विद्या प्रदान कर रहे है। इस भाँति सब मनुष्य कृष्णभावनाभावित महापुरुषों से त्रिगुणमय कर्मों के तत्त्व को ग्रहण करें। नहीं तो, जीवन दिग्भ्रान्त रहेगा। योग्य गुरु के सदुपदेश से जीवात्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप के, प्राकृत देह के तथा इन्द्रियों के तत्त्व को जान जाता है। वह यह भी जान जाता है कि माया में बँध कर वह किस प्रकार त्रिगुणों के आधीन हो गया है। इन गुणों की आधीनता में वह बिल्कुल असहाय है; किन्तु यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने पर उस भगवत्परायण शुद्ध सत्त्व में फिर से निष्ठ हो सकता है, जो तीनों गुणों से परे है। वास्तव में जीव नाना कर्मों का कर्ता नहीं है। गुणमय देह में स्थित होने के कारण ही वह विवश होकर कर्तापन को प्राप्त हो गया है। पारमार्थिक आचार्य की साहाय्य के बिना स्वरूप-बोध नहीं हो सकता। सद्गुरु के सत्संग से अपने स्वरूप का दर्शन होता है, जिसे जानकर वह पूर्ण रूप से कृष्णभावना में परिनिष्ठित हो जाता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष माया के गुणों के वश में नहीं रहता। सातवें अध्याय में कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण का शरणागत माया के कार्यों से मुक्त हो

जाता है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ पुरुष के लिए माया का प्रभाव क्रमशः समाप्त हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

अनुवाद

देह की उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणो का उल्लघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब दु:खां से मुक्त हुआ जीवात्मा इसी जीवन में अमृत को प्राप्त हो जाता है।।२०।।

अर्जुन उवाच।
कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

अनुवाद

अर्जुन ने जिज्ञासा की, हे प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन लक्षणों से जाना जाता है? उसका आचरण किस प्रकार का होता है? तथा किस साधन के द्वारा वह इन गुणों से मुक्ति-लाभ करता है।।२१।।

श्रीभगवानुवाच।
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।।२२।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते।।२३।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, जो पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति अथवा मोह की प्राप्ति होने पर न तो उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त हो जाने पर उनकी इच्छा करता है; जो उदासीन

की भाँति स्थित रहकर गुणों से विचलित नहीं होता तथा गुण ही कार्य कर रहे हैं, ऐसा जान कर स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख को समान समझता है तथा मिट्टी, पत्थर और सोने को समान दृष्टि से देखता है; जो आत्म-स्वरूप में स्थित धीरपुरुष निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय में समानभाव वाला है; जो मान-अपमान में सम है, मित्र और शत्रु से समान व्यवहार करता है तथा जिसने सब सकाम कर्मों का त्याग कर दिया है वह गुणातीत कहा जाता है।।२२-२५।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

अनुवाद

जो पूर्णरूप से मेरे अनन्य भक्तियोग के परायण है, किसी स्थिति में उससे गिरता नहीं, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके ब्रह्मभूत हो जाता है।।२६।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

अनुवाद

परम सुखस्वरूप, अमृत, अविनाशी और सनातन निर्विशेष ब्रह्म का मैं ही आश्रय (आधार) हूँ।।२७।।

तात्पर्य

ब्रह्म स्वरूप से अमृत, अव्यय, नित्य और सुखमय है। यह ब्रह्म-तत्त्व परम सत्य की अनुभूति का प्रथम चरण है, परमात्मा तत्त्वज्ञान की द्वितीय श्रेणी है तथा श्रीभगवान् परम सत्य के अन्त हैं। इस प्रकार दोनों, निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा आदिपुरुष श्रीभगवान् के अन्तर्गत है। सातवे अध्याय में कहा है कि भौतिक प्रकृति श्रीभगवान् की अपरा (हेय) शक्ति का प्रकाश है। श्रीभगवान् इसी अपरा प्रकृति में जीवों का, जो परा प्रकृति के अंश है, गर्भाधान करते हैं। परा प्रकृति के इस संस्पर्श से जड़ अपरा प्रकृति क्रियान्वित हो उठती है। जब इस अपरा प्रकृति में बँधा जीव तत्त्वज्ञान का अनुशीलन करता है, तब उसका उत्थान होता है, जिससे वह शनैः-शनैः ब्रह्मभूत हो जाता है। परम सत्य के इस ब्रह्मस्तर की प्राप्ति स्वरूप-साक्षात्कार का प्रथम चरण ही है। इस अवस्था को प्राप्त ब्रह्मभूत पुरुष संसार से अतीत तो हो जाता है, किन्तु उसे ब्रह्मतत्त्व की वास्तव में पूर्ण अनुभूति नहीं हो पाती। यदि वह चाहे तो ब्रह्मभूत अवस्था में क्रमशः परमात्मा और भगवान् की अनुभूति तक उठ सकता

है। वैदिक शास्त्रों मे इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हैं। सनकादि चारों कुमार पूर्व में परम सत्य की निर्विशेष ब्रह्म धारणा में निष्ठ थे। बाद में, वे शनैः-शनैः भक्तियोग में आरूढ़ हुए। जो इस ब्रह्म का उल्लंघन नहीं कर सकता, उसके पतन का भय बना रहता है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म तक पहुँचा मनुष्य यदि आगे न बढ़े तो भगवत्-ज्ञान के अभाव में उसकी बुद्धि पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हो पाती। अतएव ब्रह्मस्तर पर आरूढ़ हो जाने के बाद भी भगवद्भक्ति के अभाव में अधःपतन की पूरी सम्भावना है। वैदिक शास्त्रों में आया है, **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।** "भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् रसराज हैं। जो उन्हें जानता है, वह भी चिन्मय रसानन्द का आस्वादन करता है।" परमेश्वर छहों ऐश्वर्यों में पूर्ण हैं। इसलिए जब भक्त उनके उन्मुख होता है, तो इन सबका आदान-प्रदान हुआ करता है। राजा का सेवक प्रायः स्वामी की बराबरी प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार, शाश्वत् अमृतमय सुख तथा अविनाशी जीवन भक्तियोग के सहचर हैं। ब्रह्मानुभूति अथवा नित्यता अथवा अमृतत्व भक्तियोग में समाए रहते हैं। अतएव भक्तियोगी को यह सब पहले से ही प्राप्त है।

स्वरूप से ब्रह्मतत्त्व होने पर भी जीवात्मा प्राकृत-जगत् पर प्रभुत्व करना चाहता है और इसी कारण गिरता है। उसका स्वरूप माया के तीनों गुणों से परे है; फिर भी प्रकृति के संग से वह सत्त्व, रज और तम—प्रकृति के इन नाना गुणों में बँध जाता है। गुणों के संग में प्राकृत-जगत् पर प्रभुत्व की उसकी कामना बनी रहती है। परन्तु पूर्ण कृष्णभावना के साथ भक्तियोग में संलग्न होते ही वह तुरन्त गुणातीत हो जाता है और माया पर प्रभुत्व करने की उसकी अवैध इच्छा दूर हो जाती है। अतएव भक्तियोग की सिद्धि के लिए भक्तों के सत्संग में श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा साधन भक्ति का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार के सत्संग और गुरुकृपा के प्रताप से क्रमशः प्रभुत्व-प्राप्ति की प्राकृत कामना के क्षीण होने पर वह अचल भाव से भगवद्भक्तिनिष्ठ हो जाता है। बाइसवें श्लोक से इस अन्तिम श्लोक तक इसी पद्धति का विधान है। भगवद्भक्ति की पद्धति अतिशय सरल और सुगम है। नित्य भगवत्सेवा करे, श्रीविग्रह को निवेदित नैवेद्य-प्रसाद का आहार करे, भगवच्चरणारविन्द में अर्पित पुष्पों की सुगन्ध को सूँघे, श्रीभगवान् के पावन लीलाधामों का दर्शन करे, भक्तों से उनकी प्रेममयी क्रीड़ाओं का श्रवण करे, **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का नित्य-निरन्तर कीर्तन करे तथा भगवान् और भक्तों की आविर्भाव-तिरोधान जयन्तियों पर उपवास करे। इस पद्धति का अनुसरण करने पर सम्पूर्ण जड़ कर्मों से पूर्ण विरक्ति हो जाती है। जो इस प्रकार ब्रह्मज्योति में स्थित हो जाता है, वह

चिद्गुणों में श्रीभगवान् के समान है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।१४।।

इति भक्तिवेदान्तभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ।।

अथ पंचदशोऽध्यायः



पुरुषोत्तमयोग

(परम पुरुष का योग)

श्रीभगवानुवाच।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, एक पीपल का पेड़ है जिसका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे की ओर है, तथा वैदिक मन्त्र जिसके पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।।१।।

तात्पर्य

भक्तियोग के माहात्म्य का श्रवण करने पर जिज्ञासा हो सकती है कि वेदों का क्या प्रयोजन है ? इस अध्याय के अनुसार वेदाध्ययन का एकमात्र प्रयोजन श्रीकृष्ण को तत्त्व से

जानना है। अतएव कृष्णभावनाभावित पुरुष, अर्थात् भक्तियोगी को अपने-आप वेदों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

इस प्राकृत-जगत् के बन्धन को यहाँ आलकारिक भाषा में पीपल का पेड़ कहा गया है। सकाम कर्मी के लिए इस का अन्त नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी शाखा पर जाता है, दूसरी से तीसरी पर, तीसरी से चौथी पर और इस प्रकार निरन्तर भटकता ही रहता है। इस प्राकृत-जगत्रूप वृक्ष के विस्तार की कोई सीमा नहीं है; जो इसमें आसक्त है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। आत्मोन्नति की ओर लक्षित वैदिक मन्त्र इस वृक्ष के पत्ते हैं। भगवान् ने इस वृक्ष की जड़ों को ऊपर बताया है, क्योंकि ये ब्रह्माजी के निवास सत्यलोक से निकलती हैं, जो इस ब्रह्माण्ड का सर्वोपरि लोक है। यह प्रपञ्च-वृक्ष प्रवाह रूप से नित्य है। जो इसे तत्त्व से जानता है, वह इससे छूट सकता है।

इस विमोचन की पद्धति को समझना आवश्यक है। पूर्ववर्ती अध्यायों में भव-बन्धन से मुक्ति के बहुत से साधनों का वर्णन है तथा तेरहवें अध्याय तक भगवद्भक्तियोग के साधन को सर्वोत्तम बताया गया है। भक्तियोग का प्रधान सिद्धान्त सासारिक कर्मों से वैराग्य और भगवत्सेवा मे अनुराग है। इस अध्याय के प्रारम्भ में उसी पद्धति का विवेचन है, जिसके द्वारा प्राकृत-जगत् की आसक्ति का सम्पूर्ण रूप से छेदन हो जाता है। संसार-रूप वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है। भाव यह है कि यह सबसे ऊपर, सत्यलोक में महत्तत्त्व से निकला है। वहाँ से विभिन्न लोकरूपी शाखाओं में इस संसार-वृक्ष का विस्तार हुआ है। जीवों के कर्मफलरूपी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस वृक्ष के फल है।

इस संसार में हमे ऐसे किसी वृक्ष का अनुभव नहीं है, जो ऊपर मूल और नीचे शाखा वाला हो। इसका कुछ-कुछ आभास नदी-तट पर खड़े वृक्ष को देखने से हो सकता है। पेड़ की छाया जब जल मे पड़ती है तो उसकी शाखायें नीचे और मूल ऊपर की ओर दिखती है। भाव यह है कि यह प्राकृत-जगत्रूप वृक्ष वैकुण्ठ-जगत् रूपी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। वैकुण्ठ-जगत् का यह प्रतिबिम्ब वासना पर ठहरा हुआ है, उसी भाँति जैसे वृक्ष की छाया का जल आधार है। वासना के कारण ही पदार्थ प्रतिबिम्बित प्राकृत प्रकाश में स्थित है। जो संसार-बन्धन से मुक्ति चाहता है, उसे इस वृक्ष को तात्त्विक अन्वेषण द्वारा सम्पूर्ण रूप से जानना चाहिये। तब, इससे अपने सम्बन्ध का छेदन किया जा सकता है।

वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब होने से यह ससार-वृक्ष ठीक प्रतिरूप है। यहाँ जो कुछ है, वह सब वैकुण्ठ-जगत् मे भी है। निर्विशेषवादियों के सांख्य दर्शन के

अनुसार, ब्रह्माजी इस संसार-वृक्ष के मूल हैं और उस मूल से ही क्रमशः प्रकृति, पुरुष, त्रिगुण, पंच महाभूत, दस इन्द्रियों और मन आदि होते हैं। इस प्रकार वे सम्पूर्ण जगत् का भिन्न-भिन्न तत्त्वों में वर्गीकरण करते हैं। यदि ब्रह्मा को सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र माना जाय, तो यह प्राकृत-जगत्.उस केन्द्र के १८० कोण का प्रकाश है और शेष १८० कोण वैकुण्ठ-जगत् है। यह प्राकृत-जगत् उस वैकुण्ठ-जगत् की उल्टी छाया है। अतएव वैकुण्ठ-जगत् मे भी निःसन्देह इसी के समान वैचित्री है; परन्तु वहाँ की वैचित्री सत् है। प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति है तथा पुरुष परमेश्वर स्वय हैं, जैसा भगवद्गीता में वर्णन है। यह सृष्टि प्राकृत है, इसलिए क्षणभंगुर है। प्रतिबिम्ब सदा क्षणभंगुर ही होता है—कभी दृष्टिगोचर होता है तो कभी नहीं। परन्तु इस प्रतिबिम्ब का स्रोत शाश्वत् है। असली वृक्ष की प्राकृत छाया को काटना है। वास्तव में वेद का तात्पर्य वही जानता है, जो इस प्राकृत-जगत् की आसक्ति का छेदन कर सकता है। इस पद्धति को जानने वाला वास्तव में वेदज्ञ है। वेद के कर्मकाण्ड की ओर आकर्षित होना तो मानो वृक्ष के सुन्दर हरे-हरे पत्तों में रमना है। ऐसा व्यक्ति वेद के प्रयोजन को ठीक-ठीक नहीं जानता। जैसा स्वय श्रीभगवान् ने प्रकट किया है, वेद का तात्पर्य इस संसाररूप प्रतिबिम्बित वृक्ष को काट कर वैकुण्ठ-जगत् रूप असली वृक्ष को प्राप्त करना है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

अनुवाद

माया के तीनों गुणों रूप जल से बढ़ी हुई इस ससाररूप वृक्ष की शाखायें ऊपर-नीचे सब ओर फैली हुई हैं। इन्द्रियविषय ही इसके पत्ते है तथा मनुष्ययोनि में कर्म के अनुसार बाँधने वाली इसकी जड़े नीचे की ओर भी फैल रही हैं।।२।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

अनुवाद

इस वृक्ष का असली रूप इस संसार में प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके आदि, अन्त अथवा आधार को भी कोई नहीं जान सकता। इसलिए इस संसार-वृक्ष को दृढ़

निश्चय के साथ वैराग्यरूप शस्त्र के द्वारा काट कर, फिर उस परमपद को खोजना चाहिए, जिसे प्राप्त होकर संसार में फिर नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं आदिपुरुष श्रीभगवान् के शरणागत हो जाय, जिनसे यह पुरातन संसार-प्रवृत्ति फैली है और अनादिकाल से जिनके आश्रित है।।३-४।।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

अनुवाद

जो मोह, मिथ्या अहंकार और असत् सग से मुक्त हैं, अध्यात्मतत्त्व को जानते हैं, जिनकी सम्पूर्ण प्राकृत कामनाएँ नष्ट हो चुकी है, जो सुख-दु ख के द्वन्द्वों से मुक्त हैं और श्रीभगवान् के शरणागत होना जानते हैं, वे ज्ञानीजन उस नित्यधाम को प्राप्त होते हैं।।५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में शरणागति का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस पथ मे सर्वप्रथम यह योग्यता आवश्यक है कि मिथ्या अहंकार से मोहित न हो। अपने को प्रकृति का स्वामी समझकर बद्धजीव अभिमान से दृप्त हो रहा है, इसलिए उस के लिए श्रीभगवान् के शरणागत होना अति कठिन है। यथार्थ ज्ञान के अनुशीलन से जान लेना चाहिए कि प्रकृति का स्वामी वह नहीं है, श्रीभगवान् है। जब जीव अहकारजनित मोह से मुक्त हो जाता है, तब शरणागत-पद्धति को अपना सकता है। जो मनुष्य इस प्राकृत-जगत् में सदा सत्कार चाहता रहता है, उसके लिए श्रीपुरुषोत्तम की शरण मे जाना सम्भव नहीं। गर्व का मूल कारण मोह है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य यहाँ आता है, कुछ काल तक ही रह पाता है और अन्त में चला जाता है, फिर भी मूर्खतावश अपने को ससार का ईश्वर समझ बैठता है। इस प्रकार वह स्वय अपने लिए जटिल समस्या का कारण बन जाता है और परिणाम में निरन्तर कष्ट भोगता है। सम्पूर्ण ससार इस भ्रान्त धारणा के आधीन घूम रहा है। लोग समझते हैं कि यह भूमि मानवसमाज की है। अपने को भूमि का स्वामी समझने की इस मिथ्या धारणा के कारण वे नाना प्रकार से इसका विभाजन कर बैठे हैं। इस भ्रम का त्याग करना होगा कि इस संसार पर मनुष्यजाति का स्वामित्व है। इस से मुक्त होते ही मनुष्य परिवार, समाज और राष्ट्र आदि के स्नेह से होने वाले सभी असत्संगों से मुक्त हो सकता है। वस्तुतः इस संगदोष के कारण ही जीव का संसार-बन्धन है। इसके बाद, अध्यात्मविद्या का विकास करना है। विचार करना चाहिए कि वास्तव में अपना क्या है और क्या अपना नहीं है। इस सम्पूर्ण तत्त्व को जान लेने पर वह सुख-दुःख, आनन्द-विषाद आदि सब द्वन्द्वों से छूट

कर पूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाता है। तब वह श्रीभगवान् के शरणागत हो सकता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

अनुवाद

मेरे उस स्वयप्रकाश धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस प्राकृत-जगत् में फिर नही आता, वही मेरा परमधाम है।।६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम का वर्णन है, जो कृष्णलोक अथवा गोलोक-वृन्दावन कहलाता है और वैकुण्ठ-जगत् में स्थित है। उस वैकुण्ठ-जगत् में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा बिजली की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वहाँ के सब लोक स्वयंप्रकाश हैं। हमारे इस ब्रह्माण्ड में एकमात्र सूर्यलोक स्वयंप्रकाश है; परन्तु परव्योम के सब लाक स्वयप्रकाश है। वैकुण्ठ-लोकों की इस दीप्ति को 'ब्रह्मज्योति' कहते हैं। वास्तव में इस ज्योति का स्रोत कृष्णलोक गोलोक-वृन्दावन है। इस तेजोमयी ज्योति के एक अंश पर महत्तत्त्व का आवरण है। यही प्राकृत-जगत् है। परन्तु ज्योतिर्मय परव्योम का अधिकांश तो वैकुण्ठ नामक दिव्य लोकों से ही परिपूर्ण है। गोलोक-वृन्दावन इन सबमें परमोच्च है।

जब तक जीव इस अंधकारमय प्राकृत-जगत् में है, तब तक वह उपाधियों मे बँधा रहता है; परन्तु प्राकृत-जगत्रूपी उल्टे वृक्ष को काट कर वैकुण्ठ-जगत् में पहुँचते ही वह मुक्त हो जाता है। फिर उसके यहाँ आने का भय नहीं रहता। उपाधिबद्ध जीवन मे जीव अपने को इस प्राकृत-जगत् का ईश्वर समझता है, परन्तु मुक्त हो जाने पर वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश कर श्रीभगवान् के पार्षद के रूप में सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

मनुष्य को वैकुण्ठ-जगत् की इस जानकारी पर मुग्ध हो जाना चाहिए। इच्छा करे कि मै इस संसार से, जो सच्चाई की विकृत छाया है, मुक्त होकर उस शाश्वत्-जगत् को प्राप्त हो जाऊँ। जो प्राकृत-जगत् में अति आसक्त हो, उसके लिए अवश्य इस आसक्ति का छेदन करना दुष्कर होगा। परन्तु यदि वह कृष्णभावना को अंगीकार कर ले, तो शनैः शनैः पूर्ण वैराग्य को प्राप्त हो सकता है। इसके लिए कृष्णभावनाभवित भक्तों का सत्संग करने की बड़ी अपेक्षा है। कल्याणकामी को एक ऐसे भक्तसमाज की खोज करनी चाहिए, जो कृष्णभावना के लिए समर्पित हो। इस

प्रकार के भागवत-संघ में भक्तियोग की शिक्षा ग्रहण करने से प्राकृत-जगत् में आसक्ति की ग्रन्थी को काटा जा सकता है। केवल संन्यासी का वेष बना लेने से ही कोई प्राकृत-जगत् के आकर्षण से निर्लिप्त नहीं हो सकता। संसार से वैराग्य के लिए आवश्यक है कि भगवद्भक्तियोग में अनुराग हो।, अतएव यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि बारहवें अध्याय में वर्णित भक्तियोग सच्चे वृक्ष की इस असत् छाया से बाहर निकलने का एकमात्र उपाय है। चौदहवें अध्याय से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य सब साधन माया से दूषित हैं, केवल भक्तियोग पूर्णरूप से दिव्य है।

परमं मम शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे तो सभी कुछ श्रीभगवान् की सम्पत्ति है; परन्तु वैकुण्ठ-जगत् **परमम्** है, अर्थात् विशेष रूप में छः प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है। उपनिषदों में भी प्रमाण है कि वैकुण्ठ-जगत् में सूर्यज्योति-चन्द्रज्योति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से श्रीभगवान् की अंतरंगा शक्ति द्वारा देदीप्यमान है। उस परमधाम की प्राप्ति का एकमात्र साधन श्रीभगवान् की शरण में जाना है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

अनुवाद

इस बद्ध जगत् में यह जीव मेरा ही शाश्वत् भिन्न-अंश है। बद्धदशा में होने के कारण यह मन और पाँच इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहा है।।७।।

तात्पर्य

यहाँ जीव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—जीव श्रीभगवान् का शाश्वत् भिन्न-अंश है। ऐसा नहीं कि वह बद्धदशा में जीवस्वरूप को धारण कर लेता है और मुक्त हो जाने पर परमेश्वर से एक हो जाता है। वह नित्य भिन्न-अंश है, **सनातन** विशेषण के प्रयोग से यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है। वैदिक मन्तव्य के अनुसार, श्रीभगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार और प्रकाश करते हैं, जिनमें से स्वाश नामक प्रधान रूपों को विष्णुतत्त्व कहते हैं और गौण भिन्न-अंशों को जीवतत्त्व कहते हैं। भगवान् राम, नृसिंहदेव, विष्णुमूर्ति और वैकुण्ठ लोकों के अधीश्वर श्रीकृष्ण के स्वांश-प्रकाश हैं तथा जीव उनके भिन्न-अंश हैं, अर्थात् नित्यदास हैं। श्रीभगवान् के स्वांश-प्रकाश सनातन हैं और उसी प्रकार भिन्न-अंश जीवों का अपना सनातन स्वरूप है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होने के कारण जीवों में उनके आंशिक गुण भी हैं, जिनमें से एक गुण स्वतन्त्रता है। प्राणीमात्र एक जीवात्मा है; उसका निजी स्वरूप है

और उसे अल्पमात्र स्वतन्त्रता भी मिली है। इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने से वह बंधन में पड़ जाता है और इसी के सदुपयोग से शाश्वत् मुक्ति-लाभ कर सकता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह श्रीभगवान् के समान नित्य है। मुक्तावस्था में वह इस बद्धदशा से छूट जाता है और भगवत्सेवा में संलग्न रहता है, जबकि बद्धदशा में त्रिगुणमयी माया के वशीभूत होकर भगवद्भक्तियोग को भूल बैठता है। इस विस्मृतिवश ही प्राकृत-जगत् में जीवित रहने के लिए भीषण संघर्ष करने को वह बाध्य हो जाता है।

मनुष्य, पशु, आदि जीव ही नहीं अपितु ब्रह्मा, शिव और विष्णु जैसे प्राकृत-जगत् के सब महासंचालक भी भगवान् श्रीकृष्ण के अंश हैं। वे सभी सनातन है, उनकी अभिव्यक्ति नित्य है। **कर्षति** शब्द सारपूर्ण है। बद्धजीव प्राकृत-जगत् में मानो लोह-पाश में बँधा हुआ है। मिथ्या अहंकार उसका बंधन है और मन इस भवबधन की ओर ले जाने वाली मुख्य इन्द्रिय है। जब मन सत्त्वगुण में रहता है तो कर्म सुखदायक होते हैं; जब उस में रजोगुण बढ़ जाता है, तो अपने कर्मों से दुःख की प्राप्ति होती है तथा तमोगुण छा जाने पर अधम योनियों में दुर्गति होती है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि बद्धजीव मन और इन्द्रियों वाले प्राकृत शरीर के आवरण में है। मुक्ति होने पर यह प्राकृत आवरण नष्ट हो जाता है, परन्तु उसका दिव्य वपु—जीवस्वरूप बना रहता है। माध्यन्दिनायन श्रुति के अनुसार, **स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्यब्रह्माभिसंपद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति।** अर्थात् इस प्राकृत बन्धन से छूट कर जब जीव वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश करता है, उस समय वह अपने अप्राकृत वपु को फिर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दिव्य देह में वह साक्षात् श्रीभगवान् का दर्शन करता है। वह उनसे संभाषण भी कर सकता है। इतना ही नहीं, वह श्रीभगवान् को तत्त्व से जान जाता है। स्मृति में भी कहा है कि भगवद्धामों में सब जीवों का श्रीभगवान् के समान ही दिव्य वपु है। भिन्न-अंश जीवों और स्वांश विष्णुमूर्ति में वहाँ सारूप्य है। भाव यह है कि मुक्ति-काल में जीव को भगवत्कृपा से दिव्य कलेवर की प्राप्ति होती है।

मम एव अंशः शब्द का बड़ा गम्भीर आशय है। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश किसी प्राकृत वस्तु के भग्न अंश जैसा नहीं है। पूर्व में, दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि आत्मतत्त्व का छेदन नहीं किया जा सकता। आत्म-कण तो वस्तुतः प्राकृत चिन्तन का विषय ही नहीं है। यह कोई जड़ पदार्थ नहीं है, जिसे भग्न करके फिर जोड़ा जा सके। इस श्लोक में आए **सनातन** शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश शाश्वत् हैं, जैसा दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में

उल्लेख है—**देहिनोऽस्मिन् यथा देहे**, प्राणीमात्र की देह मे श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। देह-बन्धन से मुक्त होने पर वह भिन्न-अंश अपने दिव्य विग्रह को फिर से प्राप्त होकर भगवद्धाम में श्रीभगवान् के संग में आनन्द करता है। इसका यह भी भाव है कि जीव श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है, इसलिए वह चिद्गुणो मे उन्ही के समान है, जैसे स्वर्ण का एक कण भी स्वर्ण है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

अनुवाद

जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देह का स्वामी जीव प्राकृत-जगत् मे जिस शरीर को त्यागता है, उससे अपनी सब स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियो को ग्रहण कर दूसरे शरीर मे ले जाता है।।८।।

तात्पर्य

जीव को ईश्वर कहने का अर्थ यह है कि वह अपनी देह और इन्द्रियां का स्वामी है। वह स्वेच्छा से उच्च-अधम किसी भी योनि में देहान्तर कर सकता है। इस विषय मे उसे आशिक स्वतन्त्रता है। उसका देहान्तर किस शरीर मे होगा, यह उसी पर निर्भर करता है। जीवन मे उसने जिस चेतना का विकास किया है, मृत्यु-काल मे वह उसे अगले प्रकार के शरीर मे ले जायगी, यदि अपनी चेतना को कुते-बिल्ली के स्तर पर रखा है, तो कुते-बिल्ली की योनि मे ही उसका देहान्तर होगा। इसी प्रकार, जिसकी चेतना दैवी गुणो पर एकाग्रित है, उसे देव-शरीर मिलेगा। अतएव इसमे सन्देह नही कि यदि वह कृष्णभावनाभावित है, तो अवश्य ही वैकुण्ठ-जगत् के कृष्णलोक मे श्रीकृष्ण का सांनिध्य-लाभ करेगा। यह कहना बिल्कुल मिथ्या है कि इस देह का नाश होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। सत्य यह कि जीवात्मा निरन्तर देहान्तर कर रहा है और उसकी वर्तमान देह और क्रिया अगले शरीर को निर्धारित करती है। यथासमय उस देह को त्याग कर कर्मानुसार किसी अन्य देह में जाने को जीव बाध्य है। यहाँ उल्लेख है कि सूक्ष्म शरीर अगले शरीर का संस्कार धारण किए रहता है और पुनर्जन्म में एक नए स्थूल शरीर का विकास करता है। इस देहान्तर के क्रम का और देह मे चलने वाले संघर्ष का नाम ही **कर्षति** है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

अनुवाद

इस प्रकार दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण करके यह जीव शरीर के अनुसार मन तथा उसके आधीन कान, नेत्र, त्वचा, रसना और नाक से विषय भोगता है।।९।।

तात्पर्य

भाव यह है कि जो जीव अपनी चेतना को कुत्ते-बिल्ली के गुणों से दूषित कर देता है, उसे पुनर्जन्म में कुत्ते-बिल्ली का शरीर मिलता है और इसी के अनुरूप वह विषय भोगता है। चेतना मूल रूप में जल के समान निर्मल और शुद्ध है। परन्तु यदि जल में कोई रंग मिला दिया जाय तो वह उसी रंग का प्रतीत होने लगता है। ऐसे ही, चेतना भी आदिरूप में निर्मल है, क्योंकि जीवात्मा का स्वरूप शुद्ध है। परन्तु प्राकृत गुणों के संग के अनुसार वह विकृत हो जाती है। असली चेतना कृष्णभावना है, अतएव जो कृष्णभावनाभावित है, वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित है। यदि यह चेतना किसी प्रकार के प्राकृत मनोभाव से दूषित हो जाय, तो अगले जन्म में उसी के अनुसार देह मिलेगी। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य शरीर की ही फिर प्राप्ति हो, कुत्ते, बिल्ली, सुअर, देवता आदि चौरासी लाख योनियों मे से किसी की भी प्राप्ति हो सकती है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुः।।१०।।

अनुवाद

जीवात्मा जिस प्रकार देह को त्याग कर जाता है और माया के आधीन जिस देह को भोगता है, मूर्ख यह नहीं जान सकते; परन्तु विवेकरूप नेत्र वाले ज्ञानी पुरुषों को इस सबका अनुभव होता है।।१०।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

अनुवाद

आत्मज्ञानी योगी यत्न करते हुए इस तत्त्व को पूर्ण रूप से देखते है; परन्तु जो आत्मज्ञानी नही हैं, वे चेष्टा करने पर भी इसे नहीं देख सकते।।११।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

अनुवाद

जो तेज सूर्य मे स्थित होकर सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा

में है और जो अग्नि में है, उसको तू मेरा ही तेज जान।।१२।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

अनुवाद

मै सम्पूर्ण लोकों में प्रवेश करके उन्हें सारे जीवों सहित अपनी शक्ति द्वारा धारण करता हूँ और अमृतमय चन्द्रमा होकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।।१३।।

तात्पर्य

निःसन्देह सम्पूर्ण लोक श्रीभगवान् की शक्ति से ही अतरिक्ष में भ्रमण कर रहे है। श्रीभगवान् का एक-एक लोक, एक-एक जीव और अणु-अणु में प्रवेश है। इस तत्त्व का निरूपण ब्रह्मसंहिता में है। उस के अनुसार श्रीभगवान् का एक अंश-प्रकाश, परमात्मा सब लोकों, ब्रह्माण्डों, जीवों, यहाँ तक कि अणुओं में भी प्रवेश करता है। उनके इस प्रकार प्रवेश करने से ही सब कुछ ठीक-ठीक प्रकाशित होता है। जब तक आत्मा देह मे रहता है, तब तक ही मनुष्य तैर सकता है; आत्मा के जाते ही शरीर डूब जाता है। इसी प्रकार, ये सब लोक अंतरिक्ष में तैर रहे हैं, क्योंकि इनमें श्रीभगवान् की शक्ति का प्रवेश हुआ है। भगवत्-शक्ति के लिए ये लोक धारण करने को कुछ धूलिकणों से अधिक नही हैं। यदि कोई मुट्ठी में धूल उठाए, तो वह नहीं गिरेगी; परन्तु यदि उसे ऊपर उछाला जाय, तो वह अवश्य गिरेगी। अंतरिक्ष में तैरते हुए इन लोको को वस्तुतः विश्वरूपधारी श्रीभगवान् ने अपनी मुट्ठी में पकड़ रखा है। उनकी शक्ति और सामर्थ्य से सभी चराचर पदार्थ यथास्थान बने रहते हैं। शास्त्रों में कहा है कि श्रीभगवान् के कारण ही सूर्य चमकता है और ग्रह गतिशील हैं। उनके बिना सब लोक वायु में धूलि के समान बिखर कर तत्काल नष्ट हो जाएँ। यह भी श्रीभगवान् की शक्ति का ही प्रभाव है कि चन्द्रमा वनस्पति-जगत् का अमृत से पोषण करता हुआ रस का संचार करता है। उसके बिना वनस्पतियाँ न तो बढ़ेंगी और न स्वादिष्ट होंगी। वास्तव में देखा जाय तो श्रीभगवान् की कृपा से ही मानव समाज कार्य कर रहा है और स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेता हुआ सुखपूर्वक जीवनयापन कर रहा है। अन्यथा, उसके लिए बना रहना असम्भव है। **रसात्मकः** शब्द सारगर्भित है, चन्द्रमा के द्वारा श्रीभगवान् सब खाने योग्य पदार्थों में रस, अर्थात् स्वाद का संचार करते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अनुवाद

मैं ही सब प्राणियों के शरीर मे वैश्वानर अग्निरूप से प्राण-अपान के साथ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं।।१४।।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

अनुवाद

मै सब प्राणियो के हृदय में बैठा हूं और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है, सब वेदों से एकमात्र मै ही जानने योग्य हूं तथा वेदान्त का रचयिता और वेदों को जानने वाला भी मै ही हूं।।१५।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अनुवाद

क्षर और अक्षर, ये दो प्रकार के जीव हैं। प्राकृत-जगत् में सब प्राणी क्षर हैं और वैकुण्ठ-जगत् में प्राणीमात्र अक्षर कहलाता है।।१६।।

तात्पर्य

पूर्व में कहा जा चुका है कि श्रीभगवान् ने व्यास-अवतार में 'वेदान्तसूत्र' का सकलन किया। यहाँ श्रीभगवान् वेदान्तसूत्र का सारांशनिरूपण करते हैं। वे कहते हैं कि जीव असंख्य है और उनकी क्षर और अक्षर—दो कोटियाँ हैं। जीव श्रीभगवान् के सनातन भिन्न-अश हैं। जब वे प्राकृत-जगत् के संसर्ग में रहते हैं, तो 'जीवभूत' कहे जाते हैं। यहाँ पर **सर्वाणि भूतानि** का तात्पर्य है कि वे स्वरूप से पतनमुखी हैं। इसके विपरीत, जो मुक्त जीव श्रीभगवान् से एकावस्था में स्थित हैं, उनका कभी स्वरूप से पतन नहीं होता, अर्थात् वे अक्षर हैं। एकावस्था का यह अर्थ नहीं कि उनका अपना कोई स्वरूप ही नहीं रहता। इसका अर्थ है कि वे परस्पर सम्बन्धहीन नहीं हैं। वे सब सृष्टि के प्रयोजन के लिए एकमत हैं। निःसन्देह शाश्वत् वैकुण्ठ-जगत् की सृष्टि का प्रश्न नहीं उठता। यहाँ सृष्टि विषयक विचार इसलिए किया गया है, क्योंकि श्रीभगवान् ने 'वेदान्तसूत्र' में कहा है कि वे सब उद्गमों के स्रोत हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार जीवों की दो कोटियाँ हैं। यह वेदों से भी प्रमाणित है, अत. निःसन्देह सत्य है। जो जीव मन और पाँच इन्द्रियों के साथ इस संसार में संघर्ष कर रहे हैं, वे प्राकृत देह में स्थित हैं। बद्धावस्था में जीव की देह में निरन्तर विकार हुआ करता है। ऐसा अचित् (जड़ प्रकृति) के संसर्ग के कारण होता है; अचित् जड़-तत्त्व विकारी है, इसलिए उसके संसर्ग में जीवात्मा भी विकारी प्रतीत होता है। परन्तु वैकुण्ठ-जगत् में मिलने वाली देह अचित् जड़ से नहीं बनी होती; अतः वहाँ क्षरण अथवा विकार नहीं होता। प्राकृत-जगत् में जीव को छः विकारों की प्राप्ति होती है—जन्मना, बढ़ना, कुछ काल तक रहना, सन्ततिरूप परिणाम, क्षय और अन्त में विनाश। ये सब वास्तव में प्राकृत देह के विकार हैं। इसके विपरीत, वैकुण्ठ-जगत् में देह में कभी कोई विकार नहीं होता। वहाँ न जरा है, न जन्म है और न मृत्यु ही है। वहाँ सब कुछ एकावस्था में स्थित है। इसी भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए **सर्वाणि भूतानि** शब्दों का प्रयोग है। ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक जो कोई भी प्राणी जड़ प्रकृति के संसर्ग में है, उसका शरीर विकारी है; वह क्षर है, अर्थात् अपने स्वरूप से पतनमुखी है। परन्तु वैकुण्ठ-जगत् में ऐसा नहीं है। वहाँ पर सभी एकावस्था में मुक्त हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

अनुवाद

परन्तु इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अविनाशी परमेश्वर ही हैं, जो इन सब लोकों में प्रवेश करके उनका धारण-पालन करते हैं।।१७।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

अनुवाद

मैं क्षर-अक्षर दोनों से परे, सबसे उत्तम हूँ; इसलिए संसार में और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।।१८।।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो कोई भी इस प्रकार मुझे निश्चित रूप से पुरुषोत्तम जानता है,

वह सब कुछ जानता है और पूर्ण रूप से मेरे भक्तियोग के परायण हो जाता है।।१९।।

तात्पर्य

जीव-स्वरूप और परतत्त्व-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद हैं। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि जो कोई उन्हें तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वही वास्तव में सर्वज्ञ है। अपूर्ण ज्ञानी परतत्त्व विषयक तर्क ही करता रहता है, जबकि पूर्ण तत्त्वज्ञ अपना समय नष्ट किए बिना प्रत्यक्ष रूप से कृष्णभावना अर्थात् भगवद्भक्तियोग में तत्पर हो जाता है। सम्पूर्ण गीता में आद्योपान्त पद-पद पर इसी सत्य पर बल दिया गया है। फिर भी गीता के हठाग्रही व्याख्याकार परतत्त्व और जीवतत्त्व को एक मानते हैं।

वैदिक ज्ञान को श्रुति कहते हैं, क्योंकि वह सुनने से होता है। वास्तव में वैदिक ज्ञान को श्रीकृष्ण से अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से ग्रहण करना चाहिए। यहाँ श्रीकृष्ण ने विशद तत्त्व-विवेचन किया है, अतः इसका श्रवण करे। पशुओं के समान एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देने से कोई लाभ नहीं होगा। सच्चे लाभ के लिए प्रामाणिक आचार्यों से ज्ञान को धारण करना चाहिए। ऐसा नही कि स्वय बौद्धिक तर्क-वितर्क (मनोधर्म) करता रहे। आत्मसमर्पणशील भाव के साथ भगवद्गीता से यह सुनना चाहिए कि सब जीव सदा श्रीभगवान् के वश में हैं। जो यह जान जाता है, भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार वह सम्पूर्ण वेदों के तात्पर्य को जानता है। दूसरा कोई वेदों के तात्पर्य को नही जानता।

भजते शब्द आशयपूर्ण है। अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग श्रीभगवान् की सेवा के अर्थ में है। यदि कोई मनुष्य पूर्ण कृष्णभावना के साथ भगवद्भक्तियोग में लगा हुआ है तो समझना चाहिए कि उसने सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान को जान लिया है। वैष्णव परम्परा में माना जाता है कि जो श्रीकृष्ण के भक्तियोग के परायण है, उसे परमसत्य को जानने के लिए किसी अन्य परमार्थ-साधन की अपेक्षा नहीं है। भक्तियोग में तत्पर होने के प्रभाव से वह पहले ही उस स्तर तक पहुँच चुका है। उसके लिए ज्ञान की प्रारम्भिक पद्धतियों में कोई सार नहीं रहता। प्रकारान्तर से, हजारों जन्मों तक तर्क-वितर्क करने पर भी यदि कोई इस ज्ञान तक नहीं पहुँचता कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनकी शरण में जाना जीव का परम धर्म है, तो इतने वर्षों और जन्मों तक किया वाद-विवाद और मनोधर्म समय का निरर्थक अपव्यय है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

अनुवाद

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह वैदिक शास्त्रों का परम गोपनीय सार मेरे द्वारा प्रकट किया गया। इसको जानने वाला बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है।।२०।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने स्पष्ट किया है कि यह तत्त्व सम्पूर्ण शास्त्रों का परम सार है। यह आवश्यक है कि इस परम सत्य को उसी रूप में ग्रहण किया जाय जिस रूप मे श्रीभगवान् ने इसका उपदेश किया है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष बुद्धिमान् और दिव्य ज्ञान में सिद्ध हो जायगा। भाव यह है कि श्रीभगवान् के इस दर्शन को समझने और उनकी दिव्य सेवा में तत्पर हो जाने से मनुष्यमात्र त्रिगुणमयी माया के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो सकता है। भक्तियोग वस्तुत· अध्यात्म बोध का मार्ग है। जहाँ भक्तियोग है, वहाँ प्राकृत दोष नहीं रह सकते। श्रीभगवान् और उनके भक्तियोग में भेद नहीं है; दोनों दिव्य हैं, अर्थात् भगवती अंतरगा शक्ति से युक्त है। श्रीभगवान् मानो सूर्य है और अविद्या जैसे अंधकार है। जहाँ सूर्य है, वहाँ अधकार नहीं रह सकता। ऐसे ही, जो पुरुष सद्गुरु के मार्गदर्शन में भक्तियोग के परायण है, उनमे अविद्या का लेश भी नहीं रहता।

मनुष्यमात्र को बुद्धिमान् और शुद्ध होने के लिए इस कृष्णभावना को अंगीकार कर भक्तियोग में सलग्न हो जाना चाहिए। जब तक कोई भगवान् श्रीकृष्ण के इस पुरुषोत्तम-तत्त्व को जानकर भक्तियोग के परायण नहीं होता, किसी सामान्य मनुष्य की गणना में वह चाहे कितना भी बुद्धिमान क्यों न हो, परन्तु वास्तव में वह बुद्धिमान् नहीं है।

अर्जुन को **अनघ** कहने का गूढ अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के पापों से मुक्त हुए बिना श्रीकृष्ण को जान पाना बड़ा कठिन है। मनुष्य को सब दोषों और पापकर्मो से छूट जाना होगा; तभी वह इस तत्त्व को जान सकेगा। परन्तु भक्तियोग इतना शुद्ध और शक्तिशाली है कि जो एक बार इसमें प्रवृत्त होता है, वह अपने-आप निष्पाप शुद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

शुद्ध भक्तों के सत्संग मे पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग का आचरण करते हुए कुछ दोषों को पूर्ण रूप से दूर कर देना चाहिए। सबसे पहले हृदय की दुर्बलता को जीतना है, क्योंकि माया पर प्रभुत्व की इच्छा पतन का सबसे बड़ा

कारण है। ऐसी इच्छा के कारण ही मनुष्य भक्तियोग का त्याग कर बैठता है। हृदय की दूसरी दुर्बलता यह है कि जैसे-जैसे माया पर प्रभुत्व करने की प्रवृत्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे ही वह जड़ तत्त्व में और जड़ तत्त्व के स्वत्व में अधिक आसक्त होता जाता है। भवरोग के दुःख हृदय की इन दुर्बलताओं के कारण ही हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः।।१५।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचदशोऽध्यायः।।

अथ षोडशोऽध्यायः



दैवासुरसम्पद्विभागयोग

(दैवी और आसुरी स्वभाव)

श्रीभगवानुवाच।
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, भय का अभाव, अन्तःकरण की निर्मलता, दिव्य ज्ञान का सेवन, दान, आत्मसंयम, यज्ञ, वेदो का अध्ययन, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, दोष-दृष्टि का अभाव, जीवों पर दयाभाव, लोभ का अभाव, कोमलता, लज्जा, दृढ़ निश्चय, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता तथा ईर्ष्या और सम्मान की इच्छा का अभाव—ये सब गुण तो हे अर्जुन! दैवी प्रकृति को प्राप्त हुए

पुरुष के लक्षण हैं।।१-२-३।।

तात्पर्य

पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में प्राकृत-जगत्‌रूप पीपल के वृक्ष का वर्णन है। उसकी गौण जड़ों को जीवों की शुभ-अशुभ कर्मवासना बताया गया। नौवें अध्याय में भी प्राणियों की दैवी और आसुरी प्रकृतियों का उल्लेख है। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार, सात्त्विक कर्म शुभ माने जाते हैं, क्योंकि इनसे मुक्ति के पथ पर उन्नति होती है। ये कर्म दैवी प्रकृति के अंतर्गत आते हैं। इस दैवी प्रकृति के आश्रय में स्थित पुरुष मोक्ष के पथ पर उन्नति करते हैं। दूसरी ओर, जो रजोगुणी अथवा तमोगुणी कर्म करते हैं, उनके लिए मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। उन्हें या तो मनुष्ययोनि में ही रहना होगा अथवा पशु आदि अधम योनियों की प्राप्ति होगी। इस अध्याय में श्रीभगवान् दैवी प्रकृति और उसके गुणों का, आसुरी प्रकृति और उसके गुणों का वर्णन करते है। साथ ही, उन्होंने इन गुणों के हानि-लाभ का भी निर्देश किया है।

दैवी गुणों के साथ जन्मे पुरुष के लिए आया **अभिजातस्य** शब्द महत्त्वपूर्ण है। दैवी अथवा भगवत्परायण वातावरण में बालक को जन्म देने के लिए वेदों में गर्भाधान संस्कार का विधान है। यदि माता-पिता को दैवी गुणवान् पुत्र की अभिलाषा हो, तो उन्हें मनुष्य के दसविध संस्कारों का पालन अवश्य करना चाहिए। पूर्व में कहा जा चुका है कि सत्संतान के लिए लक्षित धर्मसम्मत काम श्रीकृष्ण का रूप है। काम का निषेध नहीं है, यदि कृष्णभावना के लिए उसका सदुपयोग किया जाय। जो कृष्णभावनाभावित है, कम से कम उन्हें तो कुत्ते-बिल्ली के समान संतान को उत्पन्न नहीं करना चाहिए। अपितु उनका एकमात्र उद्देश्य कृष्णभावनाभावित बालकों को जन्म देना हो। यह आवश्यक है कि कृष्णभावनाभावित माता-पिता के घर जन्मे बालकों को यह लाभ प्राप्त रहे।

वर्णाश्रमधर्म की समाज-व्यवस्था का उद्देश्य जन्म के आधार पर समाज को विभाजित करना नहीं है। समाज का विभाजन शैक्षणिक गुणों के अनुसार ही होना चाहिए। इस वर्गीकरण का लक्ष्य समाज मे शान्ति और समृद्धि बनाए रखना है। यहाँ पर वर्णित गुणों को दैवी कहा गया है, अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति करते हुए प्राकृत-जगत् मे मुक्त हो जाने के लिए मनुष्य को इनका अनुशीलन (सेवन) करना चाहिए। वर्णाश्रम व्यवस्था में संन्यासी को सब वर्ण और आश्रमो का गुरु समझा जाता है। ब्राह्मण प्राय क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र का गुरु माना जाता है, परन्तु सन्यासी ब्राह्मण का भी गुरु है। संन्यासी का प्रथम गुण निर्भयता है। जो सन्यास ग्रहण करता है,

उसके लिए आवश्यक है कि किसी से सहायता की अपेक्षा किए बिना एकमात्र भगवत्कृपा पर आश्रित रहे। यदि उसके मन में यह विचार उठता हो कि "पारिवारिक सम्बन्धों को त्याग देने पर मेरी रक्षा कौन करेगा?" तो उसे संन्यास लेना ही नहीं चाहिए। उसे यह पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने एकदेशीय परमात्मा रूप में हृदय में नित्य रहते हैं, वे सब कुछ देखते हैं और पूर्ण रूप से जानते हैं कि कौन क्या करना चाहता है। यह दृढ़ निश्चय निरन्तर बना रहे कि श्रीकृष्ण परमात्मारूप से अपने शरणागत जीव की सदा रक्षा करेंगे। मन में विचार करे, "मैं घोर वन में भी अकेला नहीं हो सकता, सब प्रकार से मेरी रक्षा के लिए श्रीकृष्ण निरन्तर मेरे साथ हैं।" इसी विश्वास का नाम **अभयम्** है। संन्यासी की मनोवृत्ति ठीक ऐसी ही होनी चाहिए। इसके बाद, **सत्त्वसंशुद्धिः** (अन्तःकरण की शुद्धि) करनी चाहिए। संन्यासी के लिए अनेक विधि-विधान पालनीय हैं। सबसे पहले, उस के लिए किसी भी स्त्री से कोई अंतरंग सम्बन्ध रखने का पूर्ण रूप से निषेध है। अधिक क्या, संन्यासी के लिए तो एकान्त में स्त्री-सम्भाषण भी वर्जित है। श्रीचैतन्य महाप्रभु आदर्श संन्यासी थे। पुरीधाम मे भक्त स्त्रियाँ वन्दना तक के लिए उनके पास नहीं जा सकती थीं। उनके लिए दूर से ही प्रणाम करने की आज्ञा थी। यह स्त्रीवर्ग से द्वेष का द्योतक नहीं है, इससे तो केवल संन्यासी के लिए स्त्रियो से निकट सम्बन्ध रखने का निषेध है। अन्तःकरण की शुद्धि अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार शास्त्रीय आचरण करने से होती है। संन्यासी के लिए स्त्रियों से निकट का सम्बन्ध रखने और धनसंचय करने का पूर्ण निषेध है। श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं सब प्रकार से आदर्श संन्यासी थे। उनके जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में वे अत्यन्त कठोर थे। उन्हें श्रीभगवान् का सबसे करुणामय (महावदान्य) अवतार कहा जाता है—अधम से अधम जीव का भी उन्होंने उद्धार कर दिया; परन्तु वे भी स्त्रियो के सम्बन्ध में संन्यास-आश्रम के विधि-निषेध का कठोरता से पालन किया करते थे। एक बार छोटे हरिदास नामक उनके एक अतरंग पार्षद ने किसी कारणवश एक युवती के मुख को काम-भावना से देख लिया। श्रीचैतन्य महाप्रभु इस विषय में इतने कठोर थे कि उन्होंने उसे तत्काल अपने पार्षदों के वर्ग से निष्कासित कर दिया। श्रीमन्महाप्रभु ने इस संदर्भ में कहा है, "जो संन्यासी है, अथवा माया के बन्धन से मुक्त होकर और दैवी प्रकृति में स्थित होकर भगवद्धाम को प्राप्त होना चाहता है, उसके लिए विषय-वस्तुओं और स्त्रियो को भोगने की तो बात ही क्या, इन्द्रिय-तृप्ति के लिए इन पदार्थों की इच्छा करना भी इतना अधम है कि इसके पूर्व आत्महत्या कर लेना अधिक

अच्छा होगा।'' ये सब अन्तःकरण की शुद्धि के साधन हैं।

अगला गुण है **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**—ज्ञान के अनुशीलन में तत्पर रहना। संन्यास लेने का उद्देश्य उन गृहस्थ आदि मनुष्यों में ज्ञान का प्रसार करना है, जिन्हें जीवन के यथार्थ लक्ष्य—परमार्थ का विस्मरण हो गया है। सन्यासी के लिए विधान है कि वह द्वार-द्वार पर जाकर मधुकरी करे। इसका अर्थ यह नहीं कि वह भिखारी है। दैवी प्रकृति में स्थित पुरुष का एक लक्षण दैन्य (विनम्रता) है। दीन संन्यासी द्वार-द्वार पर जाता है। उसका उद्देश्य भिक्षा माँगना नहीं है, वह गृहस्थी को दर्शन देकर उनकी सुप्त कृष्णभावना को जागृत करने के लिए ही जाता है। संन्यासी का यह एक प्रधान कर्तव्य है। यदि वह उन्नति कर चुका है, तो गुरुदेव की आज्ञानुसार संन्यास लेकर युक्ति और विवेक के साथ कृष्णभावना का प्रचार करे; परन्तु अध्यात्म में उन्नति के बिना संन्यास न ले। पर्याप्त ज्ञानी न होने पर भी यदि उसने सन्यास ग्रहण कर लिया है, तो ज्ञान-प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से प्रामाणिक गुरु को सुनने के परायण हो जाय। इस प्रकार संन्यासी के लिए अभय, सत्त्वसशुद्धि (आत्मशुद्धि) तथा ज्ञान, ये तीनों गुण अनिवार्य हैं।

दानम् का विशेष अभिप्राय गृहस्थों से है। गृहस्थों को चाहिए कि न्यायपूर्वक धन का अर्जन करें और अपनी आय का पचास प्रतिशत सम्पूर्ण विश्व में कृष्णभावना के प्रचार के लिए दान में लगाएँ। ऐसा करने वाले संघ की सब प्रकार से सहायता करना गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य है। दान सत्पात्र को ही करना चाहिए। देश, काल और पात्र के अनुसार दान के सत्त्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी भेद हैं। शास्त्रों में केवल सत्त्वगुणी दान का विधान है, जबकि राजसी अथवा तामसी दान तो धन का अपव्यय है। दान केवल विश्व में कृष्णभावना के प्रचार के लिए करना चाहिए। यही सात्त्विक दान है।

दमः अर्थात् इन्द्रिय-संयम भी गृहस्थों का विशेष कर्तव्य है। गृहिणी के साथ रहते हुए भी अनावश्यक इन्द्रिय-तृप्ति में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। उसके लिए बहुत से विधि-निषेध है, जिनमें एक यह है कि संतान उत्पत्ति के लिए ही सभोग में प्रवृत्त हो। यदि सतान की इच्छा न हो, तो स्त्री-संभोग करे भी नहीं। दुर्भाग्यवश, शास्त्र की आज्ञा का पालन करने के स्थान पर आधुनिक समाज बालकों के उत्तरदायित्व से बचने के लिए निरोध, गर्भपात जैसे आसुरी साधनों की सहायता से अमर्यादित संभोग करता है। यह निश्चित रूप से आसुरी गुण है। यदि कोई मनुष्य, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, परमार्थ में उन्नति का अभिलाषी हो, तो उसके लिए अपने काम-विचार का संयम करना अनिवार्य है; श्रीकृष्ण की सेवा के उद्देश्य के बिना संतान को जन्म न दे।

यदि किसी में कृष्णभावना के योग्य बालकों को जन्म देने की क्षमता है, तो वह कितने भी बालक उत्पन्न कर सकता है; परन्तु इस योग्यता के बिना केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रवृत्त न हो।

यज्ञः के लिए प्रचुर धन चाहिए; अतः यह भी गृहस्थों का दायित्व है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन सब अन्य आश्रमों के निष्किंचन पुरुष भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते हैं। इसलिए नाना प्रकार के यज्ञ करना गृहस्थों का कर्तव्य है। वैदिक शास्त्रों में अग्निहोत्र आदि का विधान है, परन्तु इनके लिए इतना धन चाहिए है कि आजकल प्रायः कोई भी गृहस्थ यह सब नहीं कर सकता। इस युग के लिए **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** — इस महामन्त्र का संकीर्तन-यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है। यह सब से उत्तम और सरल यज्ञ है। इसे अंगीकार करके प्राणीमात्र लाभान्वित हो सकता है। अस्तु, गृहस्थ को दान, संयम और यज्ञ करना चाहिए।

स्वाध्यायः, तपः, आर्जवम् (सरलता) का प्रयोजन विशेष रूप से ब्रह्मचर्य से है। ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखने का निषेध है। उन्हें ब्रह्मचारी-व्रत का पालन करते हुए चित्त से वैदिक शास्त्रों के अध्ययन और ज्ञान-प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिये। इसी को **स्वाध्यायः** कहा जाता है। **तपः** विशेष रूप से वानप्रस्थों के लिए है। कोई भी मनुष्य आजीवन गृहस्थ न रहे। स्मरण रहे कि जीवन के ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। अतएव गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ ले लेना चाहिए। वैदिक-विधान है कि सौ वर्ष के जीवन में पच्चीस वर्ष ब्रह्मचारी रहे, पच्चीस वर्ष गृहस्थ में और पच्चीस-पच्चीस वर्ष वानप्रस्थ और सन्यास में रहे। गृहस्थ से निवृत्त मनुष्य को मन, वाणी और शरीर के तप का अभ्यास करना चाहिए। वस्तुतः सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्मव्यवस्था तपस्या पर ही आधारित है। तपस्या के बिना किसी की मुक्ति नहीं होती। यह कहना वैदिक शास्त्रों और भगवद्गीता के बिल्कुल विपरीत है कि जीवन में तप की कोई आवश्यकता नहीं है, मनोधर्मी करने से सब कुछ अपने आप हो जायगा। ऐसे मतों का निर्माण वे कपटी अध्यात्मवादी किया करते हैं, जो केवल अपने अनुगामियों की सख्या बढ़ाने के लिए चेष्टा कर रहे हैं। लोगों को विधि-निषेध प्रिय नहीं होता। अतएव उन्हें आकृष्ट करने के लिए ये धूर्त न तो शिष्यों को संयम की कोई शिक्षा देते हैं और न उनके अपने जीवन में ही संयम का कोई स्थान होता है। परन्तु यह विधि वेद-विरुद्ध है।

आर्जवम् सरलता का अभ्यास सभी वर्ण-आश्रमों के मनुष्यों को करना चाहिए। जीवन बड़ा ही सात्त्विक और सरल हो।

जीव की उत्तरोत्तर उन्नति को न रोकने का नाम **अहिंसा** है। यह नहीं समझना चाहिए कि देह का नाश होने पर भी आत्मा का कभी नाश नहीं होता, इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए जीव-हिंसा करने में कोई हानि नहीं है। अन्न, फल, दुग्ध आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं; परन्तु फिर भी लोगों को पशु-हिंसा का व्यसन सा हो गया है। पशु-हिंसा करने का मनुष्य के लिए कोई कारण नहीं है: मनुष्यमात्र के लिए इसका निषेध है। जहाँ कोई उपाय न हो, उस परिस्थिति में पशु-हिंसा की जा सकती है; परन्तु उसे भी यज्ञ में अर्पित करना चाहिए। जो मनुष्य पारमार्थिक उन्नति के अभिलाषी हैं, उन्हें तो कम से कम पर्याप्त मात्रा में अन्न, आदि के होते हुए पशु-हिंसा से बचना ही चाहिए। अहिंसा का असली अर्थ किसी भी जीव की उन्नति में बाधा उपस्थित न करना है. पशु एक योनि से दूसरी योनि में उन्नति कर रहे हैं। यदि किसी पशु की हत्या कर दी जाय, तो उसकी उन्नति रुक जायगी। मारे हुए पशु को शेष समय भोगने के लिए उसी योनि में वापस आना होगा; इसके बाद ही किसी श्रेष्ठ योनि में वह प्रगति कर सकेगा। अतः केवल अपनी रसना की तृप्ति के लिए किसी जीव की प्रगति में विघ्न नहीं डालना चाहिए। इस विचारधारा का नाम अहिंसा है।

सत्यम् का अर्थ है किसी स्वार्थवश तथ्य को तोड़े-मरोड़े बिना यथार्थ भाषण करना। वेदों में कुछ कठिन अंश हैं, जिनका तात्पर्य प्रामाणिक गुरु से सीखना चाहिए। वेदों को जानने की यही पद्धति है। 'श्रुति' का अर्थ है कि आचार्यमुख से श्रवण करना चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए शास्त्रों का मनमाना अर्थ नहीं करना चाहिए। गीता पर अनेक ऐसी टीकायें हैं, जो मूल अर्थ का अनर्थ करती हैं। वाक्य के यथार्थ तात्पर्य को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना चाहिए। इसके लिए सद्गुरु के आश्रय में शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता है।

क्रोध को जीत लेने का नाम **अक्रोधः** है। दुर्जनों द्वारा अपना तिरस्कार होने पर भी शान्त बना रहे, क्योंकि कोप से सम्पूर्ण शरीर दूषित हो जाता है। क्रोध रजोगुण और काम से उत्पन्न होता है; इसलिए सत्त्वगुणी पुरुष को इसे जीत लेना चाहिए। **अपैशुनम्** अर्थात् दूसरों में व्यर्थ दोष-दृष्टि न रखे। निःसन्देह चोर को चोर कहना बुरा नहीं; परन्तु किसी सज्जन को चोर बताना पारमार्थिक उन्नति के बड़ा प्रतिकूल होगा। **ह्रीः** अर्थात् व्यवहार में विनम्रता हो और पापकर्म करने में लज्जा का अनुभव हो। **अचापलम्** का अर्थ है प्रयास की असफलता में भी दृढ़ निश्चय से युक्त रहना। कोई चेष्टा विफल हो जाय तो भी निराश अथवा उद्वेलित न हो। धैर्य और निश्चय के साथ प्रगति-पथ पर अग्रसर होता रहे। **तेजः** का सम्बन्ध

विशेषतः क्षत्रियों से है। निर्बलों की रक्षा के लिए वे सदा अति पराक्रम से युक्त रहें। उन्हें अहिंसा का दम्भ नहीं करना चाहिए। आवश्यकता होने पर वे हिंसा से पीछे न हटें।

शौचम् शब्द मन, वाणी और व्यवहार की पवित्रता का वाचक है। व्यापारी-वर्ग को विशेष रूप से शुद्ध व्यवहार करना चाहिए; अतः काला बाजार करना वर्जित है। **नातिमानिता** का अर्थ सम्मान की इच्छा का न होना हैं। यह शूद्रों के लिए है, क्योंकि वे वेदों के अनुसार चारों वर्णों में सब से निम्न हैं। शूद्र व्यर्थ अभिमान न करें और अपनी मर्यादा में ही रहें। समाज में सुचारु व्यवस्था बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वे उच्च वर्णों का सम्मान करें।

यहाँ वर्णित सभी सोलह गुण दैवी प्रकृति के हैं। अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार सभी मनुष्य इनका आचरण करें। तात्पर्य यह है कि चाहे सांसारिक परिस्थितियाँ दु:खमय हैं; परन्तु यदि सब वर्ण आश्रमों के मनुष्य इन गुणों का अभ्यास करें, तो शनैः-शनैः शुद्धसत्त्वमय अध्यात्म-साक्षात्कार के परमोच्च शिखर पर आरूढ़ हुआ जा सकता है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! पाखण्ड, गर्व, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान—ये सब आसुरी स्वभाव वाले के लक्षण हैं।।४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में नरक के राजपथ का वर्णन है। आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य प्रतिकूल आचरण करते हुए भी धर्म और अध्यात्म-विद्या का पाखण्ड करना चाहते हैं। उन्हें अपनी विद्या और सम्पत्ति का बड़ा गर्व रहता है। वे चाहते हैं कि दूसरे उन्हें पूजें। यद्यपि कोई उनका सम्मान नहीं करता; पर वे सब से सम्मान की माँग करते हैं। छोटी-छोटी बात पर वे अति क्रोधित हो उठते हैं और बहुत ही कठोर वाणी बोलते हैं। वे नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उनका सम्पूर्ण व्यवहार स्वेच्छाचारमय होता है, वे किसी प्रमाण को नहीं मानते। इन सब आसुरी गुणों को वे माँ के गर्भ में ही धारण कर लेते हैं और जैसे-जैसे बढ़ते है, वैसे-वैसे इन अमंगलमय गुणों को प्रकट करते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

अनुवाद

दैवी गुण मोक्ष करने वाले हैं और आसुरी गुण बन्धनकारी माने गए हैं। हे अर्जुन! तू शोक न कर, क्योंकि तू दैवी गुणों के साथ जन्मा है।।५।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! इस संसार में दैवी और आसुरी—ये दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि होती है। उनमें दैवी गुणों का वर्णन विस्तार से कर चुका हूँ, अब मुझ से आसुरी गुणों का विवरण सुन।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

अनुवाद

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य नहीं जानते कि क्या करना है और क्या नहीं करना है। उनमें न तो शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि होती है, न सदाचार होता और न सत्य ही होता है।।७।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

अनुवाद

वे असुर कहते हैं कि यह जगत् मिथ्या है; इसका न तो कोई आश्रय है और न ही कोई ईश्वर है। यह काम से उत्पन्न हुआ है, इसका कोई दूसरा कारण नहीं है।।८।।

तात्पर्य

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों की मान्यता में जगत् मिथ्या है। इसका न तो कोई कारण है, न कार्य है, न ईश्वर है और न ही कोई प्रयोजन है—सभी कुछ मिथ्या है। वे कहते हैं कि यह ब्रह्माण्डीय सृष्टि प्रासंगिक प्राकृत क्रिया-प्रक्रिया से होती है; वे नहीं समझते कि इस जगत् का कोई ईश्वर भी है, जिसने इसकी रचना किसी उद्देश्य से

की है। इस सम्बन्ध में उनका हठ है कि जगत् अपने-आप उत्पन्न हुआ है, इसलिए यह सोचने का कोई कारण नहीं कि इसके पीछे किसी ईश्वर का हाथ है। उनके लिए आत्मतत्त्व और जड़ प्रकृति में कोई भेद नहीं है, वे परम-चेतन को नहीं मानते। सब कुछ जड़-तत्त्व है और सम्पूर्ण सृष्टि मानो अविद्या का एक पुंज मात्र है। उनके अनुसार, सब कुछ शून्य ही शून्य है; अत· जो कुछ भी सृष्टि दिखती है, वह केवल हमारा दृष्टिभ्रम है। उनका पूर्वाग्रह है कि वैचित्री की सारी अभिव्यक्ति अविद्या का कार्य है। इसके लिए वे स्वप्न का उदाहरण देते हैं—जैसे स्वप्न में हम अनेक वस्तुओं की कल्पना कर लेते हैं, जिनका कोई अस्तित्त्व नहीं होता और जागने पर ज्ञात होता है कि वह सब केवल स्वप्न था। यद्यपि असुर जीवन को स्वप्न कहते हैं, परन्तु देखा जाता है कि वे इस स्वप्न का आनन्द लेने में बड़े कुशल हैं।अत· ज्ञान का अर्जन करने के स्थान पर वे अपने स्वप्नलोक में ही उत्तरोत्तर आलिप्त होते जाते हैं। उनकी मान्यता है कि जैसे स्त्री-पुरुष के संयोग से बालक का जन्म होता है, उसी प्रकार इस संसार की उत्पत्ति किसी आत्मा (आत्मतत्त्व) के बिना हुई है। जड़प्रकृति के संयोग से प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, इसलिए आत्मा के अस्तित्त्व का तो प्रश्न ही नहीं बनता, ऐसी उनकी मान्यता है। जैसे स्वेदस्राव और मृत-देह से अपने-आप बहुत से कीटाणु निकलते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डीय सृष्टि के प्राकृत सम्मिश्रणो से सम्पूर्ण प्राणी-समाज निकला है। अतः अपरा प्रकृति के अतिरिक्त सृष्टि का कोई अन्य कारण नहीं है। वे भगवद्गीता में आए श्रीकृष्ण के इन वचनों पर विश्वास नही करते, **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।** "मेरी अध्यक्षता में सम्पूर्ण प्राकृत-जगत् क्रियाशील है।" भाव यह है कि असुरों में इस जगत् की सृष्टि का कोई यथार्थ ज्ञान नहीं होता; उनमें से प्रत्येक का अपना विशेष मत है। उनके अनुसार, शास्त्रों का कुछ भी अर्थ किया जा सकता है, क्योंकि वे शास्त्रीय-विधानों को प्रामाणिक रूप से समझने में विश्वास नहीं रखते।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

अनुवाद

इस प्रकार के मतों को धारण करके जिनका आत्मज्ञान नष्ट हो गया है, जो अल्पबुद्धि हैं और क्रूर कर्मों द्वारा सब का अहित करते हैं, वे आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य जगत् के नाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं।।९।।

तात्पर्य

आसुरी स्वभाव वाले ऐसे क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो रहे है, जिनसे जगत् का नाश हो जायगा। श्रीभगवान् कहते हैं कि वे अल्पज्ञ हैं, अर्थात् उनकी मति अति तुच्छ है। ईश्वर की धारणा से शून्य विषयी समझते हैं कि वे उन्नति कर रहे है, परन्तु भगवद्गीता के मत में तो वे बुद्धिहीन और विचारशून्य ही है। वे इस प्राकृत-जगत् को अधिक से अधिक भोगना चाहते है; अतः इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कुछ न कुछ नया आविष्कार करने में ही लगे रहते हैं। आज समाज में ऐसे आविष्कारो को उन्नति-सूचक माना जाता है। परन्तु इसका परिणाम यह है कि लोगों में हिंसा और क्रूरता बढ़ रही है। पशुओं से क्रूरता की तो बात ही क्या, वे तो आपस में भी व्यवहार करना नहीं जानते—मनुष्य मनुष्य से क्रूरता करता है। आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यो में पशु-हिंसा की प्रमुखता रहती है। ऐसे नरपशु वास्तव में ससार के शत्रु हैं, क्योकि अपने उग्रकर्मों की शृखला में वे एक दिन ऐसा आविष्कार कर लेंगे, जिससे सबका नाश हो जायगा। प्रकारान्तर से यहाँ अणु बमों के निर्माण की पूर्वसूचना है, जिनका आज सम्पूर्ण विश्व को बड़ा गर्व है। किसी भी क्षण भीषण युद्ध छिड़ सकता है। उस परिस्थिति में ऐसे बमों का भयकर परिणाम होगा। जैसा श्लोक मे स्पष्ट है, ऐसे अस्त्रों को केवल जगत् के नाश के लिए बनाया जाता है। मानवसमाज द्वारा इस प्रकार के अस्त्रों के आविष्कार का एकमात्र कारण नास्तिकता है, इनका उद्देश्य जगत् मे सुख-समृद्धि और शान्ति करना नही है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।।१०।।

अनुवाद

ये असुर कभी न तृप्त होने वाले काम, दर्प और मिथ्या अभिमान का आश्रय लेकर मोहवश क्षणभगुर पदार्थों में आसक्त हुए दूषितकर्म का व्रत धारण किए रहते है।।१०।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।।१२।।

अनुवाद

वे मानते हैं कि जीवन के अन्तिम क्षण तक इन्द्रियों की तृप्ति करना ही मनुष्ययोनि का प्रधान प्रयोजन है। इसलिए उनकी चिन्ताओं का कभी अन्त नहीं होता। आशारूप हजारों बन्धनों में बँधे हुए और काम-क्रोध के परायण हुए इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं।।११-१२।।

तात्पर्य

असुर समझते हैं कि इन्द्रियों की तृप्ति करना जीवन का परम लक्ष्य है, मरणकाल की अवधि तक आजीवन उनकी यही धारणा बनी रहती है। मृत्यु के बाद भी कोई जीवन है, यह वे नहीं मानते और न ही यह मानते कि इस संसार में किए कर्म के अनुसार नाना प्रकार की योनियों की प्राप्ति होती है। जीवन के लिए उनकी अनन्त योजनायें हैं, वे योजना पर योजना बनाते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं। हमें ऐसे ही एक आसुरी मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है, जो मृत्यु के समय भी चिकित्सक से अपनी जीवन को चार वर्ष के लिए बढ़ा देने का निवेदन कर रहा था, जिससे वह अपनी अपूर्ण योजना पूर्ण कर सके। ऐसे मूर्ख मनुष्य नहीं जानते कि कोई चिकित्सक जीवन की नियत आयु में एक क्षण की भी अभिवृद्धि नहीं कर सकता। किसी की कामना पूरी हुई है या नहीं, मृत्यु यह नहीं देखती। प्रकृति का नियम इतना कठोर है कि कोई नियतकाल से एक क्षण भी अधिक भोग नहीं कर सकता।

ईश्वर अथवा अपने अन्तर्यामी परमात्मा में श्रद्धाविहीन आसुरी स्वभाव वाला इन्द्रियतृप्ति के लिए नाना प्रकार के पापकर्म करता है। वह नहीं जानता कि इस सब का कोई साक्षी भी है, जो उसके हृदय में ही बैठा है। परमात्मा जीव के सब कार्यों को देखते रहते हैं। जैसा उपनिषदों में उल्लेख है, एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक पक्षी तो कर्म करता हुआ शाखा पर लगने वाले सुख-दुःखरूपी फलों को भोग रहा है, जबकि दूसरा केवल उसका साक्षी है। आसुरी मनुष्य में न तो वैदिक शास्त्रों का ज्ञान होता है और न श्रद्धा ही होती है। अतः परिणाम की चिन्ता किए बिना इन्द्रिय-तृप्ति के लिए स्वेच्छाचार करने में वह अपने को स्वतंत्र समझता है।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

अनुवाद

आसुरी स्वभाव वाले सोचा करते हैं कि मैंने आज यह धन प्राप्त किया और इस मनोरथ को भी प्राप्त करूँगा; मेरे पास इतना धन है और भविष्य में इतना और अधिक बढ़ जायगा। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा। मैं सबका ईश्वर हूँ; मैं भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान् और ऐश्वर्यशाली कुटुम्बियो वाला हूँ। मेरे समान शक्तिशाली और सुखी दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, और आनन्द करूँगा। इस प्रकार के अज्ञान से ये असुर सदा मोहित रहते है।।१३-१५।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनुवाद

इस प्रकार भाँति-भाँति की चिंताओं से भ्रमित चित्त वाले, मोहरूप जाल में बँधे हुए तथा विषयभोग में अति आसक्ति वाले दुष्ट महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं।।१६।।

तात्पर्य

आसुरी मनुष्य की धन-संचय की इच्छा का कोई अन्त नहीं होता; वह सदा अनन्त बनी रहती है। वह बस यही विचार करता रहता है कि इस समय उसके पास कितनी पुजी है और उसे किस प्रकार अधिक से अधिक बढ़ाया जाय। इसके लिए वह कुछ भी पापकर्म करने में संकोच नहीं करता; यहाँ तक कि इन्द्रियतृप्ति के लिए काला बाजार तक करता है। अपनी भूमि, परिवार, घर, धन आदि सम्पत्ति के मोह में वह उन्हें बढ़ाने की चिन्ता में रहता है। वह केवल अपनी सामर्थ्य में विश्वास रखता है और यह नहीं जानता कि उसे जो कुछ भी उपलब्धि होती है, वह सब पूर्वजन्म के पुण्यों का परिणाम है। वह नहीं समझ पाता कि उसे धन-संचय का अवसर पूर्वजन्म के कारणों मे मिला है। आसुरी मनुष्य का विश्वास केवल अपनी शक्ति में रहता है, कर्म के विधान में नहीं। कर्म का नियम है कि उच्चकुल में जन्म, सुन्दरता, शिक्षा अथवा धन की प्राप्ति पूर्वजन्म के पुण्य के कारण होती है। असुर समझता है कि ये सब वस्तुएँ अकस्मात् मिली हैं और इसमें उसकी अपनी सामर्थ्य ही कारण है। उसे भाँति भाँति

के लोगों, रूप-रंग और शिक्षा के पीछे किसी ईश्वरीय व्यवस्था की अनुभूति नहीं होती। जो कोई भी ऐसे असुर के साथ स्पर्धा करता है, वह उसे अपना शत्रु समझता है। आज के जगत् में बहुत से ऐसे आसुरी मनुष्य हैं, जो परस्पर एक-दूसरे के शत्रु हैं। यह शत्रुता व्यक्तियों से बढ़ते-बढ़ते परिवारों, समाजों और अन्त में राष्ट्रों तक में हो जाती है। यही कारण है कि आज सारा संसार कलह, युद्ध और शत्रुता से परिपूर्ण हो रहा है।

आसुरी स्वभाव वाला समझता है कि वह अन्य सब के भाग को भोग सकता है। सामान्यत· वह अपने को ही परमेश्वर समझता है। आसुर-भाव का प्रचारक अपने अनुयायियों से कहता है, "ईश्वर को बाहर कहाँ ढूँढ रहे हो ? तुम स्वयं ईश्वर हो, जो चाहो, वही करो। ईश्वर में विश्वास मत करो। ईश्वर को फैंक डालो। ईश्वर मर गया है।" ये आसुरी शिक्षा के कुछ उदाहरण है।

यह देखते हुए भी कि दूसरे उससे अधिक भी धनी और प्रभावशाली हैं, आसुरी मनुष्य समझता है कि उस के जैसा धनवान् और बलशाली कोई नही हो सकता। जहाँ तक स्वर्ग-प्राप्ति का सम्बन्ध है, वह यज्ञ करने में विश्वास नही रखता। असुर समझते हैं कि यज्ञ करने के स्थान पर वे ऐसा यन्त्र बना लेंगे जिससे किसी भी उच्च लोक को जाया जा सके। ऐसे असुरों का सबसे उत्तम प्रतीक रावण है। वह ऐसी सीढ़ी बनाना चाहता था, जिससे वेद-विहित यज्ञ किए बिना उच्च लोको को प्राप्त किया जा सके। आधुनिक युग में रावण की ही कोटि के आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य संयन्त्रीय व्यवस्था के द्वारा उच्च लोकों को जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। ये सब भ्रम के चिन्ह हैं। इसका परिणाम यह है कि वे जाने-अनजाने अपवित्र नरकों में गिर रहे हैं। **मोहजाल** शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। जाल में फँसी मछलियों के समान असुरों के लिए इस बन्धन से निकलने का कोई मार्ग नहीं है।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

अनुवाद

वे अपने को ही श्रेष्ठ मानने वाले, अशिष्ट व्यवहार वाले, धन और मान के मद से अंधे असुर शास्त्रविधि के बिना नाममात्र के यज्ञ करते हैं।।१७।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

अनुवाद

मिथ्या अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध से मोहित हुए असुर सच्चे धर्म की निन्दा करते हुए अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमेश्वर से द्वेष करते हैं।।१८।।

तात्पर्य

भगवान् की प्रभुसत्ता के विरोधी आसुरी मनुष्य को शास्त्रों में विश्वास करना अच्छा नहीं लगता। वह शास्त्रों और श्रीभगवान् दोनों के अस्तित्त्व से ईर्ष्या करता है। इसका कारण है तथाकथित मान और धनबलादि का संग्रह। वह नहीं जानता कि पुनर्जन्म इस जीवन पर निर्भर करता है। यह न जानते हुए वह दूसरों और अपने आत्मा के साथ तक द्वेष कर बैठता है। दूसरों के शरीर के साथ अपने शरीर की भी हिंसा करने में वह संकोच नहीं करता; ज्ञान के अभाव में श्रीभगवान् के परमेश्वरत्व की सर्वथा अवहेलना कर बैठता है। इस प्रकार शास्त्रों और भगवान् के प्रति ईर्ष्या भाव से भरा असुर श्रीभगवान् के अस्तित्व के विरुद्ध मिथ्या तर्क रखता है और शास्त्रों के अधिकार को चुनौती देता है। वह समझता है कि वह स्वेच्छाचार करने में स्वतन्त्र और समर्थ है। सोचता है कि बल, शक्ति और धन में उसका सामना करने वाला कोई नहीं है; इसलिए वह जो चाहे कर सकता है, कोई उसे नहीं रोक सकता। यदि विषयीकर्मों में किसी शत्रु से विघ्न का भय हो तो वह अपनी शक्ति से उसे समाप्त करने की योजनाएँ बनाया करता है।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

अनुवाद

उन द्वेष करने वाले दुराचारी तथा क्रूरकर्मी नराधमों को मैं भवसागर में निरन्तर आसुरी योनियो में ही गिराता हूँ।।१९।।

तात्पर्य

स्पष्ट है कि जीव को किसी भी योनि में डालने का परमेश्वर को पूरा अधिकार है। आसुरी स्वभाव वाले चाहे श्रीभगवान् की प्रभुसत्ता को न मानें और मनमाना आचरण करें; परन्तु पुनर्जन्म का निर्धारण तो श्रीभगवान् के निर्णय से ही होगा, उनकी इच्छा से नहीं। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में उल्लेख है कि जीव की देह का नाश होने पर उसे माँ के गर्भ में स्थापित कर दिया जाता है, जहाँ दैवी-शक्ति की प्रेरणा से उसे फिर से उपयुक्त देह मिलती है यही कारण है कि प्राकृत-जगत् में पशु,

पक्षी, कीट, मनुष्य आदि कितनी ही योनियाँ हैं। इन सब की व्यवस्था दैवी प्रकृति के हाथ मे है। यह सब कुछ अकस्मात् नहीं होता। जहाँ तक आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों का सम्बन्ध है, श्लोक से स्पष्ट है कि उन्हें निरन्तर आसुरी योनियों में गिराया जाता है, जिससे वे द्वेषी और नराधम बने रहते है। ये आसुरी योनियाँ सदा काम क्रोध, हिंसा और द्वेष से पूर्ण तथा अशुद्ध रहती है। अतएव ऐसे मनुष्य प्रायः जंगली पशुओं के समान होते है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे मूढ मुझ को कभी प्राप्त नहीं होते और फिर उससे भी परम अधम गति में गिरते हैं।।२०।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को परम करुणामय कहा जाता है; परन्तु यहाँ लगता है कि वे आसुरी स्वभाव वालों पर कभी दया नहीं करते। उन्हें जन्म-जन्म में उनके जैसे असुरों के गर्भ में ही गिराया जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् की करुणा से वंचित हुए वे निरन्तर अधःपतन को प्राप्त होते हैं और अन्त में कूकर-शूकर योनियों को धारण करते हैं। स्पष्ट कहा गया है कि इन असुरों को किसी भी अवस्था में भगवत्कृपा की प्राप्ति का अवसर प्रायः कभी नहीं मिल सकता। वेदों में भी कहा है कि ऐसे प्राणी शनैः-शनैः गिर कर कूकर-शूकर बन जाते हैं। यह तर्क उठ सकता है कि यदि यह सत्य है कि श्रीभगवान् ऐसे असुरों पर दया नहीं करते, तो उन्हें दयामय क्यों कहा जाता है? इसके उत्तर में 'वेदान्तसूत्र' में कथन है कि श्रीभगवान् किसी जीव से द्वेष नहीं करते। असुरों को परम अधम गति में गिराना भी उनकी करुणा का ही एक रूप है। श्रीभगवान् कभी-कभी स्वय असुरों का वध करते हैं; परन्तु यह भी उनके लिए परम कल्याण का कारण सिद्ध होता है। वैदिक शास्त्रों का सिद्धान्त है कि जो कोई श्रीभगवान् के हाथ से मारा जाता है, वह सद्योमुक्ति-लाभ करता है। इतिहास में रावण, कंस, हिरण्यकशिपु जैसे अनेक असुरों का विवरण है, जिनका वध करने के लिए श्रीभगवान् ने नाना अवतार धारण किए। अतएव श्रीभगवान् के द्वारा मारे जाने के रूप में भाग्यशाली असुरों पर उनकी करुणा प्रकट होती है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

अनुवाद

काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों आत्मा का अधःपतन करने वाले साक्षात् नरक के द्वार हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को इन तीनों को त्याग देना चाहिए।।२१।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

अनुवाद

हे अर्जुन! इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष स्वरूप-साक्षात्कार के अनुरूप साधन का आचरण करता है और इससे शनैः-शनैः परमगति को प्राप्त हो जाता है।।२२।।

तात्पर्य

काम, क्रोध और लोभ—मानवजीवन के इन तीनों शत्रुओं से बिल्कुल सजग रहना चाहिए। मनुष्य इन विकारों से जितना अधिक मुक्त होगा, उतना ही उसका सत्त्व अधिक शुद्ध होता जायगा। तब वह वैदिक शास्त्रों के विधि-विधान का आचरण कर सकेगा। मानव जीवन के सयम के पालन से शनैः-शनैः स्वरूप-साक्षात्कार के स्तर पर आरूढ़ हुआ जा सकता है। यदि कोई भाग्यशाली इस अभ्यास से कृष्णभावनाभावित हो जाय, तो उसकी सफलता निश्चित है। वैदिक शास्त्रों में शुद्धिकरण के लिए कर्म और कर्मफल की विधियों का निर्देश है। सम्पूर्ण पद्धति का सार काम, क्रोध और लाभ को त्यागना ही है। इस प्रकार ज्ञान का अनुशीलन करने पर स्वरूप-साक्षात्कार की परमोच्च अवस्था सुलभ हो सकती है, जिसकी पूर्णता भक्तियोग में है। अतएव भक्तियोग से युक्त बद्धजीव की मुक्ति निश्चित है। वैदिक शास्त्रों में चार वर्ण-आश्रमों का विधान भी इसी उद्देश्य से किया गया है। समाज की भिन्न-भिन्न वर्ण-जातियों के लिए अलग-अलग विधि-विधान हैं; जो मनुष्य इनका यथायोग्य पालन करता है, वह स्वरूप-साक्षात्कार की परमोच्च भूमि पर स्वतः आरूढ़ हो जाता है। तब उसकी मुक्ति में कुछ भी सन्देह नहीं रहता।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

अनुवाद

परन्तु जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्याग कर अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को ही प्राप्त होता है।।२३।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

अनुवाद

इसलिए कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में तेरे लिए शास्त्र ही प्रमाण है। इस प्रकार शास्त्र-विधि को जानकर कर्म करना चाहिए, जिससे शनैः-शनैः मुक्ति हो जाय।।२४।।

तात्पर्य

पन्द्रहवें अध्याय में कहा जा चुका है कि वेदों के सम्पूर्ण विधि-विधान का एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्ण को जानना है। यदि कोई भगवद्गीता से श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर और भक्तियोग में तत्पर होकर कृष्णभावनाभावित हो जाय तो समझना चाहिए कि वह वैदिक-शास्त्रों से होने वाले ज्ञान की सर्वोच्च पूर्णता को प्राप्त हो चुका है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस पद्धति को बड़ा सरल बना दिया है। उन्होंने जन-साधारण से निवेदन किया है कि वह केवल **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे,** इस महामन्त्र का कीर्तन करते हुए भक्तियोग में संलग्न रहे और प्रसाद पाये। जो मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से इन भक्तिभावमय क्रियाओं में सलग्न है, वह निश्चित रूप से सम्पूर्ण वैदिकशास्त्रों का अध्ययन कर चुका है; उसे सार-तत्त्व उपलब्ध हो चुका है। अवश्य ही जो कृष्णभावनाभावित नहीं है अथवा भक्तियोग के परायण नहीं हैं, उन साधारणजनों के लिए कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय वैदिकविधान के आधार पर किया जाना चाहिए। ऐसा मनुष्य शास्त्रविधि का तर्क किए बिना पालन करें। इसका नाम शास्त्रानुगमन है। करणपाटव, विप्रलिप्सा, भ्रम और प्रमाद—बद्धजीवों के इन चारों दोषों से शास्त्र मुक्त हैं। इन दोषों के कारण कोई भी बद्धजीव स्वयं विधिविधान नहीं कर सकता। अतएव शास्त्रों के विधि-विधान को, जो उपरोक्त सभी दोषों से मुक्त है, सभी सन्त, आचार्य और महात्मा बदले बिना स्वीकार करते हैं।

आध्यात्मिक विद्या के अनेक सम्प्रदाय है; इनके सविशेषवादी और निर्विशेषवादी —ये दो मुख्य वर्गीकरण हैं। ये दोनों वैदिक-विधान के अनुसार जीवन-यापन करते हैं। शास्त्र-विधि के बिना कृतकृत्यता नहीं हो सकती। अतएव जो शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को जानता है, वह भाग्यशाली है।

मानवयोनि में श्रीभगवान् के तत्त्व से द्वेष करना ही सब पतनों का कारण है। यह वास्तव में मनुष्ययोनि का सबसे बडा अपराध है। इसी कारण श्रीभगवान् की अपरा शक्ति (माया) हमें त्रिविध क्लेशों के रूप में सदा दुःख देती रहती है। यह प्रकृति

त्रिगुणमयी है। भगवत्-तत्त्व का मार्ग तभी प्रशस्त होगा, जब मनुष्य सत्त्वगुण में स्थित हो जाय। जो सत्त्वगुण में आरूढ नहीं होता, वह आसुरी जीवन के कारण रजोगुण और तमोगुण में बना रहता है। रजोगुणी और तमोगुणी मनुष्य शास्त्रों की, साधुओं की और गुरु के तत्त्व की भी निन्दा करते हैं तथा शास्त्रविधि से विमुख रहते हैं। भक्तियोग के माहात्म्य को सुनने पर भी वे आकर्षित नहीं होते। इसके स्थान पर वे सिद्धि की अपनी ही पद्धतियों की कल्पना किया करते हैं। मानवसमाज के ये कुछ ऐसे दोष हैं, जिनसे जीवन आसुरी स्तर पर गिर जाता है। परन्तु यदि सद्गुरु का आश्रय प्राप्त हो जाय, जो जीव को परम गति की ओर ले जाने में समर्थ हों, तो जीवन सफल हो जाता है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये षोडशोऽध्यायः।।

अथ सप्तदशोऽध्यायः



श्रद्धात्रयविभागयोग

(श्रद्धा के तीन भेद)

अर्जुन उवाच।
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र-विधि को तो नहीं मानते, परन्तु अपनी कल्पना के अनुसार श्रद्धासहित यजन करते है, उनकी स्थिति कौन सी है? क्या वे सत्त्वगुण में है अथवा रजोगुण में हैं या तमोगुण में हैं?।।१।।

तात्पर्य

चौथे अध्याय के उनतालिसवें श्लोक में उल्लेख अनुसार किसी उपासना-विशेष का श्रद्धालु शनैः-शनैः ज्ञान में आरूढ़ होकर शान्ति और समृद्धि की परमसिद्धि को

प्राप्त हो जाता है। सोलहवें अध्याय में सिद्धान्त किया गया है कि जो शास्त्र-विधि का पालन नहीं करता, वह असुर है और जो श्रद्धापूर्वक शास्त्र-विधि को मानता है, वह देवता है। अब प्रश्न बनता है कि जो पुरुष श्रद्धापूर्वक कुछ ऐसे नियमों का पालन करता है, जो शास्त्रीय नहीं हैं, उसकी स्थिति कौन सी है? श्रीकृष्ण को अर्जुन के इस सन्देह को दूर करना है। जो व्यक्ति किसी एक मनुष्य को ईश्वर मानकर श्रद्धा के साथ उसी की पूजा करते हैं, उनकी स्थिति सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी? क्या ऐसे व्यक्तियों को जीवन की संसिद्ध अवस्था प्राप्त होती है? क्या उनके लिए यह संभव है कि यथार्थ ज्ञान में स्थित होकर परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायें? जो मनुष्य शास्त्र-विधि को नहीं मानते; परन्तु श्रद्धासहित कल्पित ईश्वरों, देवताओं अथवा मनुष्यों को पूजते हैं, क्या वे अपने प्रयास में सफल होते हैं? श्रीकृष्ण से अर्जुन के ये सब प्रश्न हैं।

श्रीभगवानुवाच।
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! बद्धजीव की श्रद्धा उसके गुणों के अनुसार सात्त्विकी, राजसी और तामसी, ऐसे तीन प्रकार की होती है; उसके तत्त्व को सुन।।२।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जीवमात्र की श्रद्धा उसके अन्तःकरण के गुणों के अनुसार होती है। यह जीव श्रद्धामय है, इसलिए यह अपने प्राप्त गुणों के अनुरूप श्रद्धा वाला समझा जाता है।।३।।

तात्पर्य

प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष प्रकार की श्रद्धा होती है, चाहे वह कोई हो। स्वभाव के अनुसार उसकी वह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी हो सकती है। वह किस प्रकार के मनुष्यों का संग करता है, यह भी उसकी श्रद्धा पर निर्भर है। वास्तव में जैसा पन्द्रहवें अध्याय में कहा है, जीवमात्र मूलरूप में श्रीभगवान् का

भिन्न-अंश है, अत: वास्तव में देखा जाय तो वह प्रकृति के सभी गुणों से परे है। परन्तु जब वह श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को भूलकर बद्ध अवस्था के अन्तर्गत माया के स्पर्श में आता है, तो प्रकृति के विविध रूपों के संग से संसार में अपनी स्थिति स्वयं बना बैठता है। इसके परिणाम में होने वाली कृत्रिम श्रद्धा और सत्त्व प्राकृत हैं। जीव चाहे जीवन की किसी भी प्राकृत धारणा के वश में क्यों न हो, परन्तु मूलरूप में तो वह 'निर्गुण' अर्थात् सब गुणों से परे ही है। अतः श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को फिर प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वह उन सब प्राकृत दोषों से मुक्त हो जाय, जो उसने ग्रहण कर लिए है। यह कृष्णभावना ही वैकुण्ठ-जगत् को लौटने का अभय-पथ है। कृष्णभावनाभावित मनुष्य के लिए इस पथ से परमगति की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यदि कोई इस स्वरूप-साक्षात्कार के पथ को अंगीकार नहीं करता, तो वह अवश्य त्रिगुणमयी माया के वशीभूत रहेगा।

इस श्लोक मे **सत्त्व** शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रद्धा सदा अन्त:करण के गुणों के अनुसार होती है। श्रद्धा किसी देवता में, कल्पित ईश्वर में अथवा किसी मनोकल्पना में भी हो सकती है। लौकिक पुण्य-कार्य किसी वस्तु में दृढ़ श्रद्धा के कारण ही बनता है। परन्तु उपाधिबद्धता में कोई कार्य पूर्ण शुद्ध नहीं होता। उसमें कुछ न कुछ दूषण अवश्य रहता है, वह शुद्धसत्त्वमय नही हो सकता। शुद्धसत्त्व तो सर्वथा लोकोत्तर है; उसमे श्रीभगवान् के तत्त्व को जाना जा सकता है। जब तक श्रद्धा पूर्णरूप से शुद्धसत्त्व में नहीं होती, तब तक उसमें प्राकृतिक गुणों के दोष बने रहते हैं। प्रकृति के दूषित गुण अन्तःकरण में भी हैं। अतएव प्रकृति के गुण-विशेष के सम्पर्क में हृदय की स्थिति के अनुसार ही प्राणी मे श्रद्धा रहती है। यदि अन्तःकरण सत्त्वप्रधान है तो श्रद्धा भी सात्त्विकी होगी, जबकि रजोप्रधान अन्त:करण में राजसी श्रद्धा तथा तमोप्रधान अन्तःकरण में तामसी श्रद्धा रहती है। इस श्रद्धा-भेद के कारण ही ससार में नाना मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सच्ची धर्म-श्रद्धा तो केवल शुद्धसत्त्व में है; परन्तु अन्तःकरण गुणों से दूषित है, इसीलिए नाना मतों का प्रचलन है। इसी श्रद्धा-भेद के अनुसार उपासना की भी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

अनुवाद

सात्त्विक मनुष्य देवताओ को पूजते हैं, राजस मनुष्य यक्षराक्षसों को पूजते हैं और तामस लोग भूत-प्रेतगणों को पूजते है।।४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में श्रीभगवान् ने कर्म-भेद के आधार पर नाना प्रकार की श्रद्धा वाले उपासकों का वर्णन किया है। शास्त्रों का विधान है कि एकमात्र श्रीभगवान् ही उपास्य है, परन्तु जो शास्त्रो मे पारगत अथवा श्रद्धावान् नही है, वे अपने प्राकृतिक गुणों के अनुसार नाना प्रकार के लक्ष्यों को पूजते है। सात्त्विक पुरुष सामान्यत. ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र आदि देवताओ को पूजते है। देवता अनेक है, सात्त्विक पुरुष अपनी कामना के अनुरूप उन्हें पूजते है। ऐसे ही, राजस मनुष्य असुरो की उपासना करते हैं। हमें स्मरण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कलकत्ता में एक मनुष्य ने हिटलर की पूजा की थी, क्योंकि युद्ध के कारण उसने काला बाजारी से बहुत धन कमाया था। ये राजस मनुष्य किसी शक्तिशाली मनुष्य को ही ईश्वर बना लेते हैं। उनके विचार से किसी को भी ईश्वर समझ कर पूजा जा सकता है, जिससे वही फल होगा।

श्लोक मे स्पष्ट है कि तामस व्यक्ति भूत-प्रेतगणो को पूजते है। ऐसे व्यक्ति कभी-कभी किसी मृत मनुष्य की चिता को भी पूजते हैं। मैथुन-सेवा इसी तामसी श्रेणी मे आती है। अनेक ग्रामों मे प्रेतो के उपासक होते हैं। बहुत से वृक्ष प्रेत-निवास के रूप मे प्रसिद्ध है, निम्न वर्ग के लोग उनके लिए पूजन और यजन करते हैं। ये नाना प्रकार की पूजन-पद्धतियाँ वास्तव में भगवत्-उपासना नही हैं। भगवत्-उपासना वही कर सकते है, जो शुद्धसत्त्व में हैं। श्रीमद्भागवत मे कहा है, **सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्।** 'शुद्धसत्व मे स्थित मनुष्य भगवान् वासुदेव का भजन करता है।' तात्पर्य यह है कि जो प्रकृति के गुणो से बिल्कुल मुक्त होकर शुद्धसत्त्व मे स्थित हो गए हैं, वे भगवद्भजन कर सकते है।

निर्विशेषवादियो को सत्त्वगुण मे स्थित समझा जाता है। वे पंचदेवों की उपासना करते हैं। वे निर्विशेष विष्णु को, अर्थात् प्राकृत-जगत् के रूप में विष्णु को उपासते हैं। विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के अंश हैं, परन्तु निर्विशेषवादी, जो वास्तव में श्रीभगवान् मे श्रद्धा नही रखते, अपनी कल्पना से समझते हैं कि विष्णुरूप भी निर्विशेष ब्रह्म का ही एक पक्ष है और ऐसे ही ब्रह्माजी रजोगुण के रूप हैं। इस प्रकार वे अपने को पंचोपासक कहते तो हैं, परन्तु यथार्थ सत्य को निर्विशेष ही मानते है और इसीलिए अन्त मे इन सब उपास्यों को त्याग देते हैं। साराश में, शुद्धसत्त्व स्वभाव वाले पुरुषों के सग से प्रकृति के नाना प्रकार के गुणों को शुद्ध किया जा सकता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

अनुवाद

जो दम्भ और अहकार सहित रजोगुण, कामना, आसक्ति और बल द्वारा प्रेरित होकर वेदविरुद्ध तप करते हैं और अपनी देह के साथ मुझ अन्तर्यामी परमात्मा को भी कष्ट पहुँचाते हैं, उनको तु निश्चित रूप से असुर जान।।५-६।।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

अनुवाद

आहार भी सब को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन पकार का प्रिय होता है और वैसे ही, यज्ञ, तप तथा दान भी तीन-तीन प्रकार के होते है। उनके इस भेद को सुन।।७।।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

अनुवाद

आयु की वृद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि करने वाले तथा बल, आरोग्य, सुख और तृप्ति को देने वाले, रसमय, स्निग्ध, स्थिर रहने वाले तथा हृदय को प्रिय लगने वाले आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, अति गरम, तीखे, रूखे और दाहकारी भोजन के पदार्थ, जो दुःख, शोक और रोग को जन्म देते हैं, राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं। बासी (खाने से एक प्रहर पहले बनाए), नीरस, दुर्गन्धमय, उच्छिष्ट और अपवित्र आहार तामस मनुष्य को प्रिय होते हैं।।८-१०।।

तात्पर्य

आहार का यथार्थ उद्देश्य जीवन की अवधि को बढ़ाना, अतःकरण को शुद्ध करना तथा शरीर को सशक्त बनाना है। पूर्वकालीन आचार्यों ने दुग्ध-पदार्थों, शर्करा,

चावल, गेहूँ, फल, शाकादि आरोग्य और आयु की वृद्धि करने वाले पदार्थों का चयन-विधान किया है। ये पदार्थ सात्त्विक पुरुषों को स्वभाव से अति प्रिय होते हैं। सीरे जैसे कुछ अन्य पदार्थ दुग्ध आदि के साथ मिलाने पर प्रिय और सात्त्विक हो जाते हैं। ये सभी पदार्थ नैसर्गिक रूप से पवित्र हैं। मांस, मदिरा आदि से ये बिलकुल भिन्न हैं। आठवें श्लोक में उल्लिखित स्निग्ध पदार्थों का हिंसा से प्राप्त होने वाली पशु-चिकनाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। दुग्ध एक ऐसा परम अद्भुत पदार्थ है, जिसके रूप में चिकनाई सर्व-सुलभ है। दुग्ध, मक्खन और पनीर आदि के रूप में आवश्यक चिकनाई की प्राप्ति हो जाती है, इसके लिए निरीह जन्तुओं की हिंसा नहीं करनी पड़ती। वास्तव में आसुरी मनोवृत्ति के कारण ही ससार में पशुओं की अप्रयोजनीय हिंसा की जा रही है। चिकनाई की उपलब्धि की सभ्य विधि दुग्ध का सेवन करना है। प्रोटीन के नाम पर पशु-वध में प्रवृत्त होना नर-पशुओं का काम है। विज्ञान से प्रमाणित है कि दाल, गेहूँ, आदि में पर्याप्त प्रोटीन रहता है।

कडुवे, खट्टे, अति नमकीन, बहुत गरम, तीखे और अधिक मसाले वाले पदार्थ राजस आहार की श्रेणी मे आते हैं। ये दुःख के कारण हैं, क्योंकि इनके खाने से उदर मे कफ बढ़ जाता है और परिणाम में रोग होते हैं। मुख्य रूप से भोजन के वे ही पदार्थ तामसी कहे जाते है, जो ताजे न हों। प्रसाद के अतिरिक्त अन्य जो भी पदार्थ भोजन से एक प्रहर (तीन घण्टे) पहले बनाया गया हो, वह तामसी है। इन सड़ते हुए पदार्थों में दुर्गन्ध हो जाती है। दुर्गन्ध से जहाँ तामस मनुष्य इनकी ओर आकर्षित होते हैं, वहीं सात्त्विक पुरुष इनसे घृणा करते है।

उच्छिष्ट भोजन उसी अवस्था में ग्रहण किया जा सकता है, जब वह श्रीभगवान् अथवा सन्त पुरुषों, विशेषतः गुरु का प्रसाद हो। अन्यथा, उच्छिष्ट भोजन को तामसी समझा जाता है और उससे रोग और दोष बढ़ते है। ऐसे पदार्थों मे, जो तामस मनुष्यों के अति प्रिय हैं, सात्त्विक पुरुषों की न तो रुचि होती है और न वे इनका कभी स्पर्श करते है। वस्तुत भगवत् प्रसाद ही सर्वोत्तम आहार है। भगवद्गीता में श्रीभगवान् ने स्वय कहा है कि शाक, फल, दुग्ध, अन्न आदि जो कुछ भी प्रेमभाव से उनके अर्पण किया जाता है, वे उसे अवश्य स्वीकार करते हैं: **पत्रं पुष्पं फलं तोयम्**। निःसन्देह श्रीभगवान् केवल भावग्राही हैं; परन्तु शास्त्र में प्रसाद बनाने की विधि का विधान भी है। शास्त्र-विधि से बनाया भगवत्-प्रसाद बासी होने पर भी ग्रहण किया जा सकता है; ऐसा आहार सर्वथा दिव्य होता है। अतः भोजन को सब मनुष्यों के खाने के योग्य, शुद्ध और स्वादिष्ट बनाने के लिए उसे श्रीभगवान् को निवेदित करना आवश्यक है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

अनुवाद

यज्ञों में वह यज्ञ सात्त्विक है, जो शास्त्र-विधि के अनुसार फल की इच्छा के बिना कर्तव्य मानकर किया जाता है।।११।।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

अनुवाद

परन्तु हे अर्जुन ! जो यज्ञ किसी लौकिक उद्देश्य से अथवा गर्वपूर्वक दम्भाचरण के लिए किया जाता है, उसको तू राजस जान।।१२।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

अनुवाद

और जो शास्त्रविधि के विरुद्ध, प्रसाद-वितरण से रहित, वैदिकमन्त्रों और दक्षिणा के बिना किया जाय, उस श्रद्धाशून्य यज्ञ को तामस कहते हैं।।१३।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

अनुवाद

श्रीभगवान्, ब्राह्मण, गुरु, और वेदज्ञ पुरुषों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप है।।१४।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

अनुवाद

जो उद्वेग को न करने वाला सत्य, प्रिय और हितकारक भाषण है तथा वेदों का नित्य पठनरूप अभ्यास है, वह वाणी का तप कहा जाता है।।१५।।

तात्पर्य

मनुष्य की वाणी ऐसी न हो, जिससे दूसरों के मन में उद्वेग हो। अवश्य ही एक गुरु शिष्य को उपदेश करने के लिए कटु से कटु सत्य का भाषण कर सकता है; परन्तु

अन्य मनुष्यों से ऐसा भाषण न करे, यदि वे इससे उद्वेग को प्राप्त होते हों। यही वाणी सम्बन्धी तप का स्वरूप है। वैसे भी व्यर्थ भाषण कभी नहीं करना चाहिए। विशेष रूप से आध्यात्मिक वर्ग में जो कुछ भी कहे, वह शास्त्रसम्मत होना चाहिए। अपने कथन की सिद्धि के लिए तत्काल शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत करे। साथ ही, वाणी सुनने में मधुर होनी चाहिए। ऐसी वार्ता से परम लाभ की प्राप्ति हो सकती है और मानवसमाज का उत्थान हो जाता है। वैदिक शास्त्रो का अपार भण्डार है, इसका स्वाध्याय करना चाहिए। यह सब वाणी सम्बन्धी तप है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

अनुवाद

मन का प्रसाद, सरलता, मौन, आत्मसयम और अन्तःकरण की शुद्धि,—यह सब मन सम्बन्धी तप है।।१६।।

तात्पर्य

मन को तपोनिष्ठ करने का अर्थ उसे इन्द्रियतृप्ति से हटाना है। मन को इस प्रका· शिक्षित करना है जिससे वह निरन्तर परहित-चिन्तन मे लगा रहे। इसका सर्वोत्तम गाधन विचारो का मौन धारण करना है। यह अनिवार्य है कि कृष्णभावना से विचलित होकर एक क्षण के लिए भी इन्द्रियतृप्ति मे प्रवृत्त न हो। स्वभाव की शुद्धि होना कृष्णभावनाभावित हो जाना है। मन की प्रसन्नता इसे इन्द्रियतृप्ति के विचारो से विरत करने पर ही हो सकती है। इन्द्रियतृप्ति का जितना अधिक चिन्तन होगा, मन उतना ही अधिक व्यग्र और उत्तेजित हो उठेगा। वर्तमान काल में हम मन को कितने ही व्यर्थ प्रकार से इन्द्रियतृप्ति मे लगाये रखते है, इस कारण वह कभी प्रसन्न नहीं हो सकता। सुख का सर्वोत्तम साधन यह है कि मन को पुराण, महाभारत, आदि वैदिक शास्त्रो में लगा दिया जाय। ये ग्रन्थ तृप्तिदायक कथाओं से परिपूर्ण हैं। इस ज्ञान से लाभ उठाकर शुद्ध हुआ जा सकता है। **सौम्य**, अर्थात् मन मे कपट का लेश भी न हो और सदा सब का हित-चिन्तन करता रहे। **मौन** का अर्थ नित्य-निरन्तर आत्म-मनन करना है। इस दृष्टि से कृष्णभावनाभावित पुरुष पूर्ण मौनी होता है। **आत्मविनिग्रह** का तात्पर्य इन्द्रियतृप्ति से मन को अलग करना है। **भावसंशुद्धि**, अर्थात् अन्त करण की शुद्धि व्यवहार की निष्कपटता से होती है। ये सब गुण मन सम्बन्धी तप के अन्तर्गत हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

अनुवाद

लौकिक फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए परम श्रद्धा के साथ किये गए इस तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं।।१७।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

अनुवाद

जो सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक किया जाता है, वह अनियत और क्षणिक फल वाला तप राजस कहलाता है।।१८।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

अनुवाद

जो तप अविवेकपूर्ण हठ के साथ अपने आत्मा को पीड़ित करते हुए अथवा दूसरो के नाश या अनिष्ट के लिए किया जाता है, वह तामस है।।१९।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

अनुवाद

दान देना कर्तव्य है, इस बुद्धि से योग्य देश-काल में सत्पात्र को प्रत्युपकार की इच्छा के बिना जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक है।।२०।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

अनुवाद

परन्तु जो दान किसी प्रत्युपकार की आशा से अथवा फल की इच्छा से या क्लेश समझकर दिया जाता है, वह राजस कहा गया है।।२१।।

तात्पर्य

दान प्राय. स्वर्ग-प्राप्ति के लिए किया जाता है। कभी-कभी क्लेशपूर्वक दान

करने के बाद पश्चात्ताप भी होता है कि "मैंने क्यों इसमें इतना धन व्यय किया?" कभी-कभी किसी उपकृतिवश अथवा गुरुजनों की आज्ञा से भी दान करना पड़ता है। ये सब प्रकार के दान राजस हैं।

ऐसी अनेक दातव्य न्यास हैं, जो उन संस्थाओं को दान देती हैं, जहाँ इन्द्रियतृप्ति चलती है। ऐसा दान वेद-विरुद्ध है। एकमात्र सात्त्विक दान का ही शास्त्रों मे विधान है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

अनुवाद

जो दान अयोग्य देशकाल में, अपात्र को या सम्मान के बिना तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है, वह तामस है।।२२।।

तात्पर्य

इस प्रकार मद्यपान और द्यूत आदि के लिए दान करने का निषेध है। ऐसा दान तामस कहलाता है। इससे कोई लाभ नहीं, वरन् पापात्मा मनुष्यों का ही प्रोत्साहन होता है। इसी प्रकार, सत्पात्र को सत्कार के बिना तिरस्कारपूर्वक दान देना भी तामस है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

अनुवाद

ॐ तत् सत्—ये तीनों अक्षर ब्रह्मतत्त्व के वाचक हैं; इसी नाम से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ प्रकट हुए थे।।२३।।

तात्पर्य

यह वर्णन किया जा चुका है कि तप, यज्ञ, दान और आहार के सात्त्विक, राजस तथा तामस—ऐसे तीन-तीन भेद हैं। चाहे किसी भी श्रेणी के क्यों न हों, माया-दूषित होने के कारण वे सभी उपाधिग्रस्त हैं। परन्तु **ॐ तत् सत्**, अर्थात् सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् की ओर लक्षित होने पर ये पारमार्थिक उन्नति के साधन बन जाते हैं। शास्त्रों में इस लक्ष्य का उल्लेख है। ये तीनों शब्द— **ॐ तत् सत्**, विशेष रूप से परब्रह्म श्रीकृष्ण के वाचक हैं। वैदिक मन्त्रों में ओंकार तो सदा पाया ही जाता है।

जो शास्त्र-विधि के अनुसार आचरण नहीं करता, उसे परतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो

सकती। उसे कुछ क्षणिक लाभ तो हो सकता है, परन्तु जीवन के परम लक्ष्य से वह वंचित ही रहेगा। सारांश यह है कि यज्ञ, दान, तप, आदि का सात्त्विक आचरण ही करना चाहिए। इनका राजस अथवा तामस अनुष्ठान निश्चित रूप से निकृष्ट होगा। **ॐ तत् सत्**—इन तीनों शब्दों का उच्चारण श्रीभगवान् के पावन नाम के साथ किया जाता है, जैसे **ॐ तद्विष्णोः**। वैदिक मन्त्रों अथवा भगवन्नाम के उच्चारण के साथ ओम् जुड़ा रहता है; वैदिक शास्त्रों का ऐसा निर्देश है। उपरोक्त तीनों ही शब्द वैदिक मन्त्रों में पाए जाते हैं। **ओमित्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्टं नाम**। इस श्लोक से स्पष्ट है कि 'ओम्' परब्रह्म का पहला नाम है। फिर **तत्त्वमसि** श्रुति से दूसरा नाम 'तत्' इंगित है और **सदेव सौम्य** तीसरे 'सत्' नाम का द्योतक है। **ॐ तत् सत्** में इन तीनों का समावेश है। प्राचीन काल में, आदिजीव ब्रह्माजी ने यज्ञ करते समय श्रीभगवान् के इन तीनों नामों का उच्चारण किया था। शिष्यपरम्परा के माध्यम से यह सिद्धान्त आजतक चला आ रहा है। अतएव यह मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता के अनुसार, जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसे 'ॐ तत् सत्', अर्थात् श्रीभगवान् के लिए करना चाहिए। जो पुरुष इन शब्दों से युक्त होकर तप, दान, यज्ञ, आदि करता है, वह कृष्णभावनाभावित कर्म ही करता है। कृष्णभावना दिव्य कर्मों के सम्पादन की वह वैज्ञानिक विधि है, जिससे अपने घर— भगवद्धाम की फिर प्राप्ति हो जाती है। इस दिव्य विधि से कार्य करते हुए शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

अनुवाद

इसलिए योगीजन परब्रह्म की प्राप्ति के लिए ओंकार का उच्चारण करके ही तप, यज्ञ, दान आदि सब क्रियाओं का आरम्भ करते हैं।।२४।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।।२५।।

अनुवाद

'तत्', इस प्रकार उच्चारण करके यज्ञ, तप और दान क्रियाओं को करना चाहिए। इन दिव्य क्रियाओं का उद्देश्य भवबन्धन से मुक्त होना है।।२५।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! परब्रह्म भक्तियोगरूप यज्ञ के लक्ष्य हैं और 'सत्' शब्द से उन्हीं का निर्देश है। ये सत्स्वरूप यज्ञ, तप और दान पुरुषोत्तम श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए ही किए जाते हैं।।२६-२७।।

अनुवाद

परन्तु हे अर्जुन! परब्रह्म में श्रद्धा के बिना किया जो कुछ भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्म है, वह सब असत् है। उसका न इस लोक में और न परलोक में ही कोई फल होता है।।२८।।

तात्पर्य

भगवत्प्राप्तिरूपी दिव्य लक्ष्य के बिना यज्ञ, दान, अथवा तप आदि जो कुछ भी किया जाता है, वह सब व्यर्थ है। इस श्लोक में ऐसी क्रियाओं को **असत्** कहकर उनकी निन्दा की गयी है। सब कर्म कृष्णभावनाभावित होकर भगवत्प्रीति के लिए ही करने चाहिऐं। इस श्रद्धाभाव और ठीक मार्गदर्शन के अभाव में कुछ भी फल नहीं हो सकता। वैदिक शास्त्रों में श्रीभगवान् में श्रद्धाभाव का बड़ा माहात्म्य है। श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानना वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक निर्देशों के अनुसरण का परम लक्ष्य है। इस सिद्धान्त का पालन किए बिना कोई सफल नहीं हो सकता। अतएव कल्याणप्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग सद्गुरु के आश्रय में जीवन के आदिकाल से ही कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण हो जाना है। इससे सब प्रयास कृतार्थ हो जायेंगे।

बद्धावस्था में लोग देवताओं, प्रेतों, अथवा कुबेर आदि यक्षों की उपासना में आसक्त रहते हैं। सत्त्वगुण निःसन्देह रजोगुण और तमोगुण से उत्तम है, परन्तु जो सीधे-सीधे कृष्णभावनाभावित हो जाता है, वह इन तीनों ही गुणों से परे है। परमार्थ की एक क्रमिक पद्धति भी है परन्तु शुद्ध भक्तों के सत्संग से साक्षात् कृष्णभावना को अंगीकार कर लेना सर्वोत्तम है। इस अध्याय का भी यही कहना है। इस पथ में उन्नति के लिए सद्गुरु को खोजकर उनके मार्गदर्शन में शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है। तभी श्रीभगवान् में श्रद्धा होगी। यथासमय जब श्रद्धा परिपक्व हो जाती है, तो उसे

भगवत्प्रेम कहते हैं। यह प्रेम ही जीव का परम लक्ष्य है। अत सीधे-सीधे कृष्णभावना को अगीकार कर लेना चाहिए। सत्रहवें अध्याय का बस यही सन्देश है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये सप्तदशोऽध्यायः।।

अथाष्टादशोऽध्यायः



मोक्षसंन्यासयोग

(गीता का निष्कर्ष)

अर्जुन उवाच।
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे महाबाहु! हे हृषीकेश! हे केशीहन्ता (श्रीकृष्ण)! मैं त्याग और सन्यास के तत्त्व को अलग-अलग जानना चाहता हूँ।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः सत्रह अध्यायों में समाप्त हो जाती है। यह अट्ठारहवाँ अध्याय पूर्व वर्णित विषयों का साररूप परिशिष्ट है। प्रत्येक अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्भक्तियोग को जीवन का परम लक्ष्य कहा है। इसी भक्तिमार्ग का यहाँ सारांश में परम गोपनीय ज्ञान-पथ के रूप में वर्णन है। पहले छः अध्यायों में

भक्तियोग को गौरवान्वित किया गया—**योगिनामपि सर्वेषाम्**—"सब प्रकार के योगियो मे जो हृदय मे निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, वह सर्वोत्तम है।" सातवें से बारहवें अध्याय तक शुद्ध भक्तियोग के स्वरूप और क्रियाओं का विवरण है। अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञान, वैराग्य, अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के कार्यों तथा भक्तियोग का विवेचन है। यह निष्कर्ष हुआ कि सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान् से युक्त होकर ही करने चाहियें। अतः सब कर्मो मे भगवान् विष्णु के नाम **ओम् तत् सत्** का उच्चारण करे। गीता के तीसरे षटक (अध्याय १३-१८) में पूर्ववर्ती आचार्यों और ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) के प्रमाण पर भक्तियोग को सिद्ध किया गया। वेदान्तसूत्र से स्पष्ट है कि एकमात्र भक्तियोग जीवन का परमलक्ष्य है। कुछ निर्विशेषवादी वेदान्तसूत्र के ज्ञान पर अपना एकाधिकार समझते हैं; परन्तु वास्तव मे तो वेदान्तसूत्र का एकमात्र लक्ष्य भक्तियोग को जानना ही है, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं वेदान्तसूत्र के रचयिता हैं और एकमात्र वे ही इसके तात्पर्य को पूर्ण रूप से जानते हैं। पन्द्रहवें अध्याय में यह कहा जा चुका है। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों का लक्ष्य भक्तियोग है, यह भगवद्गीता से सिद्ध हो जाता है।

पूर्व में, द्वितीय अध्याय में गीता की सम्पूर्ण विषयवस्तु समाहृत है, इसी प्रकार अट्ठारहवे अध्याय मे भी सम्पूर्ण उपदेश का सार निभृत है। जीवन का उद्देश्य त्याग के अभ्यास से प्रकृति के तीनो गुणो से परे शुद्धसत्त्वमयी दिव्य अवस्था को प्राप्त हो जाना बताया गया है। अर्जुन गीता की विषयवस्तु के दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों—त्याग और संन्यास को स्पष्ट रूप से जानना चाहता है, इसलिए अब श्रीभगवान् से इस सम्बन्ध मे जिज्ञासा करता है।

इस श्लोक मे श्रीभगवान् के सम्बोधन रूप—**हृषीकेश** और **केशिनिषूदन**—ये दोनो शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण हृषीकेश है, अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियो के स्वामी है, इसलिए वे चित्त में निरन्तर शान्ति रखने में हमें सहायता दे सकते हैं। अर्जुन का निवेदन है कि वे सम्पूर्ण तत्त्व को इस प्रकार सार रूप मे कहें कि चित्त सदा समभाव में स्थिर रहे। परन्तु इससे उसका सन्तोष नहीं हुआ; फिर भी, उसे कुछ सन्देहरूप असुर पीडित कर रहे हैं। अतएव उसने श्रीकृष्ण को 'केशिनिषूदन' कहकर पुकारा। श्रीकृष्ण ने पूर्वकाल मे केशी नामक भयकर असुर का नाश किया था। अर्जुन को विश्वास है कि कृष्ण उसके सन्देहरूपी असुर का वध भी अवश्य करेंगे।

श्रीभगवानुवाच।
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! सब कर्मों के फल के त्याग को ज्ञानीजन त्याग कहते हैं और वही विद्वानों द्वारा सन्यास समझा जाता है।।२।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

अनुवाद

विद्वानों के एक वर्ग के मत में तो दोषयुक्त होने के कारण सभी कर्म त्यागने के योग्य हैं; परन्तु दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, तप और दान कर्म को कभी नही त्यागना चाहिए।।।३।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! अब तू त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुन। हे नरोत्तम। शास्त्रों में त्याग तीन प्रकार का बताया गया है।।४।।

तात्पर्य

त्याग के सम्बन्ध में मतभेद हैं, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण इस विषय मे अपना निर्णय अभिव्यक्त कर रहे है, जो अन्तिम और सर्वमान्य है। वेद वस्तुत· श्रीभगवान् के ही विधान हैं। परन्तु यहाँ तो श्रीभगवान् स्वय उपस्थित हैं, अत· उनके निर्णय को सब प्रकार से अन्तिम मानना चाहिए। श्रीभगवान् के मत में पकृति के गुणों के अनुसार त्याग के तीन भेद है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

अनुवाद

यज्ञ, तप और दानरूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, इन्हें करना निश्चित कर्तव्य है। निःसन्देह यज्ञ, दान और तप आदि महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।।५।।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! इन सब यज्ञ आदि कर्मों को आसक्ति और फल की इच्छा त्याग कर कर्तव्यबुद्धि से अवश्य करना चाहिये, ऐसा मेरा निश्चित मत है।।६।।

तात्पर्य

यद्यपि यह सत्य है कि यज्ञों से शुद्धि होती है, परन्तु इनसे किसी फल की इच्छा नही रखनी चाहिए। कहने का तात्पर्य है कि प्राकृत लाभ की इच्छा से किए जाने वाले सब यज्ञों को त्याग देना चाहिए, किन्तु अन्तःकरण को शुद्ध करके आत्म-स्तर पर आरूढ़ करने वाले यज्ञों को नहीं छोड़ना चाहिए। जो कोई साधन कृष्णभावना की ओर अग्रसर करता है, उसे बढ़ाना चाहिए। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि जो वस्तु भगवद्भक्तियोग के अनुकूल हो, उसे अंगीकार कर लेना चाहिए। यही परम धर्म है। भगवद्भक्त को ऐसे किसी कर्म, यज्ञ अथवा दान को करने मे सकोच नहीं करना चाहिए, जो भगवत्सेवा में सहायक हो।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

अनुवाद

नियत कर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। अतएव मोहवश उसका त्याग कर देना तामस कहा गया है।।७।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

अनुवाद

जो मनुष्य कर्म को दुःखरूप समझ कर शारीरिक क्लेश के भय से त्यागता है, वह राजस त्याग करके भी त्याग के फल को नहीं पाता।।८।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष को इस भयवश धन कमाना नहीं छोड़ देना चाहिए कि उससे सकाम कर्म बन रहा है। कर्म करने से अर्जित धन को कृष्णभावना में लगाया जा सकता है। इसी प्रकार ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा-त्याग करने से कृष्णभावना में उन्नति की जा सकती है। अतएव इन कर्मों से यह समझ कर विमुख न हो कि ये सब दुःखरूप हैं, अथवा इसलिए कि इनसे शरीर को क्लेश होगा। ऐसा करना राजस त्याग है। राजस कार्य का सदा दुःखमय फल होता है; इसलिए जो इस भाव से प्रेरित होकर

त्याग करता है, वह त्याग के फल को कभी नहीं पाता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

अनुवाद

परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य कर्तव्य समझ कर तथा कर्तापन के अभिमान और फल की आसक्ति को पूर्ण रूप से त्याग कर नित्य कर्म करता है, उसका वह त्याग सात्त्विक माना जाता है।।९।।

तात्पर्य

नियत कर्म को इसी भाव से करना चाहिए। यह आवश्यक है कि कर्ता की कर्मफल में आसक्ति न हो, कर्म के गुणों से असग हो जाय। किसी फैक्टरी, आदि मे काम करते हुए भी कृष्णभावनाभावित पुरुष न कर्म का सग करता है और न अन्य कर्मचारियों का ही सग करता है। वह तो बस अनन्यभाव से श्रीकृष्ण के लिए कर्म में तत्पर रहता है। कर्मफल को श्रीकृष्ण के अर्पण करने से उसके कर्म निःसन्देह दिव्य हो जाते है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अनुवाद

जो सत्त्वगुण में स्थित पुरुष दु खद कर्म से द्वेष नहीं करता है और सुखदायी कर्म मे आसक्त नहीं होता है, उस स्थिरबुद्धि के कर्म-विषयक सारे सशय नष्ट हो जाते है।।१०।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

अनुवाद

देहबद्ध जीव कर्म को पूर्ण रूप से कभी नही त्याग सकता, इसलिए जो फल का त्यागी है, वही सच्चा त्यागी है, ऐसा कहा जाता है।।११।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

अनुवाद

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों को ही मरने पर सुख, दुःख और

मिला हुआ, ऐसा तीन प्रकार का कर्मफल होता है। परन्तु कर्मफल के त्यागी पुरुषों को कभी ऐसा दुःख-सुख नहीं भोगना पड़ता ।।१२।।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

अनुवाद

हे महाबाहु अर्जुन। सब कर्मों की पूर्ति के पाँच कारण हैं, इन्हें मुझ से जान। साख्यदर्शन में इन्हें कर्म का अधिष्ठान, कर्ता, इन्द्रियरूप करण, चेष्टा और परमात्मा कहा गया है।।१३-१४।।

तात्पर्य

जिज्ञासा उठ सकती है कि जब प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल अवश्य होता है, तब यह कैसे सम्भव है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष को कर्मफल जनित दु.ख-सुख नही भोगना पडता। श्रीभगवान् इसमें वेदान्त-दर्शन का प्रमाण देते है। वे कहते है कि सब कर्मो के पॉच कारण है, जिन्हे कर्मसिद्धि के लिए जानना आवश्यक है। 'साख्य' ज्ञानकाण्ड का वाचक है और वेदान्त सब महान् आचार्यो द्वारा स्वीकृत परम ज्ञान है। शकर ने भी वेदान्तसूत्र की इस महत्ता को स्वीकार किया है। अत इस प्रमाण की सहायता लेनी चाहिए।

परमात्मा का सकल्प सर्वोपरि है, जैसा गीता में कहा है, **सर्वस्य चाहं हृदि**। वे जीवो को विविध क्रियाओं मे प्रेरित कर रहे हैं। उन अन्तर्यामी की आज्ञा के अनुसार किए गए कर्मों का इस लोक मे अथवा परलोक में भी कोई फल नही होता।

इन्द्रियाँ कर्म करने की उपकरण है, इन्ही के द्वारा आत्मा विविध प्रकार से क्रिया करता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक कर्म मे अलग-अलग चेष्टा रहती है। परन्तु अन्तिम रूप मे तो जीव के सम्पूर्ण कर्म परमात्मा (दैव) की इच्छा पर ही अवलम्बित है, जो जीव-हृदय में सखा के रूप में बैठा है। अत· श्रीभगवान् परम कारण है। इस स्थिति मे, जो पुरुष अन्तर्यामी परमात्मा के निर्देश के अनुसार कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह स्वाभाविक रूप से किसी कर्मबन्धन में नही पड़ता। पूर्ण कृष्ण-भावनाभावित पुरुषों पर अपने कर्मों का अन्तिम दायित्व नहीं रहता; वे सब प्रकार से परमात्मारूप श्रीभगवान् की परम बलवती इच्छा पर निर्भर हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

अनुवाद

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो कुछ भी धर्ममय (शास्त्र के अनुकूल) अथवा अधर्ममय (शास्त्र के विपरीत) कर्म करता है, उसके ये पाँचो कारण हैं।।१५।।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

अनुवाद

अतएव जो अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल इन पाँच हेतुओं के स्थान पर अपने को ही कर्ता समझता है, वह निःसन्देह अज्ञानी है और तत्त्व से नही देखता।।१६।।

तात्पर्य

मूर्ख मनुष्य यह नही समझ सकता कि परमात्मा हृदय में सखारूप से विराजमान हैं और उसके कर्मों का सचालन कर रहे है। अधिष्ठान, कर्ता, चेष्टा और इन्द्रियों रूप प्राकृत उपादान कारणों के ऊपर एक परम कारण भी है—श्रीभगवान्। अतः चार उपादान कारणों के साथ परम निमित्त कारण को भी देखना चाहिए। जो कर्म में परमात्मा का हाथ नहीं देखता, वह अपने को ही कर्ता मान बैठता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

अनुवाद

जो मिथ्या अहकार से प्रेरित नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नही होती, वह इस सम्पूर्ण संसार को मारने पर भी वास्तव में न तो किसी को मारता है और न अपने कर्म से बँधता ही है।।१७।।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

अनुवाद

ज्ञान, जानने योग्य और जानने वाला, ऐसे ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं तथा इन्द्रियाँ, कर्म और कर्ता, ये तीन कर्म के आधार हैं।।१८।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

अनुवाद

प्रकृति के गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के भी तीन-तीन भेद कहे गए हैं; उनको मुझ से सुन।।१९।।

तात्पर्य

चौदहवे अध्याय में प्रकृति के त्रिगुणों का विशद वर्णन है। उस प्रकरण मे उल्लेख है कि सत्त्वगुण प्रकाशमय है, रजोगुण रागमय है तथा तमोगुण से आलस्य और प्रमाद होता है। ये तीनों गुण बन्धनकारी हैं; कोई मुक्ति का द्वार नहीं हो सकता। अधिक क्या, सत्त्वगुण मे भी बन्धन बना रहता है। सत्रहवें अध्याय में नाना गुणों वाले मनुष्यों की उपासनाओं का वर्गीकरण है। अब श्रीभगवान् प्रकृति के गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता के भेद बतलाना चाहते है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अनुवाद

जिस ज्ञान के द्वारा सब परस्पर विभक्त प्राणियो में एक विभागरहित परा प्रकृति दिखाई देती है, उसे तू सात्त्विक जान।।२०।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

अनुवाद

जिस के द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के देहों में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवो को स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू राजस जान।।२१।।

तात्पर्य

राजस ज्ञान का स्वरूप यह समझना है कि प्राकृत देह ही जीव है और देह के साथ-साथ चेतना का भी नाश हो जाता है। इसके अनुसार, शरीरों मे भेद का कारण यह है कि उनमे भिन्न-भिन्न प्रकार की चेतना का विकास हुआ है तथा देह से पृथक् ऐसे किसी आत्मतत्त्व का अस्तित्व नहीं है, जो चेतना का स्रोत हो। इस प्रकार वस्तुत. देह को ही आत्मा मान लिया जाता है। इस ज्ञान के अनुसार तो चेतना भी अनित्य सिद्ध हो जाती है। अथवा, कोई जीवात्मा नहीं है; केवल एक सर्वव्यापी आत्मा है. जो

ज्ञानमय है, जबकि देह अविद्या का अनित्य प्रकाशमात्र है। यह भी कहा जाता है कि इस देह से परे कोई जीवात्मा अथवा परमात्मा नही है। ऐसी सब धारणाएँ रजोगुण से उत्पन्न मानी जाती हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

अनुवाद

जिस ज्ञान के द्वारा तत्त्व के बिना सदा एक ही कार्य मे पूर्ण रूप से आसक्त रहता है और जो अति तुच्छ है, वह तामस कहा गया है।।२२।।

तात्पर्य

सामान्य मनुष्य का 'ज्ञान' सदा अज्ञान अथवा अधकार मे है, क्योकि बद्धावस्था में जीव पर जन्म से ही तमोगुण छाया रहता है। जो आचार्यों अथवा शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार ज्ञान का विकास नही करता, उसका ज्ञान देह तक सीमित रहता है। वह शास्त्र-विधि के अनुसार आचरण करने की चिन्ता नहीं करता। उसके लिए धन ईश्वर है और शरीर की आवश्यकता-पूर्ति ही ज्ञान है। ऐसे ज्ञान का परतत्त्व से कुछ सम्बन्ध नही। यह प्रायः सोना, खाना, मैथुन और भय—सामान्य पशुओं के ज्ञान जैसा है। ऐसे ज्ञान को तमोगुण से उत्पन्न बताया गया है। भाव यह है कि इस देह से परे आत्मा का ज्ञान सात्त्विक है, लौकिक तर्क और मनोधर्म के आधार पर अनेक मतों को उपस्थित करने वाला ज्ञान राजस है तथा केवल देह को सुखी रखने सम्बन्धी ज्ञान तामस है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

अनुवाद

जो कर्म शास्त्रविहित कर्तव्य के अनुसार, कर्तापन के अभिमान और राग-द्वेष के बिना, फल को न चाहने वाले द्वारा किया गया हो, वह सात्त्विक कहा जाता है।।२३।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

अनुवाद

परन्तु जो कर्म मिथ्या अहंकारी द्वारा अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए अति क्लेशसहित किया जाता है, वह राजस कहा गया है।।२४।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

अनुवाद

जो कर्म भावी बन्धन, परिणाम, हिंसा, धर्म की हानि और सामर्थ्य को भी विचारे बिना मोह और अज्ञान से किया जाता है, वह तामस कहा गया है।।२५।।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

अनुवाद

जो सब प्रकार की सांसारिक आसक्ति और मिथ्या अहकार से मुक्त है, जो धृति और दृढ़ उत्साह से युक्त है तथा कर्म की सिद्धि-असिद्धि मे उदासीन है, वह कर्ता सात्त्विक है।।२६।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

अनुवाद

परन्तु जो अपने कर्मफल में आसक्त है, उन्हें भोगना चाहता है और जो लोभी, दूसरो से द्वेष करने वाला, अपवित्र, हर्ष-शोक से चलायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है।।२७।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

अनुवाद

जो नित्य शास्त्र-विरुद्ध कर्म में प्रवृत्त है, विषयी, हठी, कपटी, और दूसरों का अपमान करने वाला, विषादी, आलसी तथा दीर्घसूत्री है, वह कर्ता तामस कहा जाता है।।२८।।

बुद्धेर्भेदं धृतश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

अनुवाद

अब हे अर्जुन! तीनों गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति के भेदों को भी पूर्ण रूप से विभागसहित सुन।।२९।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, तथा बन्धन और मोक्ष को जानती है, वह सात्त्विकी है।।३०।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

अनुवाद

जो बुद्धि धर्म-अधर्म में और कर्तव्य-अकर्तव्य में भलीभाँति भेद नहीं कर सकती, वह राजसी है।।३१।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी।।३२।।

अनुवाद

जो अंधकार और अज्ञान के वशीभूत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझती है और सदा विपरीत पथ में लगी रहती है, वह तामसी है।।३२।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

अनुवाद

हे अर्जुन। योग के अभ्यास द्वारा जिस अचल और अनन्य धृति को धारण करके मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रिय-क्रियाओं को वश मे करता है, वह सात्त्विकी है।।३३।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

अनुवाद

जिस के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और कामरूप फलों मे आसक्त रहता है, वह धृति राजसी है।।३४।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

अनुवाद

जिसके द्वारा दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मोह को ही सदा धारण किए रहता है, वह धृति तामसी है।।३५।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

अनुवाद

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! अब सुख भी मुझ से तीन प्रकार का सुन। इस सम्बन्ध में, जो पहले विष जैसा लगता है, परन्तु परिणाम अमृत के समान है; जिसमें रमण करता हुआ जीव संसारदुःख के अन्त को प्राप्त होता है, वह स्वरूप-साक्षात्कार की जागृति करने वाला सुख सात्त्विक है।।३६-३७।।

तात्पर्य

बद्धजीव प्राकृतसुख को भोगने के लिए बारम्बार चेष्टा करता है, अर्थात् चर्बित को फिर-फिर चबाता है। परन्तु इस प्रकार भोग करता हुआ भी वह कभी किसी महात्मा के सत्सग से प्राकृत-बन्धन से मुक्त हो सकता है। भाव यह है कि बद्धजीव किसी न किसी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति में निरन्तर संलग्न रहता है। परन्तु सत्संग के द्वारा जब उसकी समझ में आता है कि विषय सुख तो वास्तव चर्बित को फिर-फिर चबाने के समान तुच्छ है, और जब इस ज्ञान से उसकी यथार्थ स्वरूपभूत कृष्णभावना जागृत हो जाती है, तभी वह चबाये को बार-बार चबाने से मिलने वाले सुख से छूट पाता है।

स्वरूप-साक्षात्कार के साधन में मन और इन्द्रियों को वश में करके आत्मतत्त्व पर केन्द्रित करने के लिए अनेक विधि-विधानो का पालन आवश्यक है। ये सब विधान पहले-पहल अति दुःखावह और विष जैसे कटु लगते है। परन्तु यदि कोई इनका अनुसरण करते हुए शुद्ध सत्त्व में स्थित होने में सफल हो जाय, तो वह सच्चे पीयूष का आस्वादन करता हुआ जीवन का आनन्द उठा सकता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

अनुवाद

जो इन्द्रियो और विषयो के सयोग से होने वाला सुख पहले अमृत जैसा लगता है, परन्तु परिणाम मे विष-तुल्य है, वह राजस कहा गया है।।३८।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

अनुवाद

जो स्वरूप-साक्षात्कार की ओर अधा है और आदि से अन्त तक बन्धनकारी है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।।३९।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

अनुवाद

पृथ्वी में अथवा स्वर्गीय देवताओं तक में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो।।४०।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

अनुवाद

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वाभाविक गुणो के अनुसार विभक्त किये गये हैं।।४१।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

अनुवाद

शान्ति, आत्मसयम, तप, पवित्रता, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, ज्ञान, विज्ञान और भक्ति-विश्वास—ये गुण ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म है।।४२।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

अनुवाद

पराक्रम, तेज, धैर्य (दृढता), सूझ-बूझ, युद्ध मे भी पलायन न करने का स्वभाव, दान, प्रजा-पालन और नेतृत्व—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।।४३।।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

अनुवाद

कृषि, गोरक्षा और व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा दूसरों की सेवा

करना शूद्रों का भी सहज कर्म है।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अनुवाद

अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य ससिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अब इसके तत्त्व को मुझ से सुन।।४५।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६-।।

अनुवाद

जिस परमेश्वर से सब प्राणियो का जन्म हआ है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, अपने स्वाभाविक कर्म से उसे पूजकर मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होता है।।४६।।

तात्पर्य

जैसा पन्द्रहवे अध्याय में कहा है, सारे जीव श्रीभगवान् के भिन्न-अश हैं। इस दृष्टि से भगवान् ही सब जीवो के आदि है। इसकी पुष्टी मे वेदान्तसूत्र कहते हैं, **जन्माद्यस्य यतः** श्रीभगवान् सम्पूर्ण प्राणी-जीवन के उद्गम हैं। इतना ही नही, अपनी अंतरगा और बहिरगा शक्तियों के द्वारा वे सर्वव्यापक भी हैं। इसलिए शक्तियों के सहित उनकी आराधना करनी चाहिए। वैष्णवजन सामान्यत. अतरगा शक्ति के साथ परमेश्वर श्रीकृष्ण की उपासना करते है। उनकी बहिरगा शक्ति अतरगा शक्ति की ही विकृत छाया है। यह बहिरंगा शक्ति पृष्टभूमि है और श्रीभगवान् स्वय अपने अंश परमात्मा के रूप में सर्वव्यापक है। वे सारे देवताओं, मनुष्यो, पशुओं, आदि के अन्तर्यामी हैं। अतः प्राणीमात्र को समझना चाहिए कि परमेश्वर के भिन्न-अंश के रूप उनकी आराधना करना उसका कर्तव्य है। इस भाव के साथ सभी पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्भक्तियोग के परायण हों, यह इस श्लोक का निर्देश है।

प्राणीमात्र को समझना चाहिए कि वह अपने कर्तव्य-कर्म में इन्द्रियों के स्वामी भगवान् हृषीकेश द्वारा नियुक्त किया गया है, इसलिए उसका धर्म है कि अपने द्वारा संपादित कर्म के फल से उनकी अर्चना करे। जो पूर्ण कृष्णभावना में नित्य-निरन्तर यही चिन्तन करता है, वह भगवत्कृपा से पूर्ण तत्त्वज्ञ हो जाता है। इसी में जीवन की सफलता है। श्रीभगवान् ने गीता में वचन दिया है, **तेषामहं समुद्धर्ता**। ऐसे भक्त

के उद्धार का दायित्व स्वयं श्रीभगवान् के हाथों में चला जाता है। बस यही जीवन की परम कृतार्थता है। मनुष्य किसी भी व्यवसाय में क्यों न हो, यदि अपने कर्मों के फल से श्रीभगवान् की सेवा करता है, तो अवश्य परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायगा।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

अनुवाद

दूसरे के कर्तव्य-कर्म को भलीभाँति करने से अच्छी प्रकार न किया गया भी अपने कर्तव्य कर्म का आचरण श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत कर्म को करने से पाप को प्राप्त नहीं होता।।४७।।

तात्पर्य

भगवद्गीता में सभी मनुष्यों के कर्तव्य-कर्मों का विधान है। जैसा पूर्व श्लोकों में कहा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों का विधान उनकी प्रकृति के गुणों के अनुसार है। अतः कोई भी किसी दूसरे के कर्तव्य का अनुकरण न करे। जो मनुष्य स्वभाव से शूद्रों के कर्म में रुचि रखता है, उसे केवल इस आधार पर ब्राह्मण होने का दम्भ नहीं करना चाहिए कि वह ब्राह्मणवश में जन्मा है। सबको अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म करना चाहिए। कोई भी कर्म, जो भगवत्सेवा के लिये किया जाता है, बुरा नहीं है। ब्राह्मण का कर्म सात्त्विक है, इसलिए जो मनुष्य सत्त्वगुणी नहीं है, वह ब्राह्मण के स्वधर्म का अंध-अनुकरण न करे। क्षत्रिय को युद्ध-हिंसा और कूटनीति में असत्य-भाषण जैसे कितने ही गर्हित कर्म करने पड़ते हैं। राजकीय विषयों में ये दोष अवश्य रहते हैं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि क्षत्रिय अपने कर्तव्य को त्याग कर ब्राह्मण का अनुकरण करने की चेष्टा करे।

वास्तव में, सब को श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करना चाहिए। इस सदर्भ में अर्जुन का उदाहरण हमारे सामने है। क्षत्रिय होते हुए भी वह विपक्ष से लड़ने में संकोच कर रहा था। परन्तु यदि यही युद्ध भगवान् श्रीकृष्ण के लिए किया जाय, तो फिर अधःपतन का कोई भय नहीं। व्यापार-क्षेत्र में कभी-कभी व्यापारी को अर्थ-लाभ के लिए बहुत झूठ बोलना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो लाभ से बिल्कुल वंचित रह जायगा। व्यापारी कभी-कभी कहते हैं, 'ग्राहक महोदय! आपसे मै लाभ नहीं कमाता।' परन्तु यह ध्यान रहे कि लाभ के बिना कोई व्यापारी जीवित नही रह सकता। स्पष्टतः यह कहने वाला झूठा है। परन्तु इससे व्यापारी को यह नही सोचना चाहिए कि उसके कार्य में झूठ बोलना अनिवार्य है, इसलिए उसे अपने वैश्य-कर्म को त्याग कर

ब्राह्मण के कर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। ऐसा करने का निषेध है। यदि कोई अपने कर्मों से श्रीभगवान् की पूजा करता है तो इस बात का महत्त्व नहीं कि वह ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है, अथवा शुद्र है। नाना प्रकार के यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को भी कभी-कभी किसी यज्ञ के लिए पशु-हिंसा करनी पड़ती है। ऐसे ही, यदि कोई क्षत्रिय अपने स्वधर्म के अनुसार शत्रु को मार डाले, तो वह पापग्रस्त नहीं होगा। तीसरे अध्याय में इस तत्त्व का स्पष्ट और विशद विवेचन है। मनुष्यमात्र को यज्ञ, अर्थात् भगवान् विष्णु के लिए कर्म करना चाहिए। जो कुछ अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है, उसी से बन्धन होता है। अतएव सिद्ध हुआ कि मनुष्य प्रकृति के उसी गुण के अनुरूप कर्म करे, जिस को वह प्राप्त हुआ है और एकमात्र श्रीभगवान् की सेवा के प्रयोजन से कर्म का संकल्प करना चाहिए।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

अनुवाद

हे अर्जुन! धूएँ से अग्नि के समान सभी कर्म दोष से ढके है, इसलिए दोषयुक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्म को नहीं त्यागना चाहिए।।४८।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

अनुवाद

संन्यास का फल केवल आत्मसयम करने, प्राकृत वस्तुओ की आसक्ति को त्यागने और प्राकृतसुख को ठुकराने से प्राप्त हो जाता है। यही सन्यास की परम संसिद्धि है।।४९।।

तात्पर्य

सच्चा सन्यास अपने को नित्य निरन्तर श्रीभगवान् का भिन्न अश समझना है। जो इस भाव से युक्त है, उसे स्वाभाविक रूप मे अपने कर्मफल को भोगने का कुछ भी अधिकार नहीं हो सकता। वह श्रीभगवान् का भिन्न-अश है, इसलिए उसके कर्मफल श्रीभगवान् द्वारा भोग्य है। यही वास्तविक कृष्णभावनामृत है और कृष्ण-भावनाभावित कर्म करने वाला ही सच्चा संन्यासी है। इस भाव से परमसुख मिलता है, क्योंकि वह वास्तव मे श्रीभगवान् के लिए कार्य कर रहा है। ऐसा पुरुष किसी प्राकृत वस्तु मे आसक्त नहीं रहता, श्रीभगवान की सेवा से मिलने वाले दिव्य सुख के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ मे आनन्द न लेना उसका स्वभाव सा बन जाता है।

सन्यासी को पूर्वकर्मों के फलरूप बन्धन से मुक्त समझा जाता है; परन्तु कृष्णभावना-भावित पुरुष तो संन्यासी का वेष बनाए बिना ही इस संसिद्धि को प्राप्त है। इस मनोदशा का नाम 'योगारूढ', अर्थात् योग की संसिद्ध अवस्था है, जैसा तीसरे अध्याय का प्रमाण है। **यस्तु आत्मरतिरेव स्यात्।** जो पुरुष आत्मा में ही रमण करता है, उसे अपने कर्म से किसी फल का भय नहीं हो सकता।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! सिद्धि को प्राप्त पुरुष जैसे ब्रह्म की प्राप्तिरूप परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, उसका प्रकार संक्षेप में मुझ से सुन।।५०।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अनुवाद

जो विशुद्ध बुद्धि से सात्त्विक धारणा के द्वारा मन को वश में करके, इन्द्रियतृप्ति के विषयों को त्याग कर, राग-द्वेष से मुक्त हुआ एकान्तवास में अल्प-आहार करता हुआ देह, मन और वाणी का संयम करके सदा भगवच्चिन्तनरूप समाधि में निमग्न रहता है तथा मिथ्या अंहकार, मिथ्या बल, मिथ्या अभिमान, काम, क्रोध और प्राकृत वस्तुओं के संग्रह को त्याग कर निर्मम और शान्त हो जाता है, वह पुरुष निःसन्देह स्वरूप-साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त होता है।।५१-५३।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

अनुवाद

ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है। वह न शोक करता है और न इच्छा ही करता है; सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में

उसे मेंर शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।।५४।।

तात्पर्य

निर्विशेषवादियो के लिए ब्रह्मभूत अवस्था की प्राप्ति, अर्थात् ब्रह्म से एक हो जाना ही सब कुछ है। परन्तु सविशेषवादी शुद्धभक्त बनने के लिए इससे और आगे बढना होगा, तभी शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि जो शुद्ध भगवद्भक्तियोग से युक्त है, वह पुरुष पहले ही ब्रह्मभूत नामक मुक्तावस्था में स्थित है। ब्रह्मभूत हुए बिना भगवत्सेवा नहीं की जा सकती। ब्रह्म-धारणा मे सेवक और सेव्य मे भेद नहीं होता। परन्तु इससे ऊपर दिव्य स्तर पर भेद रहता है।

देहात्मबुद्धि के आधीन किया गया कर्म दुःख का कारण है। परन्तु अद्वय जगत् में, जहाँ जीव शुद्ध भक्तियोग के परायण रहता है, उसे कभी कोई दुःख नहीं होता। कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए शोक करने अथवा इच्छा करने का कोई कारण नहीं बन सकता। श्रीभगवान् आप्तकाम हैं, इसलिए उनकी सेवा में लगा कृष्णभावनाभावित जीव भी आप्तकाम हो गया है। वह ठीक उस कल्लोलिनी (नदी) जैसा है, जिसका सारा जल-प्रवाह परिष्कृत हो गया हो। नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण के अनन्य चिन्तन में लीन रहने से शुद्धभक्त स्वभावत निरन्तर प्रसन्न अवस्था में स्थिर रहता है। उसका रोम-रोम भगवत्सेवा से पूर्ण रहता है, इसलिए किसी भी प्राकृत लाभ-हानि मे वह दु ख-सुख नही मानता। उसमे प्राकृत विषयसुख की लेशमात्र इच्छा शेष नहीं रहती, क्योकि वह जानता है कि श्रीभगवान् का भिन्नांश होने के नाते जीवमात्र उनका नित्यदास है। उसे प्राकृत-जगत् मे कोई ऊँचा-नीचा नहीं दिखता। ये सब उच्च-निम्न स्थितियाँ वस्तुत· नश्वर हैं और भक्त का नश्वर वस्तुओं कं आने-जाने के कोई सम्बन्ध नही। उसके लिए पत्थर और स्वर्ण का समान मूल्य है। इसी का नाम ब्रह्मभूत अवस्था है, जो शुद्धभक्त को अतिशय सुगमता से प्राप्त हो जाती है। जीवन की उस अवस्था में परब्रह्म से एक होकर अपने जीव-स्वरूप को नष्ट करने का विचार नारकीय हो जाता है, स्वर्ग-प्राप्ति भयावह लगती है और इन्द्रियाँ खण्डित दाँत वाले सर्पों के समान निर्बल हो जाती हैं। जैसे खण्डित-दाँत वाले सर्प से कोई भय नहीं, वैसे ही इन्द्रियों के अपने-आप वश में हो जाने पर उनसे भय नही रहता। विषयी के लिए यह जगत् दु खमय है; परन्तु भक्त के लिए तो सारा जगत् बिल्कुल वैकुण्ठ जैसा है। भक्त के लिए इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च प्राणी तक चींटी से अधिक महत्त्व नहीं रखता। इस युग मे शुद्ध भक्तियोग का दान करने के लिए अवतीर्ण हुए श्री श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की कृपा-किरण से यह अवस्था प्राप्त हो सकती है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

अनुवाद

भक्तियोग के द्वारा ही मुझ पुरुषोत्तम का स्वरूप तत्त्व से जाना जा सकता है। इस प्रकार भक्तियोग द्वारा मुझे पूर्णरूप से जानने वाला तुरन्त वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश कर जाता है।।५५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् और उनके अंशों को मनोधर्मी अथवा अभक्त नहीं जान सकते। यदि कोई श्रीभगवान् के तत्त्व को जानने का अभिलाषी हो, तो उसे शुद्धभक्त के आश्रय में शुद्ध भक्तियोग के परायण होना होगा। अन्यथा भगवत्-तत्त्व सदा अगोचर ही रहेगा। पूर्व में कहा जा चुका है—**नाहं प्रकाशः** अर्थात् श्रीभगवान् सब के आगे प्रकट नहीं होते। केवल प्रकाण्ड पाण्डित्य अथवा मनोधर्मी के द्वारा उन्हें कोई नहीं जान सकता। जो यथार्थ में कृष्णभावना और भक्तियोग के परायण है, वही श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान सकता है। इस विषय में विश्वविद्यालय की उपाधियाँ निरर्थक हैं।

श्रीकृष्णतत्त्व का पूर्ण मर्मज्ञ श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मभूत होने का अर्थ यह नहीं कि जीव का अपना स्वरूप नष्ट हो जाता है। यहाँ ब्रह्मभूत पुरुष को भक्तियोग के परायण बतलाया है; अतः इस अवस्था में भी भगवान्, भक्त और भक्ति का अपना-अपना अस्तित्व रहता है। यह ज्ञान मुक्ति के बाद भी कभी निरस्त नहीं होता। मुक्ति का अर्थ देहात्मबुद्धि से मुक्त होना है। मुक्तावस्था में भी वही भेद रहता है, जीव का वही अपना स्वरूप रहता है। अन्तर केवल इतना है कि मुक्त जीव पूर्णरूप से शुद्ध कृष्णभावना से भावित हो जाता है। भ्रम से यह नहीं समझना चाहिए कि **विशते** (मुझ में प्रवेश करता है) शब्द अद्वैतवादियों के उस मत का समर्थक है, जिसके अनुसार मुक्त जीव का निर्विशेष ब्रह्म से अभेद हो जाता है। वास्तव में ऐसा नहीं है। **विशते** का अर्थ श्रीभगवान् का संग और सेवन करने के लिए जीव का अपने स्वरूप से भगवद्धाम में प्रवेश करना है। उदाहरणार्थ, एक हरा पक्षी एक हरे वृक्ष में फल खाने के लिए ही प्रवेश करता है, वृक्ष से एक हो जाने के लिए नहीं। निर्विशेषवादी प्रायः बहती नदी के सागर में लीन हो जाने का उदाहरण देते हैं। निर्विशेषवादी के लिए यह आनन्द का विषय हो सकता है, परन्तु सविशेषवादी भक्त तो सागर में विचरने वाले जलचर के समान अपना निजी स्वरूप बनाए रखते हैं। सागर के अन्तराल में कितने ही जलचर हैं। इसलिए केवल

सागर के ऊपरी भाग से परिचित होना पर्याप्त नहीं; उसके अन्तर में रहने वाले जलचरों का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

शुद्ध भक्तियोग के प्रभाव से भक्त श्रीभगवान् के दिव्य गुणो और विभूतियो के तत्त्व को जान सकता है। जैसा ग्यारहवें अध्याय में कहा है, केवल भक्तियोग से श्रीभगवान् को जाना जा सकता है, उसी सत्य की यहाँ पुष्टि है। भक्तियोग के द्वारा श्रीभगवान् को जानकर उनके धाम में प्रवेश किया जा सकता है।

देहात्मबुद्धि से मुक्त ब्रह्मभूत अवस्था की प्राप्ति हो जाने पर, श्रवण आदि साधनों के रूप मे भगवद्भक्तियोग का प्रारम्भ होता है। भगवत्कथा के श्रवण से ब्रह्मभूत अवस्था अपने-आप विकसित हो उठती है तथा लोभ और इन्द्रियतृप्ति की कामनारूपी प्राकृत दोष दूर हो जाते है। जैसे-जैसे काम और लोभ से भक्त का हृदय शुद्ध होता है, वैसे-वैसे वह भगवत्सेवा में अधिक-अधिक आसक्त होता जाता है। शनै. शनै इस आसक्ति के प्रभाव से पूर्णरूप मे दोषमुक्त हो जाता है। उस अवस्था में श्रीभगवान् को तत्त्व से जाना जा सकता है। श्रीमद्भागवत से यह प्रमाणित है। मुक्तावस्था में भी भक्तियोग निर्बाध बना रहता है। वेदान्तसूत्र में प्रमाण है: **आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्।** तात्पर्य यह है कि मुक्ति के बाद भी भक्ति योग चलता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार सच्ची मुक्ति वह भक्तिमयी अवस्था है, जिसमें जीव अपने नित्य स्वरूप को फिर प्राप्त हो जाय। जीवस्वरूप का वर्णन पूर्व में हुआ है—वह श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतः सेवा करना उसकी स्वरूप-स्थिति है। मुक्ति हो जाने पर भी यह सेवा कभी नहीं रुकती। यथार्थ मुक्ति तो अविद्या से छूट जाना है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

अनुवाद

मेरा आश्रित निष्काम भक्त तो सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम धाम को प्राप्त हो जाता है।।५६।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

अनुवाद

चित्त से सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके मेरे परायण और भक्तियोग के

आश्रित हुआ निरन्तर मेरा स्मरण करने वाला हो।।५७।।

तात्पर्य

जो कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह अपने को ससार का स्वामी नहीं समझता। भक्तियोग के लिए आवश्यक है कि सेवक के समान पूर्ण रूप से श्रीभगवान् की आज्ञा के आधीन हुआ कर्म करे। सेवक को कोई निजी स्वतन्त्रता नही होती, वह केवल स्वामी की आज्ञा का पालन कर सकता है। सबके स्वामी श्रीभगवान् के लिए कार्यशील सेवक को लाभ-हानि से कोई सरोकार नही, वह तो बस उनकी आज्ञा के अनुसार अपना कर्तव्य-पालन करता है। इस पर यह तर्क उठ सकता है कि अर्जुन तो साक्षात् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन मे कर्म कर रहा है, दूसरा उनकी अनुपस्थिति मे कर्म कैसे करे ? यदि कोई श्रीकृष्ण के इस गीतोपदेश और श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि के आज्ञानुसार कर्म करे, तो उसे अर्जुन के समान ही फल की प्राप्ति होगी। इस श्लोक मे **मत्पर** शब्द का गूढ़ार्थ है। इससे यह सकेत है कि कृष्णभावनाभावित कर्म मे श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के अतिरिक्त जीवन का कोई अन्य लक्ष्य नही हो सकता। इस विधि से कर्म करते हुए श्रीकृष्ण के इस चिन्तन मे सदा विभोर रहना चाहिए कि ''मै यह कर्म श्रीकृष्ण के लिए कर रहा हूँ, उन्होंने ही मुझे इसमे नियुक्त किया है।'' इस प्रकार कर्म करते हुए स्वाभाविक रूप से निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण बना रहता है। यही पूर्ण कृष्णभावना है। परन्तु यह जान लेना चाहिए कि स्वेच्छाचार करके फिर उसका फल श्रीभगवान् को अर्पण नही करना चाहिए। ऐसा कर्म कृष्णभावनाभावित भक्तियोग नहीं है। श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार ही कर्म करना चाहिए, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण का वह आदेश परम्परा के द्वारा प्रामाणिक सद्गुरु से मिलता है। अत गुरु-आज्ञा को जीवन का परम कर्तव्य बना लेना चाहिए। यदि किसी भाग्यवान् को सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय और वह उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करे, तो उसके लिए कृष्णभावनारूप जीवन की परम सिद्धि निश्चित है।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।।५८।।

अनुवाद

मेरे स्मरण से भावित होकर तू मेरी कृपा से सब बाधाओ को तर जायगा और यदि अहंकारवश मेरी वाणी को नही सुनेगा, अर्थात् इस भावना से कर्म नहीं करेगा, तो नष्ट हो जायगा।।५८।।

तात्पर्य

पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष अपने जीवन के कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अनावश्यक आतुरता नहीं दिखाता। जो मूर्ख है, वे इस सब उद्वेगों से रहित अवस्था का मूल्य नहीं समझ सकते। जो कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, भगवान् उसके परम अंतरग सखा बन जाते हैं। अपने सखा के सुख की उन्हें सदा चिन्ता लगी रहती है। यही नहीं, जो नित्य-निरन्तर दिन मे चौबीस घण्टे भगवत्-प्रीति के लिए कर्म के परायण रहता है, उस भक्तरूप सखा के लिए तो वे आत्मदान तक कर बैठते हैं। अत कोई भी देह को आत्मस्वरूप समझने से उत्पन्न मिथ्या अहकार के वशीभूत न हो। अपने को मिथ्या रूप में प्रकृति के नियमो से स्वतन्त्र, अर्थात् स्वेच्छाचार करने मे समर्थ नहीं समझना चाहिए। बद्धजीव वास्तव मे पूर्णरूप से प्रकृति के नियमो के आधीन है, परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण होते ही वह मुक्त हो जाता है, सासारिक उपद्रवो से छूट जाता है। यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जो कृष्णभावना मे क्रियाशील नहीं है, वह जन्म-मृत्युरूप सागर के भँवर में अपने को खो रहा है। कोई बद्धजीव नही जानता कि वस्तुतः क्या करना है और क्या नही करना है। एकमात्र कृष्णभावनाभावित पुरुष ही कर्म करने को स्वतन्त्र है, क्योंकि वह जो कुछ करता है, वह सब अन्तर्यामी श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित है और गुरुदेव द्वारा प्रमाणित है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

अनुवाद

तू जो अहकारवश समझता है कि मेरी आज्ञा की अवहेलना करके युद्ध नही करेगा, तो यह जान ले कि तेरा यह निश्चय मिथ्या है, स्वभाव तुझे बलपूर्वक युद्ध मे लगा देगा।।५९।।

तात्पर्य

अर्जुन एक वीरपुरुष और जन्मजात क्षत्रिय-स्वभाव वाला था। अत युद्ध करना उसका स्वाभाविक कर्म हुआ। परन्तु मिथ्या अहकारवश उसे इस विचार से भय हो रहा था कि आचार्य, पितामह आदि गुरुजनों और बन्धुओ की हत्या से पाप होगा। वास्तव मे वह स्वय को अपने कर्मों का स्वामी समझ रहा था, मानो वही कर्म के शुभ-अशुभ फल का विधान करता हो। वह भूल गया कि वहाँ विराजमान श्रीभगवान् स्वय उसे युद्ध करने की आज्ञा दे रहे है। यही जीव की विस्मृति है। श्रीभगवान् निर्देश करते रहते है कि क्या अच्छा है, क्या बुरा है। इसके अनुसार मनुष्य को तो बस

कृष्णभावनाभावित कर्म करते हुए जीवन की कृतार्थता को प्राप्त करना है। जीव के भाग्य को जैसा श्रीभगवान् जानते हैं, वैसा वह स्वयं नहीं जानता। अतएव श्रीभगवान् से निर्देश ग्रहण करके उसके अनुसार कर्म करना सर्वोत्तम मार्ग है। श्रीभगवान् अथवा उनके प्रतिनिधि—सद्गुरु की आज्ञा की अवहेलना कभी न करे। भगवान् की आज्ञा के अनुसरण में निःसंकोच भाव से निरन्तर तत्पर रहना चाहिए। ऐसा करने वाला सम्पूर्ण परिस्थितियों में सुरक्षित रहेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

अनुवाद

हे अर्जुन! मोहवश तू मेरी आज्ञा के अनुसार जिस कर्म को नहीं करना चाहता, उसी को अपने स्वभाव के वश में होकर करेगा।।६०।।

तात्पर्य

जो श्रीभगवान् के निर्देश की अवहेलना करता है, अर्थात् उसके अनुसार कर्म नहीं करता, वह अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार कर्म करने को बाध्य हो जाता है। मनुष्य गुणों के जिस भी मिश्रण में स्थित है, उसी के अनुरूप कर्म करता है। परन्तु जो स्वेच्छा से श्रीभगवान् की आज्ञा के परायण हो जाता है, वह शाश्वत् रूप में गौरवान्वित होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

अनुवाद

हे अर्जुन। परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय में बैठा है। वही देहरूपी यन्त्र में आरूढ़ सब जीवों को अपनी मायाशक्ति से घुमा रहा है।।६१।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

अनुवाद

हे अर्जुन! सब प्रकार से उसी परमेश्वर की शरण में जा। उसकी कृपा से तू परम शान्ति और सनातन परम धाम को प्राप्त हो जायगा।।६२।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

अनुवाद

इस प्रकार यह परम गोपनीय ज्ञान मैने तेरे लिए कहा है। अब इस गीताशास्त्र पर पूर्णरूप से विचार करके फिर जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।।६३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अर्जुन को ब्रह्मभूत-ज्ञान का वर्णन सुना चुके है। ब्रह्मभूत पुरुष प्रसन्नावस्था मे रहता है; न कभी शोक करता है और न कभी कोई इच्छा ही करता है। यह गोपनीय ज्ञान का परिणाम है। श्रीकृष्ण ने परमात्मा का ज्ञान भी सुनाया है। परमात्मा के ज्ञान में ब्रह्मज्ञान का भी समावेश रहता है, अत यह केवल ब्रह्मज्ञान से उत्तम है।

अब श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि उसकी जैसी इच्छा हो, वही करे। जीव को जो अणुमात्र स्वतन्त्रता है, श्रीभगवान् उसमे हस्तक्षेप नहीं करते। भगवद्गीता मे उन्होने स्वय उस पद्धति का पूर्ण निरूपण किया है, जिससे जीव की जीवन-अवस्था का उत्थान हो सकता है। अर्जुन को सर्वोत्तम परामर्श यही है कि अपने अन्तर्यामी परमात्मा के शरणागत हो जाय। जीव को सच्चे विवेक से परमात्मा की आज्ञा के अनुसार कर्म करने को तत्पर हो जाना चाहिए। यह नित्य-निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहने मे बडा सहायक होगा, जो मानवजीवन की चरमसिद्धि है। अर्जुन को तो साक्षात् श्रीभगवान् युद्ध करने का आदेश दे रहे है। श्रीभगवान् की शरण मे जाना जीव का अपना परम स्वार्थ है, इसमे परमेश्वर का कोई स्वार्थ नहीं है। शरणागति से पूर्व, अपनी बुद्धि की पहुँच तक इस विषय पर विचार-विमर्श करने का जीव को अधिकार है। देखा जाए तो श्रीभगवान् के उपदेश को ग्रहण करने की सर्वोत्तम विधि यही है। इसी प्रकार की आज्ञा श्रीकृष्ण के बाह्य प्रकाश—गुरुदेव के माध्यम से प्राप्त होती है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अनुवाद

सब गोपनियों में भी गोपनीय मेरे परम सार वचन को फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इसलिए तेरे हित के लिए कहता हूँ।।६४।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अनुवाद

नित्य-निरन्तर मुझ में मन वाला हो और मेरा भक्त हो; मेरा पूजन कर और मुझे ही प्रणाम कर। इस प्रकार तू मुझ को ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझ से सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय सखा है।।६५।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण ज्ञान का परम गोपनीय सार बस यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्धभक्त बन कर नित्य-निरन्तर उनके नाम, रूप, लीला, धाम के चिन्तन में तन्मय रहे और उन्हीं की प्रीति के लिए कर्म के परायण हो। कपटध्यानी बनने से कुछ लाभ नहीं होगा। जीवन को इस प्रकार ढाल लेना चाहिए कि नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण होता रहे। यही नहीं, कर्म सदा उस विधि से करना चाहिए कि सारी दैनन्दिन क्रियाएँ श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हो। जीवन मे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि दिन मे चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कुछ चिन्तन सभव ही न रहे। श्रीभगवान् की प्रतिज्ञा है इस प्रकार का शुद्ध कृष्णभावनापरायण पुरुष नि सन्देह उन (श्रीकृष्ण) के धाम को फिर प्राप्त हो जायगा, जहाँ उसे साक्षात् श्रीकृष्ण का शाश्वत् सग रहेगा। अर्जुन के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को इसीलिए कहा गया कि वह श्रीकृष्ण का अतिशय प्रिय सखा है। जो कोई अर्जुन के चरणचिन्हो का अनुसरण करेगा, वह श्रीकृष्ण का प्रिय सखा बनकर अर्जुन के ही समान कृतार्थ हो जायगा।

मन्मनाः भव—श्रीकृष्ण के उसी श्यामसुन्दररूप में मन को बसाए रखना चाहिए, जो द्विभुज वेणुधारी, सान्द्राग घनश्याम, सुस्निग्धकुञ्चित कुन्तल, सुन्दर भ्रूवल्लि, मधुरकृपाकटाक्ष, अमृतवर्षिवदनचन्द्र तथा केशराजि में मयूरपिच्छधारी है। श्रीकृष्ण के रूप का यह हृदयहारी वर्णन ब्रह्मसहिता आदि शास्त्रों मे है। भगवान् श्रीकृष्ण के इस आदिरूप मे ही मन को एकाग्र कर दे, उनके अन्य रूपों में भी ध्यान को नहीं भटकाना चाहिए। श्रीभगवान् के विष्णु, राम, नारायण, वराह आदि नाना रूप हैं; परन्तु भक्त को अपना चित्त उसी रूप में निवेशित करना चाहिए, जो अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष है। श्रीकृष्ण में मन का तन्मय हो जाना ज्ञान का परम गोपनीय सार है। यह अर्जुन के प्रति प्रकट किया गया, क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण का परम प्रेमास्पद सखा है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

अनुवाद

सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मै तेरा

सम्पूर्ण पापों से उद्धार कर दूँगा, तू शोक मत कर।।६६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने नाना प्रकार के ज्ञान का, धर्म-पद्धतियों का, परब्रह्म के ज्ञान का, परमात्मा के ज्ञान का, विविध वर्ण और आश्रमों का, संन्यास का, वैराग्य (अनासक्ति), शम, दम, ध्यान आदि के तत्त्व का वर्णन किया है। अब, गीताशास्त्र का उपसहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन पूर्ववर्णित सम्पूर्ण पद्धतियों को त्याग कर अनन्य भाव से उन (श्रीकृष्ण) के ही शरणागत हो जाय। इस शरणागति से वह सब पापों से बच जायगा, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं उसकी रक्षा करने का वचन देते हैं।

सातवें अध्याय में उल्लेख है कि भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना में वही लग सकता है, जो सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो गया हो। इससे जीव को यह ग्लानि हो सकती है कि जब तक वह सब पापों से छूट नहीं जाता, जब तक शरणागति के पथ को अंगीकार नहीं कर सकता। ऐसे सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि यदि कोई पापों से न छूटा हो, तो भी केवल श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाने से उसका अपने-आप मोचन हो जायगा। ऐसे में पाप-निवृत्ति के लिए अलग से कोई कठोर उद्यम नहीं करना पड़ेगा। श्रीकृष्ण को निस्संकोच सम्पूर्ण जीवों का परम शरणदाता मान कर श्रद्धा और प्रेमभाव से उनके शरणागत हो जाना चाहिये।

भक्तियोग की पद्धति के अनुसार, उसी विधि-नियम को मानना चाहिए, जो भक्तियोग की प्राप्ति में सहायक हो। वर्ण-आश्रम मे अपनी स्थिति के अनुसार स्वधर्म-पालन किया जा सकता है; परन्तु यदि कोई इस प्रकार के कर्तव्य-पालन से कृष्णभावनारूपी लक्ष्य तक नहीं पहुँचे, तो उसके सम्पूर्ण कर्म व्यर्थ हैं। जो कर्म कृष्णभावनारूपी परमसिद्धि के मार्ग में अग्रसर नहीं करता, उससे बचना चाहिए। यह दृढ़ विश्वास रखे कि श्रीकृष्ण सब परिस्थितियों में उसकी सब प्रकार से रक्षा करेंगे। प्राण-धारण के लिए चिन्ता करना अनावश्यक है। इसकी चिन्ता श्रीकृष्ण करेंगे। अपने को सदा दीन-हीन अनुभव करता हुआ श्रीकृष्ण को ही जीवन में उन्नति का अनन्य अवलम्ब समझे। कृष्णभावनाभावित होकर निश्छल भाव से भक्तियोग के परायण होते ही माया के सम्पूर्ण दोषों से मुक्ति हो जाती है। ज्ञान, ध्यानयोग आदि धर्म और शुद्धिकरण की अनेक पद्धतियाँ हैं, परन्तु श्रीकृष्ण के शरणागत को इन साधनो का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। श्रीकृष्ण के चरणों में अनन्य शरणागति ही पर्याप्त है, अन्य साधनों में समय व्यय करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार एक शरणागति के द्वारा तत्काल पूर्ण उन्नति करके सम्पूर्ण पापों से मुक्त हुआ जा सकता है।

श्रीकृष्ण की मधुर छवि पर मुग्ध हो जाय। उनका नाम कृष्ण है, क्योंकि वे सर्वाकर्षक हैं। जो श्रीकृष्ण के मधुर सर्वशक्तिसम्पन्न रूप की ओर आकृष्ट हो जाता है, वह भाग्यवान् है। निर्विशेषब्रह्मवादी, परमात्मावादी आदि योगियों की अनेक कोटियाँ हैं। परन्तु जो श्रीभगवान् के साकार रूप, विशेषतः साक्षात् श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट होता है, वही परम योगी है। भाव यह है कि पूर्ण कृष्णभावनाभावित भक्तियोग परम गोपनीय ज्ञान और सम्पूर्ण भगवद्गीता का सार-सर्वस्व है। कर्मयोगी, ज्ञानी, ध्यानी और भक्त—सभी योगी कहलाते हैं। परन्तु इस सबमें शुद्धभक्त सर्वोत्तम है। मा शुचः पद का विशिष्ट गूढार्थ है। श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वासन दे रहे हैं, ''हे अर्जुन! तु शोक मत कर,' चिन्ता मत कर, भय मत कर।'' चिन्ता हो सकती है कि सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर अनन्यभाव से श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना कैसे सम्भव है, परन्तु ऐसी चिन्ता वास्तव में निरर्थक है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

अनुवाद

इस परम गोपनीय ज्ञान को न तो कभी तपरहित (अजितेन्द्रिय) पुरुष को सुनाना चाहिए और न अभक्त, सुनने की इच्छा से रहित अथवा भक्तियोग में न लगे हुए मनुष्य से ही कहना चाहिए एवं जो मुझ से द्वेष करता हो, उसे भी नहीं सुनाना चाहिए।।६७।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

अनुवाद

जो इस गीतारूपी परम रहस्य को भक्तों में कहेगा, उसके लिए भक्तियोग की प्राप्ति निश्चित है और अन्त मे वह मेरे पास लौट आयगा।।६८।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

अनुवाद

उससे अधिक मेरा प्रिय सेवक न तो इस संसार में कोई है और न ही कभी उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा।।६९।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

अनुवाद

और मेरी घोषणा है कि जो कोई हमारे इस पावन सवादरूप गीताशास्त्र का पाठ करेगा, उसके द्वारा मै ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा।।७०।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

अनुवाद

जो कोई द्वेषरहित पुरुष श्रद्धाभाव के साथ इस गीताशास्त्र का श्रवण करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर पुण्यात्माओ के लोको को प्राप्त होगा।।७१।।

तात्पर्य

सड़सठवें श्लोक में श्रीभगवान् ने स्पष्ट कहा है कि जो उनसे द्वेष करते हैं उन्हें गीता न सुनाये। भाव यह है कि भगवद्गीता केवल भक्तों के लिए है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भगवद्भक्त इस का जनसाधारण मे पाठ करते है। ऐसे वर्ग में सब भक्त नही होते। भक्त के इस कार्य का औचित्य दिखाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि सुनने वाले सब मनुष्य भक्त नही होते, यह सत्य है, परन्तु उनमे से बहुत से ऐसे है, जो श्रीकृष्ण से द्वेष नही करते। वे श्रद्धावान् है, उन्हे भगवान् मानते हैं। यदि इस कोटि के पुरुष सच्चे भक्त के मुखारविन्द से भगवत्कथामृत का श्रवण करें, तो परिणाम मे तत्काल सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो कर पुण्यवानो के लोको को प्राप्त हो सकते है। अतएव जो शुद्धभक्त बनने के लिए प्रयत्न तक नही करता, भगवद्गीता के श्रवणमात्र से वह मनुष्य भी पुण्यकर्मो के फल को प्राप्त हो जाता है। अतः शुद्धभगवद्भक्त गीतामृत प्रदान कर प्राणीमात्र को सम्पूर्ण पाप-बन्धनों से छूटकर भगवद्भक्त बनने का अवसर देता है।

पापमुक्त पुरुष सामान्यतः पुण्यकर्मों के परायण रहते है। इसलिए वे कृष्णभावना को बड़े सहज रूप में अंगीकार कर लेते हैं। **पुण्यकर्मणाम्** शब्द यज्ञ करने वाले मनुष्यो का भी वाचक है। जो पुण्यात्मा पुरुष भक्तियोग का आचरण करते है, परन्तु शुद्ध नहीं हैं, वे ध्रुव आदि लोकों को प्राप्त कर सकते है। ध्रुव महाराज भगवान् के महान् भक्त हुए हैं, इसलिए उनका अपना ध्रुवलोक है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चतेसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! क्या तूने यह शास्त्र एकाग्रचित्त से सुना और क्या इससे तेरा अज्ञान और मोह नष्ट हो गया ?।।७२।।

अर्जुन उवाच।
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण ! हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति फिर प्राप्त हो गयी है। इसलिए अब मैं संशय से मुक्त होकर दृढ़ता से स्थित हूँ, अब आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।।७३।।

सञ्जय उवाच।
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

अनुवाद

संजय ने कहा, इस प्रकार मैंने दोनों महात्माओं, श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस परम अद्भुत और रोमांचकारी संवाद को सुना।।७४।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

अनुवाद

श्रीव्यासदेव की कृपा से मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन से स्वयं कहते हुए साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण से सुना है।।७५।।

तात्पर्य

व्यासदेव संजय के गुरु थे। संजय स्वीकार करता है कि उनकी कृपा से ही वह श्रीभगवान् को तत्त्व से जान सका। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण को अपने-आप जानने के लिए प्रयत्न करने के स्थान पर गुरु के माध्यम से जानना चाहिए। यद्यपि अनुभव साक्षात् होता है, परन्तु गुरुरूपी पारदर्शी माध्यम का पथ अधिक उत्तम है। यही

शिष्य-परम्परा का रहस्य है। यदि गुरु प्रामाणिक हों, तो उनके मुखारविन्द से गीतामृत का श्रवण करना अर्जुन के समान साक्षात् श्रीकृष्ण से सुनना है। जगत् योगियों और ध्यानियों से परिपूर्ण है, परन्तु श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण योगों के ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में जीव को अपने शरणागत हो जाने का स्पष्ट आदेश दिया है। ऐसा करने वाला परमोच्च योगी है। छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में प्रमाण है, **योगिनामपि सर्वेषाम्।**

नारदजी साक्षात् श्रीकृष्ण के शिष्य और व्यासदेव के गुरु हैं। अतः परम्परा मे होने के कारण व्यासदेव भी अर्जुन के समान प्रामाणिक हैं। संजय इन्हीं का शिष्य है। व्यासदेव की कृपा से उसकी इन्द्रियाँ शुद्ध हो गयीं, जिससे वह साक्षात् श्रीकृष्ण को सुन-देख सका। जो साक्षात् श्रीकृष्ण को सुनता है, वह इस रहस्यमय ज्ञान को जान सकता है। शिष्यपरम्परा का आश्रय-ग्रहण किए बिना श्रीकृष्ण को कोई नहीं सुन सकता अत. उसका ज्ञान, कम से कम जहाँ तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, सदा अपूर्ण रहता है।

भगवद्गीता मे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, आदि सब योग-पद्धतियों का वर्णन है। श्रीकृष्ण इन सब योगो के परम ईश्वर है। स्मरण रहे कि जैसे अर्जुन को साक्षात् श्रीकृष्ण से उनका तत्त्व जानने का सौभाग्य मिला, वैसे सजय भी गुरु व्यासदेव की कृपा से श्रीकृष्ण के वचनामृत का साक्षात् पान कर सका। वास्तव में व्यास जैस प्रामाणिक गुरु के माध्यम से सुनना साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से सुनना है। अत गुरु को व्यासदेव का प्रतिनिधि माना जाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार गुरुदेव के आविर्भाव-दिवस पर शिष्यगण उनके सम्मान में व्यास-पूजा महोत्सव का आयोजन करते हैं।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।

अनुवाद

हे राजन! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस परम अद्भुत और पावन सवाद को बारम्बार स्मरण करके मैं प्रतिक्षण हर्षित और रोमांचित हुआ जाता हूँ।।७६।।

तात्पर्य

भगवद्गीता का ज्ञान इतना दिव्य है कि जो कोई अर्जुन और श्रीकृष्ण के सवाद को भलीभाँति हृदय में धारण करता है, वह सत्परायण हो जाता है और इस सवाद की स्मृति को हृदय से क्षणभर के लिए भी नहीं निकाल सकता। उसे शुद्ध सत्त्वमयी दिव्य

अवस्था प्राप्त हो जाती है। भाव यह है कि जो यथार्थ स्रोत से, अर्थात् साक्षात् श्रीकृष्ण से गीता का श्रवण करता है, वह पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाता है। उसका अन्तस्तल दिव्य आलोक में जगमगा उठता है। ऐसा पुरुष जीवन के पल-पल में आनन्द-विभोर रहता है।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

अनुवाद

और हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के उस परम अद्भुत रूप को भी बारबार स्मरण करके मुझे महान् आश्चर्य होता है और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो रहा हूँ।।७७।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

अनुवाद

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण है और जहाँ धनुषधारी अर्जुन है वहीं शाश्वत राजलक्ष्मी, समस्त ऐश्वर्य, विजय, विलक्षण शक्ति और नीति है, ऐसा मेरा मत है।।७८।।

तात्पर्य

भगवद्गीता का उपक्रम धृतराष्ट्र की जिज्ञासा से हुआ था। उसे आशा थी कि उसके पुत्र युद्ध में विजयी होंगे, क्योंकि उन्हें भीष्म, द्रोण, कर्ण, आदि महारथियों का सहयोग प्राप्त था। अतः विजय स्वपक्ष की ही होगी, ऐसा उसका विश्वास था। किन्तु उसके लिए युद्धभूमि का चित्राकन करके सजय ने कहा, "हे राजन! तुम अपनी विजय की सोच रहे हो, परन्तु मेरे मत मे तो जहाँ श्रीकृष्ण-अर्जुन हैं, वहीं सम्पूर्ण श्री है।" उसने स्पष्ट कहा कि धृतराष्ट्र स्वपक्ष की विजय की आशा को त्याग दे। अर्जुन के पक्ष की विजय निश्चित थी, क्योंकि वहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित थे। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन का सारथ्य करना भी एक ऐश्वर्य का ही प्रकाश था। भगवान् श्रीकृष्ण सर्व ऐश्वर्यमय हैं, जिनमें से एक वैराग्य भी है। श्रीकृष्ण तो वास्तव में वैराग्य के अधीश्वर ही हैं, अतः उनकी लीला में वैराग्य का बहुधा प्रकाश हुआ है।

युद्ध वास्तव मे दुर्योधन और युधिष्ठिर के बीच था। अर्जुन तो केवल अपने अग्रज युधिष्ठिर की ओर से लड रहा था। श्रीकृष्ण-अर्जुन उसके पक्ष में थे, इसलिए युधिष्ठिर की विजय निश्चित थी। युद्ध से जगत् के सार्वभौम सम्राट का निर्णय होने वाला था। संजय ने भविष्यवाणी की कि सत्ता युधिष्ठिर के हाथ में चली जायगी।

उसने यह भी कहा कि विजयी युधिष्ठिर उत्तरोत्तर राजलक्ष्मी की वृद्धि को प्राप्त होंगे क्योंकि वे धर्मपरायण और पुण्यात्मा ही नही थे, वरन् दृढ़ सदाचारी भी थे। उन्होंने आजीवन कभी असत्य भाषण नही किया।

अनेक अल्पज्ञ मनुष्य समझते हैं कि भगवद्गीता तो बस युद्धभूमि में दो मित्रों के बीच का संवादमात्र है। वे नही जानते कि ऐसी साधारण पुस्तक शास्त्र के रूप में समादृत नहीं हो सकती। कुछ मूर्ख तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस करते है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध जैसे अनैतिक कार्य के लिए उत्तेजित किया। यहाँ वस्तु-स्थिति को स्पष्ट किया गया है — भगवद्गीता नीति का परमोच्च उपदेश है। नौवें अध्याय में नीति का परमोच्च उपदेश यह है, **मन्मना भव मद्भक्तः।** श्रीकृष्ण का भक्त बन जाना, श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना सम्पूर्ण धर्म का परम सार है। स्वयं श्रीभगवान् का अतिम आदेश है, **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।** भगवद्गीता का उपदेश परम धर्म और परम नीति का पथ है। अन्य मार्ग शुद्धिकारी और अन्त में इस पथ की ओर ले जाने वाले हो सकते हैं; परन्तु 'भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाय', भगवद्गीता का यह अन्तिम आदेश सम्पूर्ण धर्म और नीति की अवधि है। यह अट्ठारहवें अध्याय कर निर्णय है।

भगवद्गीता से बोध होता है कि दार्शनिक मनोधर्मी और ध्यान आदि आत्मानुभूति के पथ अवश्य हैं, परन्तु परम ससिद्धि तो पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाने में ही है। वस्तुत. यही भगवद्गीता के उपदेश का सार-सर्वस्व है। वर्ण और आश्रम तथा नाना धर्म-पथों के अनुसार संपादित होने वाले विधि-विधान के मार्ग को इस दृष्टि से गोपनीय ज्ञान का मार्ग कहा जा सकता है कि कर्मकाण्ड रहस्यमय हैं, अर्थात् जन-साधारण को इन की पूर्ण जानकारी नहीं है। परन्तु इन सब में कर्म, ध्यान और ज्ञान की उपाधियाँ रहती हैं। पूर्ण कृष्णभावनाभावित भक्तियोग के परायण होकर श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना ही वास्तव में परम गोपनीय उपदेश है और यही अट्ठारहवें अध्याय का मर्म है।

भगवद्गीता का एक अन्यतम वैशिष्ट्य है—पद-पद पर घोषित किया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही यथार्थ तत्त्व हैं।परमसत्यकी अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म, एकदेशीय परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण, इन तीन रूपों में होती है। परन्तु परमसत्य के पूर्ण ज्ञान का अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान। जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, क्योंकि ज्ञान के सब विभाग श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान के ही अंश हैं। श्रीकृष्ण प्रकृति से परे, नित्य अपनी अतरगा शक्ति मे स्थित हैं। जीवात्मा नित्यबद्ध और नित्यमुक्त, इन दो श्रेणियों में प्रकट हैं। जीवात्मा असंख्य हैं और उन्हें श्रीभगवान्

का भिन्न-अश माना जाता है। अपरा प्रकृति चौबीस तत्त्वों के रूप मे प्रकट है। सनातन काल के द्वारा सृष्टि होती है और सृजन-प्रलय बहिरगा शक्ति (अपरा प्रकृति) का कार्य है। इसी कारण यह प्राकृत सृष्टि पुन.-पुन प्रकट-अप्रकट होती रहती है।

भगवद्गीता मे श्रीभगवान्, अपरा प्रकृति, जीवात्मा, सनातन काल औ कर्म—इन पॉच प्रधान तत्त्वो का निरूपण है। इनमे से अन्य चारो तत्त्व भगवान श्रीकृष्ण के आधीन है। भगवान् के ज्ञान मे निर्विशेष ब्रह्म, एकदेशीय परमात्मा आदि परमसत्य की सभी धारणाओं का समावेश है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से भगवान् , प्रकृति, जीव और काल भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है, वास्तव मे कुछ भी परमसत्य मे भिन्न नही है। परन्तु साथ मे, परमसत्य अन्य सब से सदा भिन्न है। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहलाता है। यह दर्शन ही परमसत्य का पूर्ण ज्ञान है।

जीवात्मा अपने आदिस्वरूप मे शुद्ध आत्मतत्त्व है। वह तत्त्वत परमात्मा-स्वरूप श्रीभगवान् का अणु-अश है। परन्तु इस को श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है, क्योंकि उसमे परा और अपरा, दोनो ही शक्तियो के सग मे आने की प्रवृत्ति रहती है। भाव यह है कि जीवात्मा श्रीभगवान् की दोनो शक्तियो के मध्य मे स्थित है। परा शक्ति का अश होने के कारण उसे अणुमात्र स्वतन्त्रता भी है। उस स्वतन्त्रता के सदुपयोग से वह साक्षात् श्रीकृष्ण के आदेश मे आ जाता है। इस प्रकार उसे ह्लादिनी शक्ति मे अपनी स्वरूपभूत स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।।१८।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये अष्टादशोऽध्यायः ।।